अमर शहीद
डॉ० श्यामाप्रसाद मुकर्जी

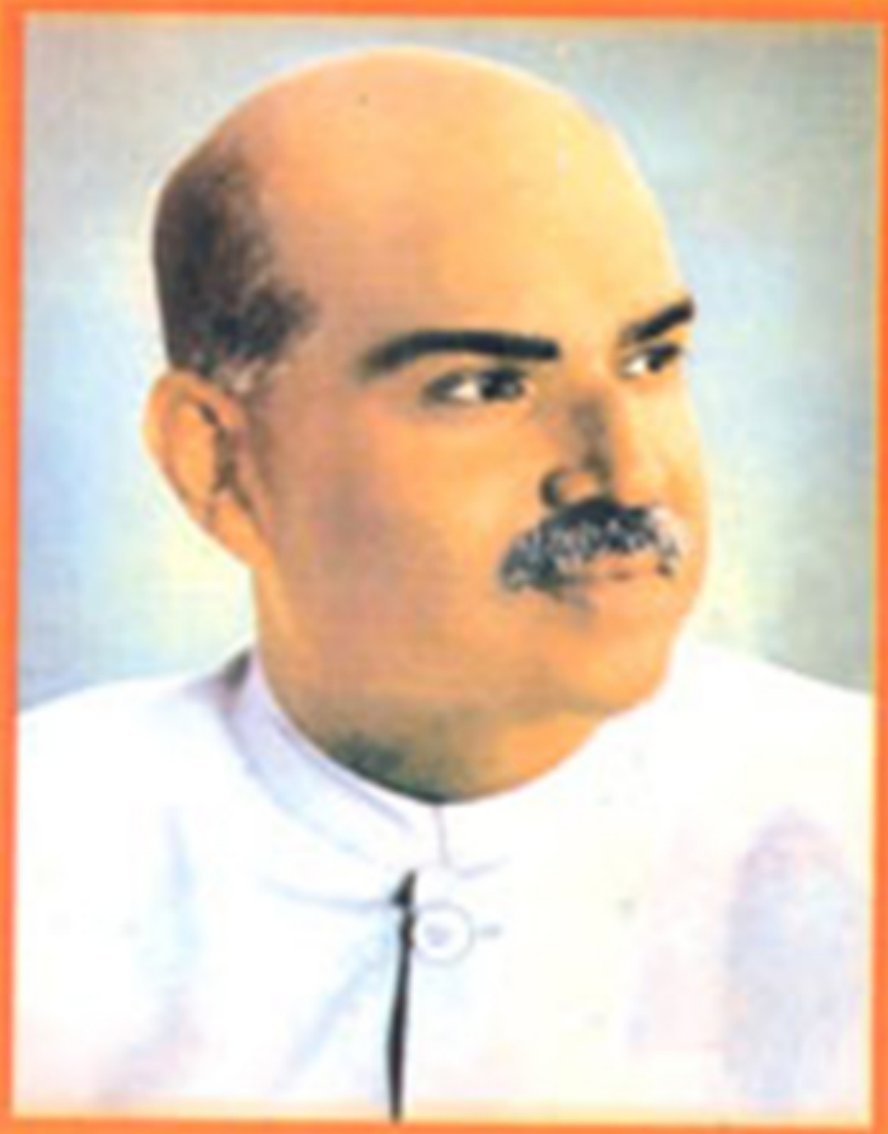

प्रो. बलराज मधोक

1. उज्ज्वल वंश-परम्परा

गत शताब्दी के अंतिम चरण में भारत में सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और सबसे बढ़कर बौद्धिक उथल-पुथल का सूत्रपात हो रहा था। इसके प्रत्यक्ष और परोक्ष कई कारण थे जिनमें प्रमुख थे भारत में ब्रिटिश शासन की स्थापना और इसके फलस्वरूप पश्चिमी विचारधारा और सभ्यता का भारतीय मानस पर पड़ता हुआ प्रभाव। इनका भारत के विभिन्न वर्गों पर पृथक्-पृथक् प्रभाव पड़ा था। कुछ लोग तो अपने अतीत से विमुख हो मैकाले की कल्पनानुकूल भारतीय होते हुए भी अभारतीय बनते जा रहे थे, कुछ दूसरों ने दृढ़तापूर्वक पाश्चात्य शिक्षा और प्रभाव की राष्ट्र-घातक प्रवृत्ति का विरोध किया और वे अपनी मातृभूमि के अतीत को पुनर्जीवन दे उसके गौरव की रक्षा करने में सचेष्ट हुए। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य लोगों का एक ऐसा समुदाय भी बन गया जिसने भारत की अच्छी परम्पराओं को लेकर प्राचीन और नवीन का, भारतीय संस्कृति और पाश्चात्य विचारधारा एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण का समन्वय कर देना चाहा। इस वर्ग में मुख्यतया ऐसे बुद्धिजीवी लोग थे जो भारतीय आदर्शों और संस्कृति से अनुप्राणित थे। उन्होंने स्वच्छ और सन्तुलित मस्तिष्क से पश्चिमी विचारधारा और साहित्य का इस आशय से अध्ययन किया कि उसके अच्छे तत्वों को ग्रहण करें और साथ-ही-साथ अपनी पूर्वार्जित अच्छाइयों की रक्षा करें। ऐसे लोग थे तो इने-गिने, किन्तु उनका तत्कालीन जीवन और घटनाओं पर विशेष प्रभाव था। उन्होंने देश को नवनिर्माण की दिशा दिखलाई।

हमारे चरितनायक डॉक्टर श्यामाप्रसाद मुकर्जी के पिता सर आशुतोष मुकर्जी इस वर्ग के देश-भक्तों में अग्रणी थे। उनका जन्म 29 जून, 1864 को कलकत्ते के धर्मपरायण सम्भ्रान्त ब्राह्मण परिवार में हुआ था, जहाँ पर आशुतोष को अपनी जन्मभूमि की संस्कृति और उसके अतीत के प्रति श्रद्धा के संस्कार मिले। उनके पिता श्री गंगाप्रसाद मुकर्जी एम.बी. कलकत्ता के सर्वश्रेष्ठ डॉक्टरों में से थे। उनकी विपुल प्रतिष्ठा का कारण उनकी केवल व्यावसायिक निपुणता ही नहीं थी, अपितु कुलीन ब्राह्मणों की परम्परानुकूल निष्ठामय जीवन भी था।

श्री गंगाप्रसाद ने आशुतोष की शिक्षा-दीक्षा का समुचित प्रबन्ध किया। इनका लालन-पालन कट्टर धर्मनिष्ठ, किन्तु उदार वातावरण में हुआ। साथ-ही-साथ इन्हें उस समय कलकत्ता में प्राप्य श्रेष्ठतम पाश्चात्य शिक्षा दिलाने का प्रबन्ध भी किया गया।

अपने छात्र-जीवन में भी आशुतोष 15 से 18 घण्टे तक काम किया करते थे। पढ़ते समय कहीं झपकी न आ जाये, इसके लिये श्री गंगाप्रसाद ने एक ऊँची

मेज बनवायी थी और आशुतोष को खड़े-खड़े पढ़ना पड़ता था। उन्होंने इसी तरह इनका भोजन भी बहुत नियमित कर दिया था। इस कड़े जीवन और अपनी नैसर्गिक प्रतिभा के बल पर आशुतोष अपने बाल्यकाल से ही विख्यात होने लगे। ये छात्रावस्था में ही लन्दन मैथेमैटिकल सोसाइटी के सदस्य बन गये और उन्होंने उनके कई ज्यामितिक प्रश्न सुलझाये। इनमें से कुछ तो इतने महत्वपूर्ण थे कि वे इंग्लैंड में गणित-विषयक मौलिक अनुसंधान के रूप में मान्य हुए और उनका नाम भी 'मुकर्जी थ्योरम' रखा गया।

आशुतोष अपने समय के अतुल मेधावी व्यक्ति थे। गणित के अतिरिक्त भौतिक विज्ञान, संस्कृत और कानून में वे इतने पारंगत थे कि उनके समकालीन उन्हें सरस्वती का अवतार समझने लगे।

आधुनिक बंगाल पर सर आशुतोष का प्रभाव अक्षुण्ण है। उनमें एक महान् राजनीतिज्ञ और प्रशासनकर्ता की प्रतिभा विद्यमान थी। वे अपने गन्तव्य पथ पर सन् 1899 में अग्रसर हुए जब वे बंगाल लेजिस्लेटिव कौंसिल में कलकत्ता विश्वविद्यालय के प्रतिनिधि के रूप में निर्वाचित हुए। कलकत्ता कारपोरेशन के प्रतिनिधि के रूप में वे बंगाल कौंसिल में 1903 में दुबारा चुने गये और इसी वर्ष बंगाल कौंसिल के गैर सरकारी सदस्यों के प्रतिनिधि के रूप में इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल में चुने गये।

इस समय तक वे एक शिक्षा-शास्त्री के रूप में विख्यात हो चुके थे। इण्डियन यूनिवर्सिटीज कमीशन के सदस्य के नाते इनकी कार्य-कुशलता से लॉर्ड कर्जन इतने प्रभावित हुए कि उनकी सम्पति में सर आशुतोष ही एकमात्र ऐसे व्यक्ति थे जो 1904 के इण्डियन यूनिवर्सिटीज ऐक्ट के अनुकूल कमीशन की सिफारिशों को कार्यान्वित कर सकते थे। अतएव उन्होंने इन्हें कलकत्ता विश्वविद्यालय का उपकुलपति नियुक्त किया और इसके फलस्वरूप वे कलकत्ता हाइकोर्ट के न्यायाधीश भी नियुक्त किये गये, क्योंकि तब तक कोई भी गैर सरकारी व्यक्ति कलकत्ता विश्वविद्यालय का उपकुलपति नहीं बन सकता था।

सन् 1904 में कलकत्ता हाइकोर्ट के जज बनने के पश्चात् वे राजनीतिक क्षेत्र में कार्य न कर सके, किन्तु इसका सुपरिणाम यह हुआ कि वे शिक्षा-क्षेत्र को अपनी सम्पूर्ण सेवाएँ दे सके।

कलकत्ता विश्वविद्यालय के उपकुलपति के रूप में सर आशुतोष ने शिक्षित भारतीयों की एक पूरी पीढ़ी को अपने आदर्शों के अनुरूप ढाला और ये आदर्श सबसे अधिक उनके दूसरे पुत्र श्यामाप्रसाद मुकर्जी में प्रतिमूर्त्त हुए, जिनका जन्म पतिपरायणा साध्वी श्रीमती योगमाया देवी के गर्भ से 7 जुलाई, सन् 1901 को कलकत्ता में हुआ।

प्रकृति ने श्यामाप्रसाद को सर आशुतोष के महान् गुणों से विभूषित किया था। अन्य गुण उन्होंने उनके प्रत्यक्ष उदाहरण और मार्ग-दर्शन से ग्रहण किये।

जिन विशिष्टताओं ने सर आशुतोष को अपने समय का श्रेष्ठ श्रद्धाभाजन बना दिया था, उनमें उनकी एकनिष्ठ राष्ट्रभक्ति और निर्भीकता प्रमुख हैं।

सर आशुतोष को देशभक्ति पाश्चात्य शिक्षा-जन्य कोई दिखावे की ऊपरी भावना नहीं थी। उसका उद्रेक उनके पुरातन प्रेम, भारतीय परम्परा और संस्कृति की पृष्ठभूमि में हुआ था। सरकारी कार्य के अतिरिक्त जहाँ यूरोपीय वेशभूषा अपरिहार्य थी उन्होंने कभी यह लिबास नहीं पहना। लॉर्ड कर्जन के बारम्बार अनुरोधों के बावजूद भी इन्होंने एडवर्ड सप्तम के अभिषेकोत्सव पर इंग्लैंड जाने से इन्कार कर दिया। उनके चरित्रकार श्री विपिन पाल के अनुसार सर आशुतोष इस बात को भली-भाँति समझते थे कि कोई भारतीय किसी भी प्रलोभन से यदि एक बार अपनी मर्यादा छोड़ देता है तो अपने विदेशी शासकों के साथ सामाजिक समता का अधिकार खो बैठता है और अपने राष्ट्रीय आदर्शों तथा रीति-रिवाजों को विजातीय आदर्शों और रीति-रिवाजों की तुलना में हीन मानने लगता है।

भारतीय संस्कृति और आदर्शों के प्रति ज्वलन्त गौरव के कारण ही सर आशुतोष बंगाल को परिप्लावित करने वाली पाश्चात्य सभ्यता की लहर से टक्कर ले सके। उन्होंने सर्वप्रथम यह अनुभव किया कि नई पीढ़ी में राष्ट्रीय जीवन और संस्कृति के प्रति अनुराग उत्पन्न करने के लिये अंग्रेजी के अलावा भारतीय भाषाओं का प्रचार आवश्यक है। इसी विचार से अनुप्रेरित हो उन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालय में सन् 1906 में बंगला भाषा का पठन-पाठन प्रारम्भ करवाया तथा सन् 1914 में भारतीय भाषाओं में एम.ए. की परीक्षा शुरू करवाई, जिसके लिए बंगला के अतिरिक्त भारत की एक और क्षेत्रीय भाषा का अध्ययन आवश्यक रखा गया।

कलकत्ता विश्वविद्यालय के दीक्षान्त भवन, दरभंगा-हाल में उनकी अर्द्धमूर्ति के नीचे लिखे शब्द, 'इन्होंने मातृभाषा को विमाता के गृह में आसीन किया।' उनके इस कार्य की महत्ता को प्रकट करते हैं।

साथ ही वे भारतीय जीवन की समाज-रचना में आने वाली त्रुटियों के प्रति भी यथेष्ट जागरूक थे। लोगों की आपत्तियों और अपनी धर्मपरायणता के बावजूद भी उन्होंने अपनी तरुणी विधवा कन्या का पुनर्विवाह कर यह सिद्ध कर दिखाया कि धर्मपरायणता आधुनिकता की विरोधी नहीं है।

श्यामाप्रसाद पर अपने पिता के सुदृढ़ राष्ट्रीय विचारों और घर के भारतीय वातावरण का पूर्णरूपेण गहरा असर पड़ा। उनका विशुद्ध, राष्ट्रप्रेम, जिसने आगे जाकर श्यामाप्रसाद को अपने समकालीन राजनीतिज्ञों में विख्यात बनाया, उनके पिता की ही अमूल्य देन थी।

किन्तु सर आशुतोष के जिन दो महान् गुणों ने तरुण श्यामाप्रसाद को विशेष प्रभावित किया, वे थे उनके उग्र स्वातन्त्र्य-प्रेम और निर्भिकता।

सर आशुतोष भारत में अपने युग के सम्भवत: सबसे अधिक निर्भिक जननायक थे। जिस समय जनसाधारण और राजनीतिज्ञ ब्रिटिश शासन की प्रशंसा तथा उसके प्रतिनिधियों की खुशामद की होड़ में लगे रहते थे, सर आशुतोष बिना किसी भय और पक्षपात के प्रान्तीय तथा इम्पीरियल कौंसिलों में डंके की चोट अपने स्वतंत्र विचार प्रकट करते थे। इंग्लैंड जाने के लिये लॉर्ड कर्जन के आग्रह का दृढ़तापूर्वक दिया गया उनका नकारात्मक उत्तर उनकी निर्भीकता का एक ज्वलन्त उदाहरण है। जब सर आशुतोष ने लॉर्ड कर्जन को बताया कि अपनी पूज्या माताजी की सहमति के बिना वे नहीं जा सकेंगे, तब कर्जन ने शासकीय स्वर में कहा, 'ऐसा है तो अपनी माता से कह दो कि यह भारत के वाइसराय और गवर्नर जनरल का आदेश है कि उसका पुत्र जाए।'

सर आशुतोष ने तत्काल उत्तर दिया, 'मैं भारत के वाइसराय को उनकी ओर से बता दूँ कि आशुतोष की माँ यह नापसन्द करती है कि उनका पुत्र सिवाय उनके किसी और का आज्ञाकारी हो, चाहे वह भारत का वाइसराय हो या इससे बढ़कर कोई हो।'

निर्भीकता, चरित्र की दृढ़ता और स्वातन्त्र्य-प्रेम के प्रतीक आशुतोष को अपने सार्वजनिक जीवन के पग-पग पर अंग्रेज सरकार के उच्चतम पदाधिकारियों से टक्कर लेनी पड़ी। 'स्वतंत्रता पहले, स्वतंत्रता अन्त में और स्वतंत्रता सर्वदा' (Freedom first, freedom last, freedom always) यह सिद्धान्त उनके जीवन का दर्शन था।

सर आशुतोष के जीवन, उनके उच्च आदर्शवाद, शुद्ध राष्ट्रीयता, उत्कट देश-प्रेम, विद्यानुराग, स्वातंत्र्य-प्रियता और नवभारत के निर्माण की परिकल्पना से श्यामाप्रसाद को अपने जीवन और दृष्टिकोण के निर्माण की दिशा मिली। सर आशुतोष को अपने इस पुत्र की कुशाग्र बुद्धि और सर्वतोमुखी प्रतिभा का शीघ्र ही आभास हो गया और उन्होंने स्वयं उसकी क्षमता व बौद्धिक विकास पर विशेष ध्यान देना प्रारम्भ किया। वे चाहते थे कि उनका पुत्र भारत की उस नई पीढ़ी का आदर्श हो जिसे वे कलकत्ता विश्वविद्यालय के माध्यम से ढालने में प्रयत्नशील थे। श्यामाप्रसाद ने भी उन्हें अपना आचार्य शिरोधार्य किया था और वे उनकी प्रत्येक भाव-भंगिमा को समझने में सचेष्ट रहते थे। उन्होंने आजीवन यह भरसक प्रयत्न किया कि वे अपने पिता के जीवन-मूल्यों एवं आदर्शों की साकार मूर्ति बन सकें।

2. बाल्यकाल

श्यामाप्रसाद का बाल्यकाल उत्तर कलकत्ता के भवानीपुर क्षेत्र में बीता, जहाँ उनका पुश्तैनी मकान अभी तक विद्यमान है। यह साधारण-सा तिमंजिला मकान, जो 77-आशुतोष मुकर्जी रोड के नाम से अधिक प्रसिद्ध है, गत अर्धशताब्दी से बंगाल और भारत के प्रतिभा-सम्पन्न बुद्धिजीवियों, कानूनदानों, राजनीतिज्ञों और राजनीतिविशारदों का मिलन-स्थल रहा है। इस प्राचीन ढंग के भवन की लम्बी अंधेरी वीथी में प्रवेश करते ही सबसे पहले एक बड़ी काष्ठ-पट्टिका की ओर ध्यान जाता है, जिस पर लिखा है—

सर आशुतोष मुकर्जी—बाहर
रामाप्रसाद मुकर्जी—अन्दर
श्यामाप्रसाद मुकर्जी—बाहर
वामाप्रसाद मुकर्जी—अन्दर

कभी-कभार जाने वाले व्यक्ति को इस नाम शृंखला में स्वर्गगत सदस्यों के नाम विचित्र प्रतीत होते हैं, किन्तु जो लोग बंगाल और भारत के निर्माण में मुकर्जी परिवार के सक्रिय योगदान से अभिज्ञ हैं उनको इस नाम-पट्टिका पर अंकित सर आशुतोष एवं श्यामाप्रसाद के नाम इस परिवार की पुनीत परम्परा की स्मृति दिलाता है।

यह भवन समस्त कलकत्ते में सरस्वती का आगार समझा जाता है। सर आशुतोष ने इसे सभी विषयों की दुर्लभ पुस्तकों से भर दिया था। पुस्तकें उनका एकमात्र इष्ट और 'चिरमित्र' थीं जिनके साथ वे दिन-प्रतिदिन वार्तालाप करते थे। इस ग्रन्थराशि में ही उनकी बचत का सदुपयोग था। वे पुस्तकें बराबर एकत्र करते रहे जब तक कि पूरा मकान ही दुर्लभ पुस्तकों से शोभायमान न हो गया। प्रत्येक कमरे व बरामदे में पुस्तकों से खचाखच भरी हुई अल्मारियाँ थीं। अमूल्य ज्ञानराशियुक्त ये 85,000 पुस्तकें, जिनमें से कई अब अप्राप्य हैं, डॉ. श्यामाप्रसाद मुकर्जी-परिवार की ओर से सर आशुतोष के स्वर्गारोहण के पश्चात् राष्ट्र को भेंट कर दी गई थीं। पुस्तकों का यह विपुल भण्डार अब कलकत्ता के राष्ट्रीय पुस्तकालय के आशुतोष विभाग में संगृहीत है। विभिन्न कोटि की इन पुस्तकों की विशिष्टता को देखते हुए विज्ञान तथा अन्य विद्याओं के सम्बन्ध में सर आशुतोष तथा इनके पुत्र श्यामाप्रसाद की पौढ़ प्रतिभा व परिपक्व मस्तिष्क का आभास मिलता है।

यह भवन प्रतिवर्ष धूमधाम तथा निष्ठा-भक्ति से सम्पन्न होने वाले पूजोत्सवों के लिये भी प्रसिद्ध है। इसमें रहने वाले लोग अत्याधुनिक होते हुए भी हिन्दू

सद्गृहस्थ के यहाँ होने वाली पूजा तथा अन्य सार्वजनिक व वैयक्तिक उत्सवों के प्रति बड़े निष्ठावान थे।

तरुण श्यामाप्रसाद ने अपनी परम्परा के इन दोनों पहलुओं को देखा और इनसे प्रेरणा ली। वे अपने पिता एवम् अन्य प्रियजनों की पूजाविधि तथा धार्मिक विधानों की अविचल मान्यता को सर्तकतापूर्वक देखा करते थे। साथ ही वे भारत के विभिन्न स्थानों तथा विदेशों से प्राप्त हुए विद्वानों के साथ नवीनतम वैज्ञानिक विषयों पर अपने पिता की युक्ति-युक्त वार्ता भी सुना करते थे। इससे उनके हृदय में एक ओर भारत की चिरयुगीन संस्कृति और विचारधारा के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हुई, दूसरी ओर पाश्चात्य विचारधारा और ज्ञान को हृदयंगम करने में अपनी भावमयी बौद्धिकता के कारण गम्भीर मोह तथा आदर का उद्रेक हुआ। इस तरह हिन्दू-आध्यात्मवाद, सहिष्णुता और मानवता का पश्चिमी वैज्ञानिक दृष्टिकोण और जीवन-आदर्शों के साथ एक सुखद समन्वय हुआ जो श्यामाप्रसाद मुकर्जी के जीवन और कार्य की, जिस किसी क्षेत्र में भी उन्होंने कार्य किया, आजीवन विशिष्टता रही।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में भारत का, विशेषकर बंगाल का, वातावरण भी तरुण श्यामाप्रसाद का जीवन और दृष्टिकोण बनाने में एक प्रमुख कारण रहा। उनका जन्म उस समय हुआ जब श्री लोकमान्य तिलक की यह ध्रुवोक्ति 'स्वतंत्रता मेरा जन्म सिद्ध अधिकार है, मैं उसे लेकर रहूँगा' तथा श्री बंकिमचन्द्र चटर्जी का मातृवन्दना का उल्लासकारी गीत 'वन्देमातरम्' सभी देशभक्त भारतीयों के हृदय में क्रान्ति की लहर उत्पन्न कर रहा था। ब्रिटिश योजना के अनुसार राष्ट्रीय तत्वों को, जो अधिकांशतः हिन्दू थे, निर्बल बनाने के लिये सन् 1904 ई. में होने वाले बंगविच्छेद ने राष्ट्रीयता की इस अन्तर्व्याप्त लहर को आगे बढ़ाया। फलस्वरूप स्वतंत्रता के संघर्ष का एक नया अध्याय शुरू हुआ।

अंग्रेजों की 'फूट डालकर शासन करने की नीति' की प्रतिक्रिया दो रूपों में प्रकट हुई। उत्कट भावनाओं वाले तरुण वर्ग ने निर्भयतापूर्वक गोली और बम का मार्ग अपनाया।

गीता का कर्मवाद और उसकी साकार प्रतिमा शिवाजी, जिनकी स्मृति लोकमान्य तिलक ने सुनियोजित 'शिवाजी-उत्सव' द्वारा पुनरुज्जीवित की थी, इस दृढ़ निश्चय तरुण समाज के प्रेरणास्रोत बने। अरविन्द घोष और भाई परमानन्द ने मृत्यु का बीड़ा उठाने वाले इन वीरों को एक नई प्रेरणा दी।

जो लोग इस खतरनाक आतंक की नीति को अंगीकार न कर सके उन्होंने भारत पर ब्रिटिश के आर्थिक प्रभुत्व को नष्ट करने के लिये स्वदेशी वस्तु-प्रयोग का अस्त्र निकाला। विलायती वस्तुओं के बहिष्कार के फलस्वरूप रहन-सहन के विलायती तरीके भी सहज ही बहिष्कृत होने लगे। स्वदेशी वस्तुओं के प्रति बढ़ती

हुई निष्ठा से राष्ट्रीय भावना को प्रोत्साहन मिला और शिक्षित भारतीयों ने देश में भारतीयता को पुनरुज्जीवित करने का सफल प्रयास शुरू किया। परिणामस्वरूप भारत की शिक्षित जनता में बढ़ते हुए पाश्चात्यानुराग को एक जबरदस्त धक्का लगा। इससे सर आशुतोष ने नई पीढ़ी के जीवन और दृष्टिकोण के राष्ट्रीयकरण का जो काम निश्चित किया था वह सुगम हो गया। श्यामाप्रसाद के ग्रहणशील मस्तिष्क पर भी इसका चिरस्थायी प्रभाव पड़ा। उनकी राष्ट्रीयता की नैसर्गिक भावना अनुकूल वातावरण पाकर शीघ्र ही पल्लवित हो गई।

बंग-भंग और इसके विरोध में चले आन्दोलन से भारतीय इस्लाम की पृथक्तावादी प्रवृत्तियाँ भी प्रकाश में आईं जिनसे ब्रिटिश सरकार ने पूरा-पूरा लाभ उठाया। ब्रिटिश सरकार के संकेतों पर नाचने के कारण शिक्षित मुसलमानों की देशभक्ति और जन्मभूमि के प्रति निष्ठा राष्ट्रवादी भारतीयों की दृष्टि में संदिग्ध हो उठी। साथ ही इससे भारत में भावी ब्रिटिश नीति की रूपरेखा सामने आने लगी; परन्तु दुर्भाग्यवश किसी भी तत्कालीन भारतीय राजनीतिज्ञ ने राष्ट्रीय भारत को निर्बल बनाने के लिये ब्रिटिश सरकार की मुसलमानों के प्रति इस तुष्टीकरण की नीति में निहित भयानकता को नहीं समझा। श्यामप्रसाद उस समय बहुत छोटे होने के कारण उस ब्रिटिश पॉलिसी पर, जो सन् 1947 में देश-विभाजन का मूल सिद्ध हुई, ऊँगली न उठा सके। किन्तु उन्हें इस घातक नीति के विनाशकारी प्रभावों से देश को बचाने के लिये राजनीति में पदार्पण करने के बाद कठिन संघर्ष करना पड़ा।

बालक श्यामाप्रसाद के हृदय और मस्तिष्क पर घर और बाहर की बातों का परोक्ष प्रभाव पड़ रहा था। सर आशुतोष भी अपने होनहार पुत्र की उचित शिक्षा-दीक्षा की योजना बना रहे थे। ब्रिटेन के पब्लिक स्कूलों की पद्धति पर चलाये गये कलकत्ता या अन्यत्र कहीं भी पब्लिक स्कूल में वे आसानी से श्यामाप्रसाद को भेज सकते थे। उनकी स्थिति के बहुत-से भारतीयों ने तब आज के समान ऐसा किया था, किन्तु भारतीय संस्कृति और आदर्शों की पृष्ठभूमि में विकसित आशुतोष की राष्ट्रीयता की भावना इसके सर्वथा प्रतिकूल थी। वे अच्छी तरह समझते थे कि इन स्कूलों में होनहार बालकों को राष्ट्र-भावना से शून्य किया जा सकता है। साथ ही वे यह भी जानते थे कि नगरपालिका तथा सरकार द्वारा संचालित साधारण स्कूल बहुत अधिक प्रतिभा का विकास करने में सर्वथा असमर्थ हैं। वे स्कूल सर आशुतोष की कसौटी पर पूरे न उतरते थे। अतएव उन्होंने अपने मित्र श्री विश्वेश्वर मित्तर को मित्तर इंस्ट्रीट्यूट खोलने की प्रेरणा दी, जहाँ श्यामाप्रसाद और उसके भाइयों ने आरम्भिक शिक्षा प्राप्त की।

इसके बाद सर आशुतोष मित्तर इंस्ट्रीट्यूट की ओर बराबर ध्यान देने लगे।

महान् शिक्षा-शास्त्री के रूप में वे स्वयं उस संस्था का निरीक्षण करते और अपने पुत्रों के प्रति सतर्क रहा करते थे। वे उनके मित्रों के चयन में भी सतर्क रहा करते थे। उन्होंने अपने कतिपय घनिष्ट मित्रों से अनुरोध भी किया कि वे अपने उस आयु के पुत्रों को मित्तर इन्स्टीट्यूट में भेजें ताकि श्यामाप्रसाद और उसके भाइयों को अपनी रुचि के मित्र मिल सकें।

घर और स्कूल की कठोर शिक्षा तथा सर आशुतोष की सतर्क दृष्टि व पितृसुलभ संरक्षण ने श्यामाप्रसाद की जन्मजात विशेषताओं और प्रतिभा को चमकने में सहायता दी। इनकी समय से पूर्व परिपक्वता से शिक्षक तथा माता-पिता सभी चकित होते थे। वे अपनी कक्षा में सदैव उच्च शीर्ष स्थान पर रहे। स्कूल के छात्र होते हुए भी वे एफ.ए. और बी.ए. की पुस्तकें पढ़ते रहे।

इसी समय वे एक आदर्शवाद की ओर प्रवृत्त हुए और उनमें जीवन के विशुद्ध भौतिकवाद के प्रति ऐसी अनासक्ति उत्पन्न हुई जो उनके लोक-जीवन की प्रमुखतम विशेषता थी। उनके छात्र-जीवन की पुस्तकों और कापियों में लिखे गये कई कथन उनके मस्तिष्क की गतिविधि के परिचायक हैं। एक जगह उन्होंने लिखा है, 'मैं बड़ा बनना चाहता हूँ, मुझे पैसा नहीं चाहिए।' वे आजीवन इस प्रारम्भिक आदर्श का पालन करते रहे। अर्थ अथवा भौतिक सुविधाएं उन्हें कभी भी कर्त्तव्यच्युत न कर सकीं।

विद्यार्थी श्यामाप्रसाद के कुछ बड़े होने पर सर आशुतोष ने उन्हें अपने प्राइवेट सेक्रेटरी का कार्य सौंपा। वे उनसे प्राय: पत्र लिखवाया करते थे। जिन्हें टाइप करने के पूर्व श्यामाप्रसाद अपने हाथ से लिख लिया करते थे। आशुतोष श्यामाप्रसाद को अपने साथ विश्वविद्यालय भी ले जाया करते थे, जहाँ उन्हें प्रोफेसरों से सम्भाषण का अवसर मिला करता था। इससे श्यामाप्रसाद को न केवल अपनी असाधारण क्षमता की अभिव्यक्ति का अवसर मिला वरन् अपने पिता को समझने, उनके काम करने तथा अन्य लोगों से व्यवहार करने की प्रणाली को नजदीक से देखने व समझने का अवसर भी मिला। सर आशुतोष भारत के इस चिरकालीन सूत्र पर विश्वास करते थे कि 'बड़े सदा कर्मरत रहें, इसी में शोभा है।' उन्होंने अपना समय कभी नष्ट नहीं किया। उनके एक साथ शुरू किये हुए नाना कार्य उनके समकालीन लोगों के लिए एक आश्चर्य का विषय था। अपने कर्मण्य पिता के निकट रहकर श्यामाप्रसाद ने जो व्यावहारिक शिक्षा ली उससे उनमें कई विशेषताओं का प्रादुर्भाव हुआ और उनका आत्मविश्वास बढ़ गया।

इन गुणों ने उनके भावी जीवन को विशेष रूप से प्रभावित किया। आत्म-विश्वास और व्यावहारिकता, उनकी दो प्रमुख विशेषताएँ बन गईं।

3. शिक्षा-दीक्षा

मित्तर इंस्टीट्यूट से छात्रवृत्ति लेकर मैट्रिक उत्तीर्ण करने के बाद श्यामाप्रसाद सन् 1917 में प्रेसीडेंसी कॉलेज में प्रविष्ट हुए। स्कूल से कॉलेज जाने के इस क्रम से श्यामाप्रसाद के जीवन में एक नये और बहुत महत्त्वपूर्ण अध्याय का सूत्रपात हुआ। इससे वे अपने पिता के सीधे अनुशासन में आ गए। उन्हें अब यह अनुभव होने लगा कि बंगाल के शैक्षिक जीवन के निर्माण में उनके पिता का कितना योगदान है। इससे उन्हें शिक्षा सम्बन्धी कार्यों में सर आशुतोष की सहायता करने के नए अवसर तथा कलकत्ता विश्वविद्यालय के कार्यों के प्रति ऐसी अन्तर्दृष्टि मिली जिसके कारण वे अपने पिता के निधन के पश्चात् इन कामों को संभालने के सर्वाधिक योग्य समझे गये।

इस समय श्यामाप्रसाद बहुत हृष्ट-पुष्ट थे। दिव्य सुस्वस्थ शरीर, सादा आडम्बरविहीन जीवन और प्रज्ञाशीलता के कारण वे तुरन्त ही अपने प्राध्यापकों और सहपाठियों के स्नेह-भाजन बन गये। अपने पिता के समान ही उन्होंने यूरोपियन पहनावे की अपेक्षा धोती-कुरते की भूषा ही अपनाई। इससे उनकी आन्तरिक राष्ट्रीयता का ही आभास मिलता है।

श्यामाप्रसाद ने सन् 1919 में इण्टर आर्ट्स की परीक्षा उत्तीर्ण की और विश्वविद्यालय में प्रथम घोषित हुए। इस तरह अपने ख्याति-प्राप्त छात्रजीवन के कारण वे सन् 1920 में प्रेसीडेंसी कॉलेज मैग्जीन के जनरल सेक्रेटरी नियुक्त हुए। तरुण श्यामाप्रसाद के लिए यह बड़ी प्रतिष्ठा की बात थी। मैगजीन के सम्पादन काल में उन्हें आत्माभिव्यक्ति का प्रथम अवसर मिला। उनके तत्कालीन लेखों में एक तरुण उच्चाकांक्षी के उज्ज्वल भविष्य की द्योतक जीवन-दृष्टि का आभास मिलता है। श्यामाप्रसाद की उच्च मानवीयता को समझने में सबसे अधिक ध्यान उनके महान् अध्येता और शिक्षक प्रो. पर्सिवाल को लिखे गये पत्रों की ओर जाता है। प्रो. पर्सिवाल ने बंगाल के प्रतिभाशाली तथा कर्मण्य लोगों के जीवन-निर्माण में यथेष्ट प्रयास किया था। इनके प्रेसीडेंटी कॉलेज के सहपाठी सर आशुतोष भी इन्हीं में से थे। श्यामाप्रसाद ने अपने पिता से इनकी काफी स्तुति सुनी थी और वे इनसे परिचित होने के लिये लालायित थे। प्रेसीडेंसी कॉलेज मैगजीन के सम्पादक नियुक्त होने पर उन्हें अपनी इच्छापूर्ति का अवसर मिला। उन्होंने आत्म-परिचय देकर मैगजीन के लिये लेख भेजने का अनुरोध करते हुए प्रो. पर्सिवाल को 2 सितम्बर, सन् 1920 को प्रथम पत्र लिखा। तत्पश्चात् इस तरुण छात्र और महान् शिक्षक का, जो इंग्लैंड में दीर्घकालोपरान्त विश्राम का अवकाश बिता रहे थे यह

परिचय प्रगाढ़ व्यक्तिगत प्रेम में परिणत हो गया। पत्रों के अनुक्रम में सबसे महत्त्वपूर्ण पत्र वह है जो श्यामाप्रसाद मुकर्जी ने 20 नवम्बर, 1920 को लिखा था। इससे हमें श्यामाप्रसाद के उच्च आदर्शवाद का मर्म मिलता है जो उनके व्यस्त जीवन में उनका मार्गदर्शक रहा। पत्र निम्नांकित है–

परम पूज्य,

मैं पूजा की छुट्टियों में बनारस गया था और केवल सप्ताह पहले ही कलकत्ते लौटा हूँ। आपका कृपापत्र पाकर हृदय कितना गर्वित हुआ यह अवर्णनीय है। ऐसा पत्र निस्सन्देह आपके, केवल आपके ही तुल्य है। पत्र आद्यान्त स्नेहपूर्ण शब्दों से शोभित है। कहते हैं, लेख में मनुष्य का व्यक्तित्व झलकता है–यह उक्ति आपके प्रति अक्षरशः सत्य है।

हम सबको हार्दिक खेद है कि आप मैगजीन के लिये कोई रचना न भेज सके। इस सत्र के प्रथम अंक की मैगजीन की प्रति अलग से सेवा में भेज रहा हूँ। स्वीकार कीजियेगा, अनुरोध है।

आपका परिचित हो सकने के कारण मैं अपने-आपको बहुत सौभाग्यशाली समझता हूँ और आशा करता हूँ कि आप मुझे हृदय से आशीर्वाद देंगे कि मैं पवित्र और पौरुषपूर्ण जीवन बिता सकूँ।

अतीव आदर के साथ,

आपका कृपाभाजन,
श्यामाप्रसाद मुकर्जी

इस प्रकार अपनी किशोरावस्था में ही श्यामाप्रसाद ने पवित्र और पौरुषपूर्ण जीवन व्यतीत करने का संकल्प किया और उसमें उन्हें सफलता भी मिली। वे शुद्ध और निर्मल जीवन व्यतीत करने के आकांक्षी थे और वे अपने जीवन के अन्त तक मन और काया से शुद्ध रहे। वे पौरुषपूर्ण जीवन बिताना चाहते थे और उन्होंने ऐसा ही जीवन बिताया।

वस्तुतः पौरुष उनके चरित्र का प्रमुख अंग था। उनकी निर्भीकता, आत्माभिमान की शालीनता और सभी न्यायोचित कामों के लिए संघर्ष करने व यातना झेलने की तत्परता उनके पौरुष का ही प्रमाण है।

कॉलेज में वे अंग्रेजी साहित्य के प्रति विशेष रुचि लेने लगे और शीघ्र ही प्रवाहपूर्ण परिमार्जित भाषा में रचनाएँ लिखने लगे। सन् 1921 में बी.ए. में अंग्रेजी ऑनर्स के साथ प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए और विश्वविद्यालय में प्रथम आए। अंग्रेजी में प्रर्याप्त योग्यता के कारण स्वाभाविक रूप में उन्हें एम.ए. अंग्रेजी में ही करना चाहिए था, किन्तु राष्ट्रप्रेमी श्यामाप्रसाद को यह नहीं जँचा। उन्होंने देखा था कि

उनके पिता ने कलकत्ता विश्वविद्यालय में बंगला तथा अन्य भारतीय भाषाओं को पाठ्यक्रम में उनका उचित स्थान दिलाने के लिये कितना प्रयत्न किया था। इसलिए उन्होंने एम.ए. में बंगला तथा एक अन्य भारतीय भाषा लेकर अपने पिता के उस सफल प्रयत्न पर फूल चढ़ाए और विश्वविद्यालय में प्रथम आकर सन् 1923 में अपने समकालीन लोगों के सामने इस दृष्टि से आवश्यक आदर्श उपस्थित किया।

अभी वे एम.ए. में ही थे कि अप्रैल, 1922 में श्रीमती सुधा देवी के साथ उनका विवाह हो गया, किन्तु वे अधिक समय तक विवाह बन्धन में बँधे न रह सके। दो पुत्र और दो कन्याओं को जन्म देने के बाद श्रीमती सुधा देवी सन् 1934 में असमय ही काल-कवलित हो गई।

इसी बीच श्यामाप्रसाद ने सन् 1924 में विश्वविद्यालय में प्रथम आकर प्रथम श्रेणी में बी.एल. की परीक्षा उत्तीर्ण की और वे कलकत्ता हाईकोर्ट में वकालत करने लगे।

प्रेसीडेंसी कॉलेज की मैगजीन के सम्पादन-काल में इनकी लेखनी मँज चुकी थी और स्वभावत: वे कुछ समय के लिए पत्रकारिता की ओर भी आकृष्ट हुए। इस नाते सन् 1922 में उन्होंने 'बंगवाणी' नाम्नी एक बंगला पत्रिका निकाली और सन् 1923-24 में 'डित्शे' उपनाम से पैटलैवेल द्वारा सम्पादित पत्र 'कैपिटल' के लिये स्थायी रूप से लिखते भी रहे। इसी समय इनके पिता ने थैकर स्पिंक से 'कैलकटा-रिव्यू' खरीद लिया था। इन पत्रों के लिये लिखते-लिखते बंगला और अंग्रेजी में उनकी शैली अत्यन्त परिमार्जित हो गई, किन्तु उनकी पत्रकारिता की यह उमंग स्थायी नहीं रही। सन् 1940 के लगभग कलकत्ता से 'दी नैशनलिस्ट' दैनिक निकालकर वे कुछ समय के लिए इस ओर पुन: प्रवृत्त हुए, किन्तु वह पत्र भी अल्पकालिक रहा।

साधिकार भाषा, कुशाग्र-बुद्धि, अकाट्य तर्कनाशक्ति और ओजस्विनी वाणी से सम्पन्न होने के कारण उचित ध्यान देने पर वे वकालत के क्षेत्र में खूब चमक सकते थे, किन्तु इनकी नि:स्पृहता ने ऐसा न होने दिया। परिस्थितियों तथा अपने जन्मजात आदर्शवाद से प्रेरित होकर इन्होंने वकालत छोड़ दी और एक विशाल और राष्ट्र-हित की दृष्टि के अति उपयोगी क्षेत्र में पदार्पण किया। इस प्रकार अपने मुवक्किलों को न्याय दिलाने के संकुचित दायरे से निकलकर सम्पूर्ण भारत के न्यायोचित हितों के समर्थनहेतु वे वृहत् क्षेत्र में उतर पड़े।

मई, 1924 में सर आशुतोष की अकाल मृत्यु श्यामाप्रसाद के जीवन में सबसे दु:खद और अप्रत्याशित घटना थी। पर आशुतोष ने कलकत्ता हाईकोर्ट के न्यायाधीश के पद से सन् '23 में विश्राम ग्रहण किया। इसी वर्ष बंगाल के गवर्नर लॉर्ड लिटन से विश्वविद्यालय को दी जाने वाली सरकारी आर्थिक सहायता के ऊपर उग्र मतभेद

हो जाने के कारण उन्होंने वाइस-चांसलर के पद से भी त्यागपत्र दे दिया। इस समय पर आशुतोष राजनीति में सक्रिय भाग लेने की योजना बना रहे थे। इसे यदि वे कभी क्रियान्वित कर पाते तो थोड़े ही समय में न केवल बंगाल के अपितु समस्त भारत के राजनीति-गगन में चमक उठते। किन्तु पटना में, जहाँ वे किसी व्यावसायिक कार्य से गये थे, होने वाली उनकी आकस्मिक मृत्यु ने उनकी सभी योजनाएँ नष्ट कर दीं और बंगाल के सार्वजनिक जीवन में, विशेषकर कलकत्ता विश्वविद्यालय में ऐसा अभाव उत्पन्न कर दिया जिसकी पूर्ति होना उस समय असम्भव दिखता था।

कलकत्ता विश्वविद्यालय के प्रमुख निर्माता के रूप में सर आशुतोष की विश्वविद्यालय-सम्बन्धी प्रशासकीय बारीकियाँ तथा उनके शिक्षा-सम्बन्धी दृष्टिकोण से केवल एक व्यक्ति ही अभिज्ञ था और वह था तरुण श्यामाप्रसाद। इसीलिये सभी हितचिन्तकों का विचार था कि सर आशुतोष द्वारा निर्धारित नीति से संचालित विश्वविद्यालय के स्वस्थ विकास के लिये श्यामाप्रसाद का उससे अविच्छिन्न सम्बन्ध बना रहना बहुत आवश्यक था।

इसी विचार से प्रेरित होकर श्यामाप्रसाद के पुराने शिक्षक तथा पश्चिमी बंगाल के भूतपूर्व गवर्नर स्वर्गीय श्री एच.सी. मुकर्जी ने सन् 1924 में विश्वविद्यालय की सीनेट में अपना स्थान रिक्त कर दिया ताकि उनके स्थान पर श्यामाप्रसाद निर्वाचित कर लिए जाएँ। इसी वर्ष जून मास में श्यामाप्रसाद सर आशुतोष के रिक्त स्थान पर सिंडीकेट के सदस्य भी चुन लिये गये।

इस तरह अपने पिता के भौतिक तथा आत्मिक उत्तराधिकारी श्यामाप्रसाद पर तेईस वर्ष की अल्पायु में ही उनका विश्वविद्यालय सम्बन्धी कार्य-भार आ गया। उन्होंने राष्ट्रीय अभ्युत्थान के निर्मित कलकत्ता विश्वविद्यालय के पुनर्निर्माण का अधूरे कार्य को उन्हीं के पद-चिह्नों पर चलते हुए पूर्ण करने का बीड़ा उठाया।

4. तरुणतम उपकुलपति

श्यामाप्रसाद मुकर्जी ने अपने जीवन के अगले पन्द्रह वर्षों में कलकत्ता विश्वविद्यालय को ही अपना एकमेव कार्यक्षेत्र बनाए रखा। वे अपने पिता के समान इसके साथ मानों एकरूप हो गये। उन्होंने अपने पिता द्वारा निर्धारित नींव पर इसके नवनिर्माण का कार्य जारी रखा और शीघ्र ही एक मौलिक विचारक और महान् शिक्षा-शास्त्री के रूप में विख्यात हो गये। सन् 1939 में सक्रिय राजनीति में पड़ने के बाद भी उन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में और विशेषकर कलकत्ता विश्वविद्यालय के प्रति अपनी गहरी रुचि बनए रखी। फलस्वरूप उनके राजनीतिक विरोधी भी जीवनपर्यन्त एक प्रमुख शिक्षा-शास्त्री के नाते उनको विशेष मान देते रहे।

इस अवधि में उन्होंने उच्च-शिक्षा परिषद् के प्रधान, आर्ट-साइंस फैकल्टी के डीन तथा उपकुलपति के रूप में एकाग्रमन से विश्वविद्यालय की सेवा की। उन्होंने विश्वविद्यालय के साथ अपने सम्बन्ध के शुरू से ही अपनी प्रतिभा का परिचय दिया। वे भारत के सबसे बड़े विश्वविद्यालय के सबसे अल्पवयस्क फैलो तथा सिंडिक थे, परन्तु विश्वविद्यालय के कार्यकलाप पर उनका प्रभाव अधिक था। कारण, कोई और व्यक्ति विश्वविद्यालय के नवनिर्माता सर आशुतोष की मानसिक गतिविधियों और योजनाओं को उनसे बेहतर नहीं जानता था।

श्यामाप्रसाद का यह अभी विद्यार्थी-जीवन का ही समय था। उनकी आयु केवल चौबीस वर्ष की थी और उनकी उत्कट इच्छा थी कि वे इंग्लैंड जाकर न्यायशास्त्र-सम्बन्धी उच्च-शिक्षा पूर्ण करें। इस कार्य के लिये उन्होंने बैरिस्टर की शिक्षा प्राप्त की। उन्हीं दिनों उन्होंने इंग्लैंड में होने वाले ब्रिटिश साम्राज्य के विश्वविद्यालयों के सम्मेलन में कलकत्ता विश्वविद्यालय का अपूर्व योग्यता से प्रतिनिधित्व किया। तब से उनकी गणना भारत के प्रमुख शिक्षा-शास्त्रियों में होने लगी।

इंग्लैंड में श्यामाप्रसाद पहले-पहल डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन, के जिन्हें उनके पिता ने मैसूर से कलकत्ता विश्वविद्यालय में लाकर आगे बढ़ाया था, निकट सम्पर्क में आए। अपनी शान्त और सरल प्रकृति के कारण वे इंग्लैंड में अपने समकालीन भारतीय छात्रों में बहुत लोकप्रिय हो गए। बहुत से तो उनके घनिष्ठ मित्र बन गए। सन् 1926 में जब वे कारबंकल से पीड़ित होकर इंग्लैंड के एक नर्सिंग होम में थे, तब अपने को उनके चचेरे-ममेरे भाई कहकर अन्दर जाने की अनुमति माँगने वालों की भीड़ लगी रहती थी और जब कोई नया चेहरा आता तब नर्स भी मुस्कराकर कहती—आज एक और भाईजान आए हैं।

इंग्लैंड से सन् 1927 में वापस आकर श्यामाप्रसाद ने कुछ समय तक वकालत की, किन्तु विश्वविद्यालय के साथ अपने प्राचीन सम्बन्धों के कारण शीघ्र ही इन्हें वकालत और सार्वजनिक शैक्षिक कार्यों में से एक को चुनना पड़ा। जिसमें उन्होंने वकालत को तिलाञ्जलि दी और जीवनपर्यन्त दूसरी ओर ही प्रवृत्त रहे।

सन् 1929 में वे कांग्रेसी प्रत्याशी के रूप में कलकत्ता विश्वविद्यालय का प्रतिनिधित्व करने के लिए बंगाल विधानसभा में चुने गए। किन्तु सन् 1930 में जब कांग्रेस ने विधान-सभाओं का बहिष्कार करने का निर्णय किया, उन्होंने इससे त्यागपत्र दे दिया। एक व्यावहारिक तथा यथार्थवादी व्यक्ति होने के नाते उन्होंने अनुभव किया कि उस समय विधान-सभा का बहिष्कार करने का अर्थ विदेशी सरकार के पिट्ठुओं के लिए मैदान साफ करना था जो देश के हित में न था। सन् 1921 में मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड के अनुसार शिक्षा-विभाग, विधान-सभा में जनता द्वारा चुने हुए प्रतिनिधियों के हाथों में आ चुका था, इसलिए श्यामाप्रसाद ने विश्वविद्यालय के हितों की रक्षा करने के लिए यह आवश्यक समझा कि वे विधान-सभा में रहें। अत: कलकत्ता विश्वविद्यालय की ओर से स्वतंत्र सदस्य के रूप में वे सन् 1930 में पुनर्निवाचित हुए। तब तक शिक्षा ही उनका प्रमुख कार्यक्षेत्र था, इसलिए कौंसिल में वे विश्वविद्यालय के हितों की रक्षा में ही सदैव तत्पर रहे।

किन्तु एक सफल शिक्षाशास्त्री और प्रशासक के रूप में अपनी पूरी प्रतिभा दिखलाने का अवसर श्यामाप्रसाद को 1934 में मिला जब वे कलकत्ता विश्वविद्यालय के उपकुलपति नियुक्त हुए। उस समय उनकी आयु कुल तेंतीस वर्ष की थी और वे समस्त देश के किसी भी विश्वविद्यालय के कुलपति से अल्पवयस्क थे।

इसके एक वर्ष पहले ही उनकी धर्मपत्नी का देहान्त हो गया था। इनकी माता ने इनका दूसरा विवाह कर देने का भरसक प्रयत्न किया, किन्तु उनके अनन्य आज्ञाकारी होते हुए भी इन्होंने इसे अस्वीकार कर दिया और अपना शेष जीवन जननी-जन्मभूमि के चरणों में अर्पित करने का निश्चय किया। उन्होंने सर्वप्रथम सही शिक्षा के प्रचार से मातृभू की सेवा प्रारम्भ की। उपकुलपति होने के कारण उन्हें अपने देशवासियों की शिक्षा के सम्बन्ध में अपने उच्चादर्शों और लक्ष्य को कार्यान्वित करने का अवसर मिला।

श्यामाप्रसाद इस बात से पूर्णतया अभिज्ञ थे कि भारत में अंग्रेजों द्वारा प्रचलित उच्च-शिक्षा का मूल भरतीय परम्पराओं, संस्कृति, कला, शिल्प और उद्योगों के सरंक्षण तथा संशोधन में नहीं, वरन् भारतवासियों को विदेशी भाषा के माध्यम से पाश्चात्य विचारों की दीक्षा देकर शक्तिशाली शासन-यंत्र को निर्बाध चलाने के लिये देशी पुर्जे तैयार करने में था। वे चाहते थे कि पाठ्यक्रम का निर्धारण एवं शिक्षण तथा परीक्षण की प्रणाली ऐसी परिमार्जित की जाए जो कि विश्वविद्यालय

का प्रत्येक शिक्षार्थी विविध जानकारी का महज पुलिन्दा और सिद्धान्तों का नीरस विशेषज्ञ होने के बदले सही अर्थों में ऐसा प्रतिभाशाली विद्वान् बनकर निकले जिसकी निर्णय-शक्ति विकसित हो चुकी हो और जो जीवनगत समस्याओं को सुलझाने में उदार दृष्टिकोण के साथ अपने ज्ञान का पूर्ण उपयोग कर सके।

22 फरवरी, 1936 के अपने द्वितीय दीक्षान्त भाषण में श्यामाप्रसाद ने शैक्षिक जीवन के पुनर्गठन पर अपने आदर्शों की रूपरेखा स्पष्टतया प्रस्तुत की थी। उन्होंने कहा, 'हमारा आदर्श है कि हम निम्नतम से लेकर उच्चतम स्तर तक ऐसी शिक्षा को सहज सुविधा दे सकें और साथ ही शिक्षा-पद्धति को भी इस तरीके से बदलें कि हमारा शिक्षा का उद्देश्य वस्तुतः सुसम्बद्ध हो। हमारे तरुणों की छिपी हुई प्रतिभाएँ जागृत हों और वे त्रिकोणात्मक (बौद्धिक, शारीरिक तथा नैतिक) शिक्षा से ऐसे सम्पन्न हों कि राष्ट्रीय जीवन के सभी क्षेत्रों, ग्रामों, कस्बों अथवा नगरों में एकनिष्ठ सेवाएँ दे सके। हमारा लक्ष्य है कि हम स्वस्थ व उदार शिक्षा की अधिकतम सुविधा दे सकें, व्यावसायिक तथा शिल्प-सम्बन्धी शिक्षा का समुचित संविश्लेषण कर सकें और यह बराबर ध्यान में रखें कि कोई भी राष्ट्र अपने युवकों को महज भौतिक लक्ष्य को आगे रख, मशीनी पुर्जे बनाकर कभी महान् नहीं बन सकता। हमारा आदर्श है कि हम अपने शिक्षकों को अधिक-से-अधिक सुविधाएँ तथा अधिकार दे सकें ताकि वे उच्च ज्ञान, पवित्र आचरण तथा स्वतंत्र बुद्धि से विभूषित होकर अपने को केवल मार्गदर्शक, ज्ञानवाहक तथा विचारों की दुनिया के मालिक ही न मानते हुए सच्चे, पौरुषमय, प्रामाणिक और देशभक्त नर, नारी, नेता और कार्यकर्ताओं का निर्माता समझें। हमारा आदर्श है कि हम शिक्षा का अपनी संस्कृति और सभ्यता के सारभूत तत्वों से पश्चिमी कौशल और ज्ञान के निर्झर से आवश्यक रस-संचय कर उसका संगुम्फन कर सकें। हमारा आदर्श है कि हम अपने विश्वविद्यालयों और शिक्षण-संस्थाओं को राज्य तथा सार्वजनिक सहायता-प्राप्त, उदार तथा बौद्धिक एवं प्रगतिशील विचारों का ऐसा केन्द्र बनाएं जहाँ शिक्षक और विद्यार्थी परस्पर सामंजस्य और सुझाव के वातावरण से मिलें और जहाँ किसी को भी जाति, लिंग, मजहब तथा धार्मिक व राजनीतिक विचारों के कारण किसी भी प्रकार की असुविधा न हो।'

श्यामाप्रसाद ने अपने उपकुलपतित्व के चार वर्षों में इन्हीं आदर्शों को विधिवत् फलीभूत करने का प्रयास किया। उन्होंने अपनी शक्ति, स्वास्थ्य, सुविधा तथा जीवन की किसी भी प्रलोभनीय वस्तु पर, जो उनके कर्त्तव्यपालन से किंचित् भी बाधा बन सकती थी, जरा भी ध्यान नहीं दिया और वे अस्वस्थावस्था में डॉक्टरों की इच्छा के विपरीत भी क्रियाशील ही रहे।

उपकुलपति की हैसियत में पहला प्रश्न जो श्यामाप्रसाद के सम्मुख आया वह

था बंगला तथा अन्य देशीय भाषाओं का विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में स्थान-निर्धारण। उनकी इच्छा थी कि बंगाल के शिक्षाक्रम में बंगला को उसका उचित स्थान मिले। इस दृष्टि से उन्होंने बंगला को मैट्रिक तक शिक्षा का माध्यम बनाया और बंगला, हिन्दी तथा उर्दू में ऑनर्स की परीक्षा निर्धारित की। बंगला की पाठ्य पुस्तकें तैयार करने के लिए उन्होंने विविध विषयों में प्रयुक्त होने वाले बंगला के विभिन्न पारिभाषिक शब्दों व अभिव्यक्तियों का संकलन किया। उनका यह विश्वास था कि इस तरीके से एक दिन वह भी आएगा जब विश्वविद्यालय के पास सभी विषयों पर और सभी स्तरों के उपयुक्त पारिभाषिक शब्दों का भण्डार हो जायेगा। इससे बंगला भाषा व साहित्य समृद्ध होगा और विश्वविद्यालय की उच्च परीक्षाओं में देशीय भाषा लागू करना सम्भव हो सकेगा। बंगला साहित्य को समृद्ध बनाने और लोगों में इसके प्रति रुचि उत्पन्न करने के लिए उन्होंने विश्वविद्यालय को ज्ञान के विविध अंगों पर बंगला में पुस्तकें लिखने व प्रकाशित करने की प्रेरणा दी। उनकी प्रेरणा से बंगला भाषा की वर्तनी का भी सामान्य रूप निश्चित हुआ।

श्यामाप्रसाद के उपकुलपतित्व में ही सन् 1936 में श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर ने बंगला में अपना दीक्षान्त भाषण दिया जो विश्वविद्यालय के इतिहास में सर्वथा नवीन और उचित कदम था। यह बंगला तथा अन्य भारतीय भाषाओं पर अंग्रेजी की प्रधानता की समाप्ति का श्रीगणेश था।

इसके पश्चात् श्यामाप्रसाद ने परीक्षण-पद्धति और पाठ्यक्रम के संशोधन की ओर ध्यान दिया। उन्होंने पूरक परीक्षाएँ प्रारम्भ कीं और फेल होने वाले विद्यार्थियों को बिना कॉलेज में प्रविष्ट हुए परीक्षा देने की अनुमति भी दी। उन्होंने हाईस्कूल की सम्पूर्ण शिक्षा-योजना का कायाकल्प किया। लड़कों के लिए उन्होंने जहाँ पाठ्यक्रम में विविधता तथा ऐच्छिक विषयों के चयन की बात लागू की वहाँ लड़कियों के लिए भी भिन्न विषय और पाठ्यक्रम निर्धारित किये।

उन्होंने शारीरिक शिक्षा पर बहुत बल दिया। अनेक उत्साहभंजक बातों के बावजूद उन्होंने उच्चशिक्षा की योजना में मिलट्री ट्रेनिंग को भी महत्व दिया। इसी उद्देश्य से उन्होंने विश्वविद्यालय के स्थापना-दिवस 24 जनवरी को प्रतिवर्ष कलकत्ता के मैदान में वार्षिक समारोह के रूप में मनाने की आयोजना शुरू की। इस दिन कलकत्ता के तमाम विद्यार्थी अपने-अपने बैज और ध्वजाएँ लेकर एकत्र होते और अभियान तथा अन्य शारीरिक क्रीडाओं में भाग लेते थे। यह कार्यक्रम विद्यार्थियों में परस्पर सद्भाव तथा उनमें और शिक्षकों में सौहार्द उत्पन्न करने में सहायक सिद्ध हुआ। प्रथम समारोह के अवसर पर श्यामाप्रसाद ने सरकार से प्रार्थना की कि वे तरुणों को उनके समुचित विकास का अवसर दें। उन्होंने घोषणा की,

'मुझे युवकों के पुरुषार्थ पर अखण्ड विश्वास है और मैं बंगाल के विद्यार्थियों के नाम पर सरकार से माँग करता हूँ कि उन्हें जीवित रहने, जीवन का उपभोग करने तथा अपने स्वास्थ्य का विकास करने की सुविधाएँ दी जाएँ, ताकि वे हमारी मातृभूमि के बड़े-से-बड़े हित को पूरा करने में सहायक सिद्ध हो सकें।'

छात्रवर्ग के प्रति अपनी असीम सहानुभूति के कारण वे छात्रों के सनेह, सम्मान और श्रद्धा के अनुपम पात्र बन गये थे।

यद्यपि श्यामाप्रसाद की यह प्रबल इच्छा थी कि अधिकारी-वर्ग देश के युवकों के प्रति कर्त्तव्यशील हो, तथापि वे ऐसा करेंगे इसकी उन्हें बहुत अपेक्षा न थी। वे विद्यार्थी-कल्याण-विभाग तथा विद्यार्थी-नियुक्ति बोर्ड के द्वारा युवकों की सहायता करने की अपेक्षा अपनी योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए प्रयत्नशील हुए। विद्यार्थी-कल्याण-विभाग विद्यार्थियों में भ्रातृभावना उत्पन्न करने के लिए पिछड़ी कही जाने वाली जातियों के विद्यार्थियों के छात्रावास बन्द कर दिए गये और उन सबको कॉलेजों के साथ सम्बन्धित छात्रावासों और भोजन गृहों में कम खर्च पर स्थान दिया गया।

विद्यार्थी-नियुक्ति-बोर्ड का काम विद्यार्थियों को उनके लिए व्यवसाय तथा कार्यक्षेत्र के चुनाव में मार्गदर्शन करना, मालिकों से सम्पर्क स्थापित कर उनकी आवश्यकतानुसार उनके सम्मुख कार्य में सक्षम युवकों की सिफारिश करना था। पब्लिक सर्विस के लिए होने वाली प्रतियोगिता परीक्षाओं में बैठने के लिए युवकों को विशेष प्रशिक्षण देने की व्यवस्था करना था।

इस तरह श्यामाप्रसाद शिक्षित युवकों को, जिनमें बेकारी तेजी से फैल रही थी, उचित कार्य दिलाने में प्रयत्नशील थे। वे इस बात के सख्त विरुद्ध थे कि उच्च-शिक्षा सबको न दी जाए, क्योंकि 'विश्वविद्यालयों के प्रशिक्षित सभी युवकों को उचित नियुक्तियाँ नहीं मिल सकतीं।'

उनका विचार था कि समाज और राज्य का यह कर्त्तव्य है कि शिक्षित लोगों को उपयोगी काम दे। यह कार्य सीधे किसी शिक्षा-केन्द्र द्वारा नहीं हो सकता, जिसका प्रमुख काम समाज को उचित पद्धति व आदर्श के अनुसार शिक्षित नर-नारी बहुल बनाना है।

उन्होंने स्वयं उद्योग तथा विज्ञान सम्बन्धी शिक्षा की ओर अधिक ध्यान दिया। सरकार से तिलमात्र प्रोत्साहन के बिना भी उन्होंने कृषि-शास्त्र के शिक्षण की योजना बनाकर उसे डिप्लोमा कोर्स बनाया। उन्होंने विश्वविद्यालय के व्यावहारिक रसायन-शास्त्र विभाग में बृहत् परिमाण में औद्योगिक वस्तुओं के निर्माण की योजना भी बनाई। उन्होंने विज्ञान-विभाग के विस्तार और उपकरण-सज्जा की ओर विशेष ध्यान देकर इनकी सराहनीय उन्नति की और इस तरह अपने पिता के स्वप्नों

को साकार किया।

कलकत्ता विश्वविद्यालय को भारतीय ज्ञानपीठ बनाने के लिए श्यामाप्रसाद ने कई कार्य किये। उन्होंने कला-विभाग में भारतीय इतिहास और संस्कृति के अंग रूप में तिब्बती और चीनी भाषा का अध्ययन शुरू करवाया। आशुतोष संग्रहालय का शिलान्यास किया और पुरातत्व विभाग के तत्वावधान में खुदाइयों का काम शुरू करवाया। उन्होंने विश्वविद्यालयों के पुस्तकालयों के हाल में भारतीय संस्कृति और सभ्यता में बंगाल के योगदान का विशेष प्रसंग देकर भित्तिचित्रों द्वारा सुन्दर चित्रण करवाया।

अगस्त, 1938 में उपकुलपति के पद से मुक्त होने से पहले श्यामाप्रसाद ने कलकत्ता विश्वविद्यालय के लिए सरकारी आर्थिक सहायता से महत्वपूर्ण प्रश्न को हल किया। यह उनका विश्वविद्यलय सम्बन्धी अंतिम, किन्तु महत्त्वपूर्ण कार्य था। इस प्रश्न को लेकर ही 1923 में सर आशुतोष का लॉर्ड लिटन के साथ मनोमालिन्य तक हो चुका था और यह तभी से यह मामला खटाई में पड़ा हुआ था तथा सिरदर्द का कारण चला आ रहा था। समझौते के अनुसार कलकत्ता विश्वविद्यालय को प्रतिवर्ष 4,85,000 रुपये के वार्षिक अनुदान का आश्वासन दिया गया।

अब श्यामाप्रसाद कलकत्ता विश्वविद्यालय के प्रति अपनी अमूल्य सेवाओं और एक प्रतिभाशाली शिक्षा-शास्त्री के नाते विश्वविख्यात हो चुके थे। फलस्वरूप वे पूर्वी भारत के विश्वविद्यालयों के प्रतिनिधि के रूप में इण्डियन इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस, बंगलौर की प्रबन्धकर्त्री सभा के सदस्य चुने गये और इंटर यूनिवर्सिटी बोर्ड के, जिसके निर्माण में उनका प्रमुख हाथ था, सभापति भी चुने गये।

श्यामाप्रसाद की अमूल्य सेवाओं के उपलक्ष्य में नवम्बर, 1938 में आयोजित एक विशेष दीक्षान्त समारोह में कलकत्ता विश्वविद्यालय की ओर से सम्मानार्थ इन्हें 'डॉक्टर ऑफ लॉ' की उपाधि दी गई। उक्त अवसर पर बोलते हुए, कुलपति लॉर्ड बरबोर्न ने अत्यन्त उपयुक्त श्रद्धा-सुमन अर्पित करते हुए कहा, 'यह कोई नहीं कह सकता कि सम्मान हेतु दी गई यह डिग्री श्यामाप्रसाद को इसलिए नहीं दी गई है कि वे एक महान् पिता के सुपुत्र हैं, अपितु इसलिए कि वे श्यामाप्रसाद हैं और उन्होंने इसे प्राप्त करने की अपूर्व योग्यता दिखलाई है।'

उपकुलपति के पद से विश्राम लेने के बाद भी उनका विश्वविद्यालय से सम्बन्ध बना रहा। वे कई वर्षों तक उसके जीवन और कर्णधार बने रहे। 1938 के बाद राजनीति में अधिकाधिक व्यस्त रहने के कारण तथा कार्यक्षेत्र बहुत विस्तृत हो जाने के बावजूद शिक्षा और विशेषकर कलकत्ता विश्वविद्यालय के सम्बन्ध में उनकी रुचि पूर्ववत् बनी रही। वे अब पूरे देश में शिक्षा-सम्बन्धी समस्याओं के सर्वश्रेष्ठ विशेषज्ञ माने जाने लगे और शैक्षिक विषयों पर उनकी सम्मति बहुत

उत्सुकता तथा आदर से सुनी जाने लगी। बनारस विश्वविद्यालय ने भी उनका सम्मान करते हुए 1938 में उन्हें 'डॉक्टर ऑफ लॉ' की उपाधि दी। भारत सरकार ने भी इसी वर्ष उन्हें राष्ट्रसंघ (लीग ऑफ नेशन्स) की बौद्धिक सहयोग समिति (कमेटी ऑफ इंटेलेक्चुअल कॉआपरेशन) में इनका सम्मान किया। बंगाल की रॉयल एशियाटिक सोसाइटी और भारत में एशियाई अध्ययन की प्रमुख संस्था ने भी सन् 1943 में उन्हें अपना सभापति चुनकर उनके प्रति अपना सम्मान प्रदर्शित किया। इस प्रकार शिक्षा के क्षेत्र में उन्होंने अपने लिए ऐसा स्थान बनाया जिसके कारण उनके राजनीतिक-विरोधियों के मन में भी जीवन-पर्यन्त उनके लिए श्रद्धा बनी रही।

5. राजनीति की ओर

भारतीय स्वतंत्रता के संघर्षकाल में शिक्षा से राजनीति की ओर अभिमुख होना बड़ी साधारण-सी बात हो गई थी। शिक्षा से जनमानस में जागृति की लहर दौड़ी और ऐसी राजनीतिक चेतना उत्पन्न हुई कि विदेशी पंजों में जकड़ी हुई जनता मुक्ति के लिए छटपटाने लगी। परिणामत: शिक्षित व्यवसाय-प्रधान वर्ग, यथा वकील, डॉक्टर, अध्यापक आदि से ही अधिकांश राजनीतिक कार्यकर्ता और नेताओं का आविर्भाव हुआ।

हमारे चरितनायक डॉ. श्यामाप्रसाद मुकर्जी जैसे व्यक्ति का भी शिक्षा-क्षेत्र से राजनीति के अखाड़े में आ जाना सहज सम्भाव्य ही नहीं अपितु अनिवार्य भी था। राष्ट्रीयता की नैसर्गिक भावना, अपूर्व उत्साह व शौर्य, प्रचण्ड वाग्मिता तथा जनता के न्यायोचित हितों की रक्षा करने की चिन्ता राजनीति के मैदान में ले आने के लिए बहुत काफी थी। हाईकोर्ट से विश्राम लेने के पश्चात् इनके पिता सर आशुतोष का विचार भी राजनीति के प्रांगण में जाने का ही था, किन्तु विधाता को यह स्वीकार नहीं था। सम्भव है पिता की अधूरी आकांक्षाएं भी श्यामाप्रसाद को राजनीति की ओर लाने में किंचित् क्रियाशील रही हों, किन्तु उनके इस पदार्पण का मुख्य कारण तो राजनीतिक गतिविधियाँ थीं जो विशेष रूप में सन् 1935 के गवर्नमेण्ट ऑफ इंडिया एक्ट के लागू होने के पश्चात् प्रकाश में आईं। श्यामाप्रसाद मुकर्जी को मुस्लिम लीग की गुण्डागर्दी तथा विनाशात्मक प्रवृत्तियों और कांग्रेस की व्यवहार शून्यता तथा ढुलमुलपन से शिक्षा-क्षेत्र में अपने व अपने पिता के जीवन-भर परिश्रमपूर्ण कमाई की रक्षा करने के लिए ही सक्रिय राजनीति में पर्दापण करना पड़ा।

वैसे तो 1929 से ही जब वे विश्वविद्यालय के क्षेत्र में कांग्रेसी प्रत्याशी के रूप में बंगाल विधान-सभा में चुने गये थे, उन्होंने राजनीतिक कार्यधारा प्रारम्भ कर दी थी, परन्तु उनकी इस समय की राजनीति उनके शिक्षा-सम्बन्धी कार्यों का ही अंग थी। वे विधानसभा में मुख्यत: कलकत्ता विश्वविद्यालय के हितों की रक्षा के लिए ही गये थे।

परन्तु कुछ महीने बाद ही कांग्रेस द्वारा विधान-सभाओं के बहिष्कार की बात से वे दुविधा में पड़ गये। एक ईमानदार व्यक्ति के नाते कांग्रेस के निश्चय की उपेक्षा करना कठिन था, किन्तु यथार्थवादी होने के नाते उन्होंने यह स्पष्ट महसूस किया कि किसी एक व्यक्ति का विश्वविद्यालय के हितों की दृष्टि से वहाँ रहना बहुत आवश्यक है। ब्रिटिश शासनतंत्र की आँखों में विश्वविद्यालय राजद्रोहात्मक

विचारों की प्रसार व प्रचार भूमि के रूप में पहले ही खटक रहा था, जिससे ऐसी सम्भावना दिखती थी कि वह मुस्लिम लीग की सहायता से इस पर अपना अधिकार बढ़ाने की कुचेष्टा करेगा। निदान उन्होंने विधानसभा से त्यागपत्र देकर दुबारा उसी क्षेत्र में स्वतंत्र प्रत्याशी के रूप में चुनाव लड़ा और पुनर्निवाचित हुए। इस अरसे में उन्हें कांग्रेस और लीग को समझने की मर्मभेदी दृष्टि भी मिली। 'कम्यूनल एवार्ड' के प्रति कांग्रेस के रुख से इन्हें घोर मानसिक आघात लगा। और इसके प्रति उनकी निष्ठा विचलित हो गई, किन्तु इस समय तक विधानसभा के अन्दर और बाहर विश्वविद्यालय का कार्य और उसके हितों की रक्षा ही उनका प्रमुख लक्ष्य था।

1937 में गवर्नमेण्ट ऑफ इंडिया एक्ट के प्रान्तीय भाग के लागू होने और इसी वर्ष प्रान्तीय विधान-सभाओं के चुनाव से एक नई स्थिति उत्पन्न हो गई। वे भी विश्वविद्यालय के क्षेत्र से बंगाल असेम्बली के लिए फिर निर्वासित हुए। इससे उन्हें प्रान्तीय स्वायत्त शासन को बहुत निकट से देखने का अवसर मिला।

'कम्यूनल एवार्ड' पर आधारित नई विधान-सभा के कुल 250 सदस्य थे, जिनमें केवल 80 हिन्दू थे और उनमें से अधिकतर कांग्रेस टिकट पर जीतकर आए थे। मुसलमान सदस्य मुस्लिम-लीग और कृषक-प्रजापार्टी में बँटे हुए थे, जिनमें नेता क्रमशः श्री एच.एस. सुहरावर्दी और श्री ए.के. फजलुलहक थे। विधानसभा के अन्दर और बाहर होने वाली घटनाओं और परिस्थितियों के प्रति कांग्रेस की नीतियों ने अल्पकाल ही में श्यामाप्रसाद को इसकी रीति-नीति पर पुनः विचार करने के लिए विवश कर दिया। उन्होंने यह स्पष्ट देखा कि कांग्रेस में नीति-कौशल के अभाव के कारण सभी मुसलमान सदस्य मुस्लिम लीग के दायरे में जा रहे हैं जो बंगाल के सामयिक, शैक्षिक तथा सांस्कृतिक जीवन, बंगाल सेकेण्डरी एजुकेशन बिल, दी यूनिवर्सिटी बिल, दी कैलकटा कारपोरेशन बिल आदि विधेयक तेजी से पारित करवाकर संकट में डाल हिन्दुओं के समता व आत्मसम्मानयुक्त अस्तित्व को विपज्जाल में डाल रही है। इन बिलों का उद्देश्य बंगाल के शैक्षिक जीवन के मूल ढाँचे पर ही, जिसे आशुतोष ने अपने कई दानवीर हिन्दुओं और अध्येताओं के सहयोग से अपने जीवन-रस से सींचा था और जिसे पुष्पित-पल्लवित करने के लिए श्यामाप्रसाद कठोर प्रयास कर रहे थे, कुठाराघात करना था। यह स्थिति उनके पौरुष को मानो चुनौती थी। वे अपने जीवन-कार्यों को उच्छृंखल तथा नवजात राजनीतिक पत्तेबाजों के हाथों नष्ट होता नहीं देख सकते थे। कर्त्तव्य की ललकार ने उन्हें विक्षुब्ध कर दिया। उपकुलपतित्व से विश्राम लेने पर इस पद की जिम्मेदारियाँ ज्योंही टलीं, त्योंही वे निश्चिन्त हो राजनीति के क्षेत्र में सवेग बढ़ने लगे।

उनके लिए अब यह आवश्यक था कि वे देश की किसी भी राजनीतिक पार्टी को अपनी आधारभूमि बनाते। देश की सर्वाधिक सुदृढ़ व सुसंगठित पार्टी इंडियन नेशनल कांग्रेस के साथ श्यामाप्रसाद का अपने सार्वजनिक जीवन के प्रारम्भ से ही जिस प्रकार निष्क्रिय सम्बन्ध बना आया था, वे सहज रूप में इसे ही चुनते, किन्तु विधान-सभा के अन्दर और बाहर इसकी विचारधारा और इसके दर्शन के सैद्धान्तिक व व्यावहारिक स्वरूप का जो चित्र उन्होंने देखा इसने इनका मोहावरण दूर कर दिया। महान् राष्ट्रीय-से-राष्ट्रीय हितों को दाव पर रखकर मुस्लिम लीग से समझौता करने की कांग्रेसी नीति उनके सदृश सच्चे राष्ट्रानुरागी के लिए घोर अरुचिकर थी।

वे अब दुविधा में थे। सत्यान्वेषक होने के कारण वे प्रकाश की खोज में थे और उनका वेदनापूर्ण हृदय मार्गदर्शक की खोज में था।

उन्हीं दिनों विख्यात क्रांतिकारी तथा लोकमान्य तिलक के अन्तरंग साथी श्री वी.डी. सावरकर बम्बई की कांग्रेस सरकार द्वारा रत्नागिरि जिले में लम्बी नजरबन्दी के बाद मुक्त होकर कलकत्ता आए थे। उस समय कांग्रेस उन्हें ऊँची-से ऊँची पदवी देने के लिए तैयार थी, किन्तु उन्होंने उसमें सम्मिलित होने के प्रस्ताव को ठुकरा दिया। उन्होंने महसूस किया कि कांग्रेस के जिन लक्ष्यों और आदर्शों से प्रेरित होकर उन्होंने तन-मन से उसकी सेवा की थी उन्हें वह तिलांजलि दे चुकी है। वीर सावरकर का यह निश्चित मत था कि कांग्रेस राष्ट्रीयता के उच्चासन से पतित हो चुकी है और उसकी प्रमुखतया, हिन्दुओं से सम्बन्ध रखने वाले राष्ट्रीय हितों की वेदी पर मुस्लिम लीग के तुष्टीकरण की नीति निश्चय ही भारतीय एकता का विनाश कर इसके राष्ट्रीय-स्रोत को दूषित कर देगी। इसलिए उन्होंने न केवल कांग्रेस में शामिल होने से इन्कार कर दिया अपितु कांग्रेसजनों में घोर खलबली पैदा करते हुए हिन्दू महासभा में सम्मिलित होने का निश्चय किया। हिन्दू महासभा को उन्होंने हिन्दुत्व के आधार पर विशुद्ध राष्ट्रीयता के निर्माण व प्रचार का प्रभावी साधन बनाने का संकल्प किया और थोड़े ही समय में उन्होंने हिन्दू महासभा में जीवन का संचार कर दिया। वे बंगाल में महासभा आन्दोलन के पुनर्गठन की दृष्टि से ही कलकत्ता आए थे।

यहाँ उनके यजमान श्री एन.सी. चटर्जी ने कलकत्ता के कई प्रमुख नागरिकों को बुलाया जिनमें डॉ. श्यामाप्रसाद भी सम्मिलित थे। वीर सावरकर द्वारा भारत की राजनीतिक स्थिति का विश्लेषण, उनकी मुस्लिम पृथक्तावाद को हिला देने वाली विशुद्ध राष्ट्रीयता तथा विदेशी शासकों की विघटनात्मक दुर्नीति की विवेचना से श्यामाप्रसाद अत्यधिक प्रभावित हुए और उन्हें विश्वास हो गया कि बंगाल तथा अन्यत्र मुस्लिम-लीग द्वारा उपस्थित की गई समस्याओं का यर्थाथवादी हल वीर

सावरकर की विचारसरणी में ही मिल सकता है। फलतः उन्होंने हिन्दू महासभा में सम्मिलित होकर उसे मुस्लिम-लीग की राष्ट्रघातक नीतियों और कांग्रेस की पुरुषार्थहीन निष्क्रियता के पराभव का सुदृढ़ साधन बनाने का निश्चय किया। उन्होंने उसी वर्ष दिसम्बर में कलकत्ता में होने वाले अखिल भारतीय हिन्दू महासभा के वार्षिक अधिवेशन में प्रमुख भाग लिया और उसके उपसभापति बनाये गये। थोड़े समय के पश्चात् निर्वाचित अध्यक्ष वीर सावरकर की अस्वस्थता के कारण उन पर हिन्दू महासभा के कार्यवाहक अध्यक्ष के रूप में काम करने का भार भी आ पड़ा।

उन्हीं दिनों डॉ. श्यामाप्रसाद को प्रभावित करने वाले दूसरे महापुरुष राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के आद्य संचालक स्वनामधन्य डॉ. केशव बलिराम हेडगेवार थे। हिन्दुओं के दृढ़ीकरण के लिए इनके विश्वासपूर्ण, शान्त व सफल प्रयासों को देखकर डॉ. मुकर्जी को अपने नव-निर्धारित पथ में आशा और विश्वास का उज्ज्वल आलोक मिला।

कांग्रेस में शामिल होते तो डॉ. मुकर्जी शीघ्र ही उसमें उच्च-स्थान पर पहुँच जाते। उनके इस विपरीत निर्णय ने आलोचकों के साथ-साथ उनके कई मित्रों को भी टीका-टिप्पणी करने का अवसर दिया, जिसका उत्तर डॉ. मुकर्जी के लेखों और वक्तृताओं में स्पष्ट मिलता है। दिसम्बर, 1943 में हिन्दू महासभा के अधिवेशन में हिन्दू महासभा ही क्यों? इस प्रश्न को लेकर उन्होंने कहा—

'जब तक भारत के प्रशासनिक क्षेत्र में साम्प्रदायिक पक्षपात का बोलबाला है और एंग्लो-मुस्लिम षड्यंत्र का पनपना जारी है, तब तक हिन्दू महासभा को एक क्रियाशील और निर्भीक राजनीतिक संगठन के रूप में आगे बढ़ना है, क्योंकि एकमात्र उसी में हिन्दुओं तथा समग्र रूप में भारत के अधिकारों की रक्षा करने की सामर्थ्य है। जब तक भारत में एक तीसरी पार्टी जीवित है, जब तक ब्रिटिश सरकार से पृष्ठ-पोषण-प्राप्त कलहप्रिय राष्ट्रघातक तथा हिन्दू-विरोधी पार्टी मुस्लिम-लीग, मुस्लिम जनता को प्रभावित कर बहुमतों के मूल अधिकारों को हड़पने की योजना बना रही है, तब तक हिन्दुओं को अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए ही अपने अधिकारों और स्वाधीनता की रक्षा करने के लिए अपना राजनीतिक संगठन जरूर ही बनाना चाहिए। हिन्दू महासभा का राजनीतिक लक्ष्य भारत की पूर्ण स्वाधीनता है अगर आवश्यक हो तो निश्चित सीटें रखी जाएँ, वैसे संयुक्त मतदान में ही हिन्दू महासभा का विश्वास है। यह सभा देश के किसी भी भाग में हिन्दुओं के लिए विशेष सुविधाओं की माँग नहीं करती। इसके लक्ष्य और नीतियों में समग्र भारत के कल्याण और अभ्युत्थान की कामना निहित है। हाँ, अगर ऐसा मंगलमय दिन आए जब भारत के प्रशासनिक क्षेत्र से धर्म तथा सम्प्रदाय-सम्बन्धी पक्षपात दूर हों

और सभी पार्टियों का एक ही राष्ट्रीय आदर्श हो, तब हिन्दुओं के लिए सम्भवत: किसी अलग राजनीतिक संगठन की आवश्यकता न रहे। यथार्थ से मुँह मोड़ने वाली राजनीति न केवल निरर्थक है अपितु भयावह भी है।'

यथार्थ की यह चेतना जीवनपर्यन्त डॉ. मुकर्जी के राजनीतिक कार्यकलाप की मूल शक्ति रही। यथार्थ के आह्वान पर ही वे हिन्दू महासभा की ओर गये। उन्होंने उसका निर्माण कर राष्ट्रीय कल्याण कार्यों में उसका सदुपयोग किया और स्वतंत्रता के अरुणोदय के पश्चात् उसकी उपयोगिता महसूस न करने पर उससे अवकाश लिया।

26 जनवरी, 1940 को महात्मा गाँधी सदृश व्यक्ति ने भी कलकत्ता में पहली बार डॉ. मुकर्जी को मिलने पर उनके हिन्दू महासभा में सम्मिलित होने पर हर्ष प्रकट किया। महात्मा जी उस समय ढाका के निकटवर्ती स्थान मालीकण्डा में निखिल भारत चरखा संघ की सभा में शामिल होकर लौटे ही थे। वहाँ उन्हें नोआखाली तथा अन्य स्थानों में मुस्लिम लीग मिनिस्ट्री द्वारा गुप्त उत्तेजना पाकर मुसलमानों के हिन्दू-विरोधी दंगों के समाचार मिले जिससे वे हिन्दुओं के प्रति बहुत चिन्तित हो उठे थे।

डॉ. मुकर्जी ने गाँधी जी से पूछा कि कांग्रेस इस पृथक् मतदान प्रणाली का विरोध क्यों नहीं करती? इससे तो आगे जाकर भारत के विच्छेद की आशंका भी हो सकती है। उन्होंने अपने कथन की पुष्टि में लेडी मिण्टो की डायरी का प्रसंग भी दिया। गाँधी जी डायरी के विषय में बिलकुल अनभिज्ञ थे। उन्होंने डॉ. मुकर्जी से उसके चुने हुए अंश भेजने का अनुरोध किया।

जब महात्माजी को डॉ. मुकर्जी के हिन्दू महासभा में प्रवेश की बात बतलाई गई तब वे बोले—'मालवीयजी के बाद हिन्दुओं का नेतृत्व करने वाले की आवश्यकता थी।'

इस पर डॉ. मुकर्जी ने टिप्पणी करते हुए कहा—'तब आप साम्प्रदायिक कहकर मेरी भर्त्सना करेंगे।'

गाँधी जी का उत्तर था—'समुद्रमंथन के बाद भगवान् शिव ने जैसे विषपान कर लिया था, उसी तरह भारतीय राजनीति के विष को पीने के लिए भी किसी की आवश्यकता थी, वह तुम ही पूरी कर सकते हो।'

गाँधी जी डॉ. मुकर्जी के उदार और सर्वांशत: राष्ट्रवादी दृष्टिकोण से बहुत प्रभावित थे। विदा के पहले वे बोले, 'पटेल एक कांग्रेसी है जिसका हृदय हिन्दू का है, तुम एक हिन्दूसभाई हो जिसका हृदय कांग्रेस का है।'

डॉ. मुकर्जी के प्रशंसकों और आलोचकों, सभी ने उनके सक्रिय राजनीति में प्रवेश का अभिनन्दन किया। अपनी बौद्धिक प्रखरता, निर्भीक अन्तश्चेतना,

नैतिक उच्चता और प्रचण्ड वाग्मिता के कारण उनका देश के राजनीतिक मंच पर आने का सर्वत्र स्वागत हुआ, परन्तु कुछ आत्मानुभवी लोग, जो जानते थे कि राजनीति कैसी अभिनिवेशमयी बला है, सोचने लगे कि राजनीति की उपलब्धि देश के उस शैक्षिक व सांस्कृतिक जीवन के ह्रास का कारण बनेगी जिसमें डॉ. मुकर्जी पहले ही अतुल्य प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके हैं।

कांग्रेस के एक बड़े नेता ने एक बार उन्हें लिखते हुए सहज मन्तव्य दिया, 'सक्रिय राजनीति तो शेर की सवारी के समान है। उसकी सवारी तो ठीक की जा सकती है, किन्तु उससे उतरना असम्भव हो जाता है।' इस उक्ति की सत्यता को अनुभव करने के बाद अपने अन्तिम वर्षों में डॉ. मुकर्जी बहुत बार इस उक्ति को याद किया करते थे, परन्तु इसके बावजूद उन्हें वस्तुतः इस बात का श्रेय था कि राजनीति के झमेलों में पकड़कर भी उन्होंने शिक्षा तथा संस्कृति-सम्बन्धी कार्यकलाप से अपना सम्बन्ध अविच्छिन्न रखा। वे आजीवन कलकत्ता विश्वविद्यालय, रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस बंगलौर और महाबोधि सोसाइटी ऑफ इंडिया को अपने सक्रिय सहयोग तथा मार्गदर्शन से लाभान्वित करते रहे।

राजनीति के क्षेत्र में भी श्यामाप्रसाद का सितारा शीघ्र ही चमकने लगा। वे पहले ही बहुत विख्यात थे। बंगाल पर उनकी बहुमुखी प्रतिभा और सौहार्द की ऐसी छाप पड़ चुकी थी कि बंगाल की हिन्दू महासभा उनके प्रवेश करते ही ऐसी गतिशील हो गई मानो उसमें विधुत-संचार हो गया हो। हिन्दू समाज का शिक्षित वर्ग अनायास ही इसकी ओर आकर्षित होने लगा और शीघ्र ही वह बंगाल की राजनीति का एक शक्तिशाली केन्द्र बन गई। श्यामाप्रसाद ने बड़ी निर्भीकता और बुद्धिगम्यता के साथ महासभा के आदेशों का प्रतिपादन किया। हिन्दुओं तथा भारत के महत्तर राष्ट्रीय हितों की वेदी पर मुस्लिम लीग और अन्य राष्ट्रघातक शक्तियों को प्रोत्साहन देने व उनसे समझौता करने की कांग्रेस की दुर्नीतियों की उन्होंने जो धज्जियाँ उड़ाई उससे न केवल बंगाल, अपितु समस्त भारत में एक हलचल उत्पन्न हो गई।

सन् 1940 में अखिल भारतीय हिन्दू महासभा के निर्वाचित अध्यक्ष वीर सावरकर की लगातार अस्वस्थता के कारण श्यामाप्रसाद को उनका कार्यभार सँभालने और इस तरह महासभा के आदर्शों को अपने ढंग से जनता के सम्मुख रखने का उपयोगी अवसर मिला। पूरे भारतवर्ष का भ्रमण कर उन्होंने विराट् जनसभाएँ कीं और अपने सम्पर्क में आने वाले सभी लोगों को अपने व्यक्तित्व तथा विचारों से बहुत प्रभावित किया।

लेखक को पहली बार सन् 1940 में लाहौर में इनका व्याख्यान सुनने का अवसर मिला। प्रचण्ड शीत होने पर भी बहुत लोग आए थे। डॉ. साहब ने अंग्रेजी में हिन्दू महासभा के उद्देश्यों और आदर्शों की विशद् व्याख्या करते हुए कांग्रेस से उसके मतभेदों पर सुन्दर प्रकाश डाला। उनका भाषण ऐसा ओजस्वी तथा तर्कसंगत था कि श्रोतागण को सोचने-समझने की एक नई दिशा मिली। उनके भाषण के बाद भी कई लोगों में यह चर्चा हुई कि डॉक्टर साहब ने महासभा की जैसी रूपरेखा खींची है, यदि वह सत्य है तो वही एक संस्था है, न कि कांग्रेस; जो समय की चुनौती को स्वीकार कर सकती है।

उसी समय लाहौर में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की समवेत शाखा को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा, 'इस संस्था में मैं भारत के मेघाच्छादित आकाश में आशा की उज्ज्वल किरण देखता हूँ।'

हिन्दू महासभा के प्रचारार्थ इनके लगातार भ्रमण ने देश-भर में विचारों की आँधी-सी उठा दी। कोने-कोने में यह अनुभव किया गया कि भारत के राजनीतिक

आकाश में एक नये और अपूर्व आभामय नक्षत्र का उदय हो रहा है। उनके व्यक्तित्व से हिन्दू महासभा को अपूर्व प्रतिष्ठा मिली और वे स्वयं एक अखिल भारतीय नेता बन गए।

किन्तु बंगाल की करुण स्थिति के कारण कुछ अरसे तक उनका ध्यान प्रमुखतया वहीं केन्द्रित रहा। वहाँ ब्रिटिश सरकार से पृष्ठपोषित मुस्लिम-लीग देश-प्रेम के अपराधी हिन्दुओं को प्रताड़ित कर उनके लिए चिन्ताजनक स्थिति उत्पन्न कर रही थी। यही कारण था जिससे श्यामाप्रसाद ने सरस्वती की वन्दना छोड़ राजनीति के क्षेत्र में पदार्पण किया था। इसलिए उन्होंने सहज ही यह महसूस किया कि उन पर बंगाल का सबसे पहले दावा है।

बंगाल में उनका कार्य द्विमुखी था। पहला, मुस्लिम-लीग की चुनौती का मुकाबला करना और दूसरा, कांग्रेस के नेतृत्व के मुक़ाबले में अपनी स्थिति बनाना, क्योंकि तब तक बंगाल में कांग्रेस यह समझती थी कि हिन्दू तो उसकी घर की खेती है जिसे वह जब चाहे काट ले।

श्री सुभाषचन्द्र बोस उस समय बंगाल के प्रमुख कांग्रेसी नेता थे। त्रिपुरा कांग्रेस के समय गाँधी जी का दृढ़तापूर्वक विरोध करने तथा कांग्रेस के अध्यक्ष-पद से मुक्त होने के कारण वे बंगाल के एक लोकप्रिय जननायक बन गये थे। उसी वर्ष कारपोरेशन के चुनाव होने वाले थे। सुभाष बोस चाहते थे कि वैसे तो बंगाल-भर में, किन्तु विशेषकर कलकत्ता में अपनी स्थिति सुदृढ़ बनाकर वे कांग्रेस हाईकमान के समक्ष अपनी शक्ति का परिचय दें। डॉ. मुकर्जी ने भी हिन्दू महासभा के प्रत्याशी खड़े करने का निश्चय किया। बंगाली हिन्दुओं का समर्थन प्राप्त करना ही दोनों को इष्ट था। स्थिति को देखते हुए सुभाष बोस ने महसूस किया कि हिन्दू महासभा, मुस्लिम लीग और उनके दल की त्रिमुखी स्पर्धा में मुस्लिम लीग की बाजी ले जाने की सम्भावना है। अत: उन्होंने डॉ. मुकर्जी से समझौता करना चाहा। उन्होंने उनके समक्ष प्रस्ताव रखा कि परस्पर विचार-विमर्श के बाद वे एक-दूसरे के लिए कुछ चुनाव क्षेत्र छोड़कर निर्णीत सीटें ही लड़ें। डॉ. मुकर्जी सहमत हो गए। शीघ्र ही अपने-अपने चुनाव-क्षेत्र तथा प्रत्याशी चुन लिए गए, किन्तु दो-एक चुनाव क्षेत्रों के प्रत्याशियों के विषय में वे एकमत न हो सके। डॉ. मुकर्जी ने एक सुझाव दिया कि दोनों पार्टियाँ एक-दूसरे को एक-एक पैनल दें और उनमें से एक-एक चुनकर उन्हें उभय पक्ष मान ले। सुझाव मान लिया गया। सुभाष बोस ने डॉ. मुकर्जी के दिए गए पैनल से एक व्यक्ति चुन लिया, परन्तु डॉ. मुकर्जी ने श्री सुभाष के पैनल से जो व्यक्ति चुना वह उन्हें पसंद नहीं आया। सुभाष बोस समझौते के विपरीत अपने एक ऐसे समर्थक को खड़ा करना चाहते थे जो न कांग्रेसी था, न हिन्दू-सभाई। सुभाष बोस उसकी शारीरिक सहायता चाहते थे। डॉ. मुकर्जी

ने युक्तियुक्त सम्भाषण द्वारा सुभाष बोस को समझौते पर अडिग रखने की बहुत कोशिश की, किन्तु वे न माने। उनका यही कोरा जबाव था कि सभी मामलों में शक्ति ही अन्तिम तर्क है, समझौता भंग होता हो तो बेशक हो। वे किसी अन्य प्रत्याशी को खड़ा नहीं करेंगे और सभी सीटें लड़ेंगे, भले ही इससे तीसरी पार्टी मुस्लिम लीग लाभान्वित हो। कलकत्ता के कारपोरेशन को मुस्लिम लीग के हाथों से बचाने की डॉ. मुकर्जी की प्रार्थना का उन पर कोई असर नहीं हुआ। निदान, अनिच्छावश ही डॉ. मुकर्जी को उनकी चुनौती स्वीकार करनी पड़ी। अपने प्रिय पात्र की सहायता से शक्ति-प्रयोग द्वारा सुभाष बोस ने महासभाई उम्मीदवारों को दबाना चाहा। उनके आदमी महासभा की जनसभाएँ भंग करवा देते और उम्मीदवारों को पीटा करते थे। परिणामस्वरूप महासभाई उम्मीदवार ऐसे आतंकित और भयभीत हो गए कि उन्होंने सभाएँ करना ही बन्द कर दिया। इसे सहन करना डॉ. मुकर्जी के वश के बाहर की बात थी। उन्होंने वक्ता के रूप में अपना नाम देकर एक सभा की घोषणा करवा दी, परन्तु वे बोलने के लिए जैसे ही खड़े हुए, उनके सिर पर एक पत्थर लगा और तेज रक्तस्राव होने लगा। इससे श्रद्धालु जनता क्रुद्ध हो उठी और उसने सुभाष बोस के गुण्डों की मरम्मत की। इसके उपरान्त फिर गुण्डागर्दी नहीं हुई और शीघ्र ही सुभाष बोस ने डॉ. मुकर्जी से मिलकर यह सुझाव दिया कि एक-दूसरे की सभाएँ भंग करने या उनमें कोई अड़चन डालने की कोशिश बिल्कुल नहीं होनी चाहिए।

इस घटना से डॉ. साहब का व्यक्तित्व झलकता है। वे अब कलकत्ता के नागरिकों के एक प्रमुख राजनीतिक नेता बन चुके थे। सुभाष बोस के हृदय पर भी उनका सिक्का जम चुका था। वे अब न केवल उनका आदर ही करने लगे थे अपितु उनसे मैत्री जोड़ने को भी उत्सुक हो चुके थे।

यह मैत्री धीरे-धीरे पारस्परिक आकर्षण और मोह में परिणत हो गई। दोनों ही कर्मठ और निर्भीक देशभक्त थे और अन्ततः दोनों ने ही जननी-जन्मभूमि की स्वाधीनता की वेदी पर अपने-अपने प्राण उत्सर्ग कर दिये।

मुस्लिम-लीग की समस्या दूसरे ही प्रकार की थी। ब्रिटिश शासन से पृष्ठपोषित होकर मुस्लिम-लीग की मिनिस्ट्री बंगाल के जीवन को मुसलमानी साँचे में ढालने का सुनियोजित प्रयत्न कर रही थी। उसके कार्यक्रम के दो प्रमुख अंग थे। पहला, पूरे बंगाल, विशेषकर पूर्वी बंगाल में ऐसे दंगे करवाना कि हिन्दू अपना चूल्हा-चक्की छोड़कर या तो भाग जाएँ या मुसलमान बन जाएँ। दूसरा कार्यक्रम यह था कि विश्वविद्यालय तथा सेकेण्डरी एजुकेशन पर से हिन्दुओं का प्रभाव हटाकर शिक्षा और संस्कृति के क्षेत्रों में उनकी प्रधानता समाप्त की जाए और शासन में मुसलमानों की भर्ती की जाए।

डॉ. मुकर्जी ने बड़ी सफलता के साथ इन योजनाओं का मटियामेट कर दिया। वे दंगाग्रस्त क्षेत्रों में जाकर हिन्दुओं को उत्साह देने और लीग का विधिवत् पर्दाफाश करने के लिए सबसे पहले तैयार थे। सन् 1940 में जब ढाका की दंगों की अग्नि में झुलस रहा था, उस समय डॉ. मुकर्जी जिस वेग से वहाँ पहुँचे और वहाँ की दु:खी जनता की रक्षार्थ उन्होंने जिस शौर्य, निर्भीकता तथा जन-प्रेम का परिचय दिया वह एक स्मरणीय गाथा बन चुकी है।

इन दंगों के पीछे एक बाकायदा योजना थी और देश को इस हत्याकाण्ड की खबर न लग सके, ऐसा षड्यंत्र भी था। डिफेन्स ऑफ इण्डिया रूल्स के अनुसार प्रेस को भी इसका कोई भी समाचार प्रकाशित करना मना था, किन्तु जैसे ही डॉ. मुकर्जी को इसका पता चला उन्होंने ढाका जाने का निश्चय किया। ब्रिटिश चीफ सेक्रेटरी ने पहले तो जाने की अनुमति ही नहीं दी! बहुत आग्रह के बाद अनुमति मिली भी तो सवारी का प्रबन्ध नहीं था। एक चार्टड जहाज लीग के कुछ मंत्रियों को ढाका ले जा रहा था। श्यामाप्रसाद ने गवर्नर से उस जहाज में एक सीट देने की प्रार्थना की, किन्तु इनके हवाई अड्डे पहुँचने तक वह जहाज छूट गया था। ऐसा जान-बूझकर किया गया। डॉ. साहब इससे निराश होने वाले नहीं थे। वे एक छोटे प्राइवेड मानोप्लेन में जीवन को खतरे में डालते हुए वहाँ पहुँच ही गए। ढाका में सकुशल पहुँचने के बाद ब्रिटिश डिप्टी कमिश्नर ने सुरक्षा के विचार से उन्हें शहर में जाने की अनुमति नहीं दी और न ही वह उनके साथ सुरक्षार्थ पुलिस भेजने को तैयार हुआ, परन्तु डॉ. मुकर्जी अपने त्रस्त बन्धुओं के पास शीघ्रातिशीघ्र पहुँचने का दृढ़ निश्चय कर चुके थे। वे अकेले ही शहर में घुस गए और सीधे ढाका के नवाब के महल में जा पहुँचे। नवाब साहब बंगाल मुस्लिम लीग के प्रधान थे और सारे नरमेध की योजना बनाने व कार्यान्वित करने में उनका ही हाथ था। वहाँ पहुँचना शेर की माँद में पहुँचने के समान था। श्यामाप्रसाद की इस निर्भीकता पर पूरा शहर विस्मित रह गया।

कलकत्ता लौटने पर श्यामाप्रसाद जनता को ढाका के रहस्य बतला देना चाहते थे, किन्तु डिफेन्स ऑफ इंडिया रूल्स के अनुसार प्रेस का मुख बन्द था। निदान इस भीषण-समाचार को प्रकाशित करने का एक ही तरीका था कि इसे पहले असेम्बली में उठाया जाए। तभी समाचार-पत्र असेम्बली की कार्रवाई का समाचार देते हुए इसे भी प्रकाशित कर सकते थे, किन्तु वहाँ भी स्थगन प्रस्ताव रखने के लिए उन्हें कुछ अन्य सदस्यों की सहायता की आवश्यकता थी। उन्होंने तत्कालीन कांग्रेस अध्यक्ष मौलाना आजाद को इस आशय का तार भेजा कि कांग्रेसी विधान-सभाइयों को उनकी सहायता का आदेश करें। किन्तु मौलाना की मुसलमानी भावना उनकी राष्ट्रीयता से अधिक बलवती निकली। उन्होंने उस समय कुछ करने

से इन्कार कर दिया। इस पर श्यामाप्रसाद ने गाँधी जी को पत्र लिखा, जिन्होंने मौलाना को डाँटकर यह आदेश दिया कि वे बंगाल के विधान-सभाइयों को श्यामाप्रसाद की सहायता करने के लिए तार दें।

इतनी दौड़-धूप के बाद कहीं श्यामाप्रसाद देशवासियों को ढाका के हिन्दुओं की बुरी दशा से अवगत करा सके और यह उनके भण्डाफोड़ का ही परिणाम था कि सरकार को वहाँ शान्ति स्थापित करने तथा अपराधियों को दण्ड देने पर विवश होना पड़ा।

एक विधेयक के द्वारा सेकेण्डरी-एजुकेशन को मुसलमानी ढंग से चलाने की लीग की योजना भी श्यामाप्रसाद ने विफल कर दी। लीग तथा कृषक-प्रजापार्टी के मिले-जुले मंत्रिमंडल के मुख्यमंत्री श्री फजलुहक का यह पक्का निश्चय था कि सेकेण्डरी-एजुकेशन पर से गैर-मुस्लिम द्वारा संचालित विश्वविद्यालय का कंट्रोल हटाकर उसे मुस्लिम बहुमत वाले मनोनीत बोर्ड के अधीन कर देने का बिल पास कराया जाये। सन् 1940 में असेम्बली में बोलते हुए उन्होंने कहा—'इस संयुक्त दल के सदस्यों का भी यह निश्चय कि वे दुनिया को दिखा देंगे कि यदि वे इस्लाम और अपनी बपौती के प्रति श्रद्धा रखते हैं तो वे बिल को पास करके इसे स्थायी रूप में संविधान पुस्तिका में स्थान देकर ही दम लेंगे।'

किन्तु जिस व्यक्ति ने विधान-सभा के अन्दर और बाहर इस बिल के विरोध का नेतृत्व किया उसके पास दृढ़ निश्चय के साथ-साथ तर्क भी था। डॉ. मुकर्जी ने ऐसे तर्कयुक्त ओजस्वी भाषण दिये कि स्वयं फजलुलहक के हिमायती भी दुविधा में पड़ने लगे। उनकी मधुर तार्किकता, प्रान्त की शिक्षा-सम्बन्धी आवश्यकताओं और समस्याओं के प्रति गहन अन्तर्दृष्टि और अपने उद्देश्य में अखण्ड आस्था ने बिल के अनेक समर्थकों को अपनी ओर कर लिया, यहाँ तक कि चीफ मिनिस्टर स्वयं उनका अनुमोदन करने लगे। 4 दिसम्बर, 1941 को मुस्लिम-लीग का तख्ता पलटते हुए अपने ओजस्वी भाषण में उन्होंने कहा—

'मैं सरकार तथा इसके समर्थकों से कहना चाहूँगा कि हाथ थामें और इस बिल को आगे न बढ़ाएँ। माननीय चीफ मिनिस्टर और सर्वसाधारण जनता शिक्षा-सम्बन्धी किसी भी सर्वसम्मत सुधार का खुलकर स्वागत करेगी। लड़ने की हविश हो भी तो हम बड़े लोग मतभेद के अन्य अनेक प्रश्नों पर लड़ सकते हैं, किन्तु यदि हम दिल से चाहते हैं कि हमारे बच्चे अपेक्षाकृत अच्छी शिक्षा पाएँ तो हम हाथ-से-हाथ मिलाकर क्यों न ऐसे समझौते पर पहुँच जाएँ जो उभय पक्ष को मान्य हो।'

यह आह्वान समय के बहुत उपयुक्त था। मि. फजलुलहक और उनके मुस्लिमलीगी सहयोगियों में मतभेद उत्पन्न हो चुका था। फजलुलहक मि. जिन्ना

के पद्चिह्नों पर चलना नहीं चाहते थे। इनका उनके लीग-गठबन्धन पर भी बड़ा असर पड़ा। श्यामाप्रसाद ने मुस्लिम लीग की दुर्नीतियों व उद्देश्य पर जो अभियोग लगाया उससे कई दुविधाग्रस्त लोग उनके पक्ष में खिंच आए। परिणामस्वरूप फजलुलहक ने लीग से नाता तोड़ने का निश्चय किया और 7 दिसम्बर, 1941 को संयुक्त दल से इस्तीफा दे दिया।

इससे एक स्थिति उत्पन्न हो गई। कृषक-प्रजापार्टी की शक्ति के कारण फजलुलहक का विधान-सभा में बहुत प्रभाव था। फिर भी उनका इतना बहुमत नहीं था कि वे अपना ही मंत्रिमंडल बना लें। इसके लिए कुछ हिन्दू सदस्यों के सहयोग की आवश्यकता थी।

कांग्रेस ने यदि वास्तविकता को जरा भी पहचाना होता तो फौरन ही उसकी सहायता को दौड़ पड़ती। यदि ऐसा होता तो बंगाल की सारी राजनीति का रूप बदल गया होता। इस तरह फजलुलहक को लीग की साम्प्रदायिक नीतियों से दूर रखने का असर बंगाल की ही नहीं, अपितु पूरे भारत की राजनीति पर पड़ता, परन्तु कांग्रेसी नेता फजलुलहक से किसी प्रकार का समझौता न करके मानो उन्हें पुनः मुस्लिम-लीग की शरण में जाने को विवश करने पर तुले थे।

डॉ. श्यामाप्रसाद इस नीति के भावी दुष्परिणामों को भली प्रकार समझते थे। वे इसे बंगाल के लिए घोर अभिशाप समझते थे। उन्होंने बंगाल और भारत के हित की दृष्टि से यह विचार किया कि फजलुलहक से मित्रता रखकर उसके हाथ मजबूत करने चाहिएं ताकि मुस्लिम-लीग के पास सत्ता को पुनः जाने से रोका जा सके। अतः उन्होंने विधान-सभा के अन्दर गैर-कांग्रेसी हिन्दू शक्तियों को एकत्र कर फजलुलहक के नेतृत्व में कृषक-प्रजा पार्टी के साथ मिलकर 'संयुक्त प्रगतिशील दल' बनाया। इससे मि. हक को असेम्बली में पूर्ण बहुमत प्राप्त हो गया। परिणामतः तत्कालीन ब्रिटिश गवर्नर सर जॉन हरबर्ट को अपनी इच्छाओं के विपरीत मि. हक को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित करना पड़ा। मि. फजलुलहक ने निमंत्रण स्वीकार किया और 19 दिसम्बर, 1941 को उनके नए मंत्रिमंडल ने शपथ ग्रहण की। इस संयुक्त मंत्रिमंडल में डॉ. श्यामाप्रसाद मुकर्जी बंगाल के वित्त-मंत्री बनाए गए।

7. संघर्षरत मंत्री

उस भीषण संकटपूर्ण परिस्थिति में बंगाल सरकार में शामिल होना श्यामाप्रसाद मुकर्जी के व्यस्त जीवन की एक नई और विशिष्टतम घटना थी। बंगाल में अभी तक वे एक ऐसे शिक्षा-शास्त्री के रूप में विख्यात थे जिन्होंने अपनी इच्छा से नहीं वरन् परिस्थितियों से अनुप्रेरित होकर राजनीति के प्रांगण में कदम रखा था। उनके महासभा में शामिल हो जाने की कई कांग्रेसी राष्ट्रवादियों ने आलोचना की थी। अब फजलुलहक से मैत्री जोड़ने के कारण कई लोग उनकी बुद्धिमता पर सन्देह करने लगे थे। कई इससे आगे बढ़कर बुरी बातें भी सोचने लगे।

किन्तु श्यामाप्रसाद ने जिस योग्यता से अपने कार्यभार को सम्भाला और जिस प्रकार सद्भावरहित ब्रिटिश गवर्नर और शासन-तन्त्र के साथ दृढ़तापूर्वक निश्चयात्मक संघर्ष किया, उससे न केवल समाचोचकों के मुँह बन्द हुए अपितु एक यथार्थवादी राजनीतिज्ञ, कुशल प्रशासक और सबसे बढ़कर उतकट राष्ट्रभक्त के रूप में उनकी ख्याति और भी बढ़ने लगी।

संयुक्त मंत्रिमंडल की स्थिति बड़ी जटिल थी। सुभाष बोस के बड़े भाई श्री शरच्चन्द्र बोस भी डॉ. मुकर्जी के साथ मंत्रिमंडल में शामिल होने वाले थे। यदि ऐसा हो पाता तो वे नई सरकार को विशेष प्रतिष्ठा और बल दिला सकते थे। किन्तु वे मंत्रिमंडल बनने के कुछ पूर्व ही अपनी गृहकारा से सुभाष बोस के लुप्त हो जाने पर गिरफ्तार कर लिए गए। गवर्नर और ब्रिटिश शासन-तंत्र खुल्लम-खुल्ला नए मंत्रिमंडल के प्रति विष उगला करते थे। उन्हें इस बात का बहुत खेद था कि वे मुस्लिम-लीग का मंत्रिमंडल नहीं बना सके थे और इसलिए वे संयुक्त मंत्रिमंडल को असफल करने की कोशिश में थे। डिफेंस ऑफ इंडिया रूल्स के अनुसार गवर्नर की मंत्रिमंडल के ऊपर-ही-ऊपर सीधी पहुँच सेक्रेटरियों और डिस्ट्रिक्ट अफसरों तक थी। इस कारण उसकी स्थिति मंत्रिमंडल की अपेक्षा बहुत मजबूत थी। मिनिस्ट्री की शक्ति कई दिशाओं में अवरुद्ध थी और सम्भावित जापानी आक्रमण से प्रान्त की रक्षा के विषय में उसकी कोई सुनवाई नहीं थी।

किन्तु श्यामाप्रसाद इन कठिनाइयों से डरने वाले नहीं थे। गवर्नर द्वारा कदम-कदम पर बिछाये गए काँटों से श्यामाप्रसाद को मिनिस्ट्री के अधिकारों की रक्षा, उसकी आवाज की न्यायोचित सुनवाई व पालन की जबर्दस्त प्रेरणा मिलती थी। बंगाल के मनस्वी-मणि तथा विख्यात शिक्षा-शास्त्री होने के नाते गवर्नर को इनका सम्मान करना ही पड़ता था, दिल से उसे चाहे यह रुचिकर हो या न हो। फजलुलहक भी श्यामाप्रसाद को बहुत आदर की दृष्टि से देखते थे। इसका कारण

उनका केवल राजनीतिक सम्बन्ध ही नहीं था, अपितु वे श्यामाप्रसाद को गुरुभाई भी मानते थे। सर आशुतोष के प्रति, जिनके चरणों में बैठकर फजलुलहक ने विद्याभ्यास किया था, वे भी असीम श्रद्धा रखते थे। परिणामत: श्यामाप्रसाद शीघ्र ही इस संयुक्त मंत्रीदल के योग्यतम सदस्य और पथप्रदर्शक मान लिए गए।

मंत्री बनने के कुछ दिनों बाद ही एक ऐसी घटना हुई जिसने दुनिया के सामने डॉ. श्यामाप्रसाद के अदम्य उत्साह और निर्भीक दृष्टिभंगिमा का प्रमाण दिया। हिन्दू-महासभा का वार्षिक अधिवेशन दिसम्बर मास में भागलपुर में होने वाला था। बिहार सरकार ने इस पर प्रतिबन्ध लगा दिया। प्रतिक्रियास्वरूप हिन्दू महासभा ने सत्याग्रह करने का निश्चय किया। डॉ. मुकर्जी भागलपुर गए, जहाँ उन्हें अन्य कतिपय नेताओं के साथ गिरफ्तार किया गया। यह गिरफ्तारी भारत में अंग्रेजी शासन के इतिहास की एक अनूठी घटना है, जब एक ही राज्यछत्र के नीचे एक प्रान्त का मंत्री दूसरे प्रान्त में बन्दी बना लिया गया।

नये मंत्रिमंडल के सम्मुख सबसे पहला काम यह था कि बंगाल को जापानी आक्रमण के दिनों-दिन बढ़ते खतरों से बचने के योग्य बनाया जाए। भारत सरकार लोगों को, जिन पर उसे अविश्वास था, शत्रु का सामना करने के योग्य बनाने की बजाय झाड़फूँक की नीति बरत रही थी। प्रचलित फौजी कानूनों के अनुसार मंत्रिमंडल लोगों को अपनी जन्मभूमि के रक्षार्थ तैयार करने तथा सैनिक शिक्षा देने में नितान्त विवश था। अत: डॉ. मुकर्जी ने गवर्नर से व्यक्तिगत वार्त्ता द्वारा समस्या को सुलझाने का निश्चय किया।

गवर्नर उस समय गवर्नर जनरल तथा कमाण्डर-इन-चीफ से वार्त्ता करने के लिए नई दिल्ली जा रहा था। अत: श्यामाप्रसाद ने उसे सम्भावित खतरों का सामना करने के लिए बंगाल में गृहसेना बनाने की आवश्यकता पर अत्यधिक बल देते हुए 7 मार्च, 1942 को एक लम्बा पत्र लिखा। कुछ समय के पश्चात् यह पत्र श्यामाप्रसाद के गवर्नर सर जॉन हार्बर्ट और गवर्नर लार्ड लिनलिथगो को लिखे गए अन्य पत्रों के साथ 'भारतीय संघर्ष का एक पहलू' (A Phase of Indian Struggle) के नाम से पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ था। यह ऐतिहासिक-पत्र डॉ. मुकर्जी की प्रथम राजनीतिक कृति थी, जिसमें उनकी शुद्ध राष्ट्र-भावना, ज्वलन्त देश-प्रेम और उच्च आदर्शवाद की, जो जीवन-पर्यन्त उनके साथ रहा, उज्ज्वल झलक मिलती है। वास्तविक तथ्यों से गुम्फित यह पत्र-माला ब्रिटिश सरकार द्वारा तत्काल जब्त कर ली गई थी।

उन्होंने सर जॉन हार्बर्ट को लिखा, 'आप गवर्नर जनरल से कहें कि इतना विलम्ब होने पर भी इंग्लैंड और भारतवर्ष में फौरन समझौता हो जाना चाहिए, जिससे भारतीय यह महसूस कर सकें कि यह सचमुच में जनता का युद्ध है। और

अगर हमें युद्ध में विजय पानी है तो अविलम्ब ही एक प्रतिनिधि राष्ट्रीय सरकार बनानी चाहिए जो भारत के हितों की दृष्टि से भारतीय प्रतिरक्षा की नीतियों का अधिकारपूर्वक संचालन करें।'

उन्होंने आगे लिखा–'चीनी लोगों को आखिरी दम तक शत्रु से टक्कर लेने की प्रेरणा केवल चीनी सेनापति च्यांग काई शेक ही दे सका है और आपका देशभाई चर्चिल संकट की स्थिति में शंखनाद कर आप लोगों को आह्वान कर सकता है... परन्तु इसके बिल्कुल विपरीत यहाँ सच्ची ताकत उस गैर-जिम्मेदार शासन के हाथों में है जिसे हम अपने देशहित के लिए हटाना आवश्यक समझते हुए भी हटा नहीं सकते।'

गृहसेना के विषय में अपनी योजना का प्रसंग देते हुए उन्होंने लिखा-'मैं आपके सम्मुख कई बार यह प्रस्ताव रख चुका हूँ कि हमें बंगाल की रक्षा के लिए गृहसेना के निर्माण का अधिकार मिलना चाहिए।.... संकटपूर्ण परिस्थिति में भी बंगाल में गृहसेना के निर्माण में आपको यह आपत्ति थी कि यह भारतीय सैन्य-नीति के सर्वथा प्रतिकूल है। मेरा उत्तर है कि नीति में भारत के हित का विचार ही सबसे पहले होना चाहिए। नीति के निर्धारण में भारत के हितों को ही प्रमुख प्रेरक बनने दीजिए और यह भारतवासियों को स्वयं सोचने दीजिए कि जिस गह्वर में आपने उन्हें झोंक दिया है, उससे वे कैसे निकलें।'

पत्र-समाप्ति में उन्होंने प्रार्थना की थी, 'व्यावहारिक दृष्टि में इसमें कई अड़चनें आयेंगी जैसा कि मैं पूर्व निवेदन कर भी चुका हूँ, किन्तु मेरी आपसे और आपके द्वारा वाइसराय से यह प्रार्थना है कि इस लाल फीताशाही और प्रशासन के हानिकर शासनतंत्र का मिथ्या मोह त्यागें। आपसे कई बार निवेदन कर भी चुका हूँ कि ऐसे अनेक भारतीय हैं जो नहीं चाहते कि यहाँ ब्रिटिश शासन बराबर चलता जाए, किन्तु भारत का कोई भी सहृदय शुभचिन्तक नहीं चाहेगा कि भारत जापान के अधीनस्थ होकर विदेशी परतंत्रता का नया इतिहास शुरू करे। इंग्लैंड से जहाँ तक हमारे सम्बन्धों का प्रश्न है हम प्राय: यात्रा के अन्तिम स्थल तक पहुँच चुके हैं। अब यह समझने की आवश्यकता है कि भारत के लाल ही उसके भावी नियामक होंगे। इस वस्तुतथ्य पर आधारित उदार राजनीति ही अपेक्षित है।'

इस प्रार्थना का तिलमात्र भी असर न हुआ और बंगाल में तथा अन्यत्र स्थिति दिनों-दिन बिगड़ती ही गई। इन्हीं दिनों ब्रिटिश सरकार की ओर से सरकार तथा भारतवासियों में उसकी युद्ध-सम्बन्धी नीतियों के कार्यान्वयन के लिये अन्तरिम समझौता कराने के उद्देश्य से सर स्टेफोर्ड क्रिप्स भारत आए थे। उन्होंने कांग्रेस, मुस्लिम-लीग तथा अन्य राजनीतिक दलों के प्रमुख नेताओं से मिलकर, जिनमें डॉक्टर श्यामाप्रसाद भी शामिल थे, उन्हें 'क्रिप्स योजना' समझाने की कोशिश की।

श्यामाप्रसाद से वार्त्ता करते समय सर स्टेफोर्ड को बहुत आश्चर्य हुआ कि वे एक कांग्रेसी नेता के समान प्रबलता के साथ कांग्रेसी दृष्टिकोण का ही प्रतिपादन कर रहे थे। उन्होंने डॉ. मुकर्जी से पूछ ही लिया, 'किन्तु आपकी पार्टी और कांग्रेस में बराबर मतभेद नहीं रहता है क्या?'—'निस्संदेह।' डॉ. मुकर्जी ने तुरन्त उत्तर दिया, 'किन्तु यह तो दो भाइयों का झगड़ा है, हमारी मंजिल एक ही है।'

यह स्पष्ट उत्तर फूट डालकर राज्य करने वाली सरकार के उस महारथी के मुख पर करारा तमाचा था।

स्टेफोर्ड क्रिप्स के प्रस्तावों में धर्म के आधार पर मुस्लिम बहुसंख्यक प्रान्तों को भारत में इच्छानुसार अलग होने का अधिकार देकर भारत-विभाजन के सिद्धान्त की ही मुख्यतः स्वीकृति थी। इन्हीं प्रस्तावों को लेकर इधर ये भारतीय नेताओं से पत्र-व्यवहार कर रहे थे और उधर बंगाल के गवर्नर और उसके एजेण्ट फजलुलहक के मंत्रिमंडल को जिसमें हिन्दू और मुसलमान, दोनों वर्गों के चोटी के व्यक्ति शामिल थे और जो ब्रिटिश सरकार के इस मिथ्या प्रचार को कि हिन्दू और मुसलमान मिलकर काम नहीं कर सकते थे मानों एक चुनौती थी, भंग करने का भरसक प्रयत्न कर रहे थे। इसके साथ-साथ गवर्नर तथा ब्रिटिश और लीगी विचारों के मुस्लिम अधिकारी मंत्रिमंडल को नीचा दिखाकर इसकी निर्द्वन्द्व गति में बाधा उपस्थित करने और साम्प्रदायिक विष के प्रसार में मुस्लिम लीग को भड़काने की जी-जान से कोशिश कर रहे थे। इसके अतिरिक्त फजलुलहक को हर तरह से बदनाम करने का आन्दोलन शुरू किया गया और इस बात पर भरसक जोर दिया जाने लगा कि वे अपने मुख्यमंत्री पद से त्याग-पत्र दे-दें ताकि मुस्लिम-लीग संयुक्त मंत्रिमंडल में शामिल हो सके। इसी समय कांग्रेस क्रिप्स के प्रस्ताव को अस्वीकार करने के बाद सीधी कार्यवाही करने का विचार कर रही थी। कांग्रेस के आन्दोलन और तज्जन्य स्थितियों को सम्हालने की जिम्मेदारी मंत्रिमंडल पर आएगी, यह विचारकर डॉ. श्यामाप्रसाद ने 12 जुलाई, 1942 को गवर्नर को दूसरा पत्र लिखा, जिसमें उन्होंने साधारणतया देश की तथा विशेषकर बंगाल की राजनीतिक अवस्था को सुधारने की दृष्टि से विस्तृत सुझाव दिये। उन्होंने मंत्रिमंडल की सत्ता नष्ट करने तथा मुस्लिम लीगी विरोध को पनपने में गवर्नर की असीम कृपादृष्टि पर विनम्र रोष भी प्रकट किया।

'हमें अक्सर यह बताया जाता है, 'उन्होंने गवर्नर को लिखा कि 'भारत की भावी राजनीतिक प्रगति में गतिरोध का कारण यह है कि राज्य के प्रशासकीय मामलों में हिन्दू और मुसलमान नेता परस्पर मिलकर कार्य करने में असफल रहे हैं। ब्रिटिश भारत के इतिहास में यह पहली बार है कि हिन्दू और मुसलमानों के दबंग प्रतिनिधि मिल कर हम पर लागू किए गए अधकचरे प्रजातांत्रिक विधान को

सफलतापूर्वक चलाने में व्यस्त हैं। इस प्रयोग की सफलता से भारत की राजनीतिक प्रगति में बाधास्वरूप तथाकथित साम्प्रदायकि वैमनस्य के मिथ्या प्रचार की जड़ें हिल जातीं।'

उन्होंने गवर्नर तथा उसके एजेण्टों पर मंत्रिमंडल की मानहानि का दोषारोपण भी किया। मुस्लिम लीग के पक्ष में गवर्नर के पक्षपात के उदाहरण देने के पश्चात् उन्होंने लिखा, 'प्रान्त के वैधानिक प्रमुख के नाते पक्षपातहीन रहने की बजाय आपका लीग को विशेष प्रोत्साहन देकर उसके एक निष्ठावान् विशिष्ट सचेतक का-सा व्यवहार सचमुच हम सबके लिए एक रहस्यमय व्यापार है।'

उन्होंने गवर्नर से एक बार फिर प्रार्थना की कि मंत्रिमंडल को अपने विश्वास में लेकर उसे इस योग्य बनाएँ कि वह बंगाल की सेवा कर सके और सम्भावित विदेशी आक्रमणों का सामना करने में जनता का सहयोग प्राप्त कर सके।

किन्तु पिछली अपीलों के समान उनकी इस अपील का भी गवर्नर पर कोई असर न हुआ। वह तो एक सुनियोजित नीति के अनुसार मंत्रिमंडल को पद्च्युत करने तथा जनता को उसके अधिकारों और नागरिक स्वतंत्रता से वंचित रखने में क्रियाशील था ताकि वे निस्तेज हो जाएँ।

इस बीच क्रिप्स मिशन की असफलता से भारत की सरकार तथा प्रजा में बातचीत द्वारा समझौता होने की आशा लुप्तप्राय हो चुकी थी और फलस्वरूप सीधी कार्यवाही होने की चर्चा ज़ोर पकड़ रही थी। लखनऊ में 6 अगस्त को हिन्दू महासभा की कार्यकारिणी की बैठक हुई। डॉ. मुकर्जी चाहते थे कि हिन्दू महासभा को किसी भी आन्दोलन में सक्रिय योगदान करना चाहिये, चाहे वह अनिच्छुक ब्रिटिश के हाथों स्वतन्त्रता हथियाने के लिए कांग्रेस द्वारा संचालित क्यों न हो, किन्तु वीर सावरकर और महासभा के अन्य नेता उससे सहमत नहीं थे। सावरकर ने सशस्त्र सेना में देश के सैन्यीकरण की आवश्यकता पर बहुत ज़ोर दिया।

कलकत्ता लौटने के पूर्व डॉ. मुकर्जी ने इलाहाबाद स्टेशन पर महात्मा गाँधी से भेंट की, जो बम्बई जा रहे थे। उन्होंने डॉक्टर साहब को यह सुझाव दिया कि वे आन्दोलन में भाग न लें ताकि जब कांग्रेस सीखचों के अन्दर होगी, तब देश का नेतृत्व करने वाला बाहर कोई तो होगा।

भारत सरकार के कानों में भी 'भारत छोड़ो' आन्दोलन की भनक पड़ चुकी थी, इसलिये उसने 9 अगस्त को, जिस दिन बम्बई में कांग्रेस कार्यकारिणी ने यह प्रस्ताव पारित किया, उस दिन तमाम कांग्रेसी नेताओं को गिरफ्तार करने की पूरी तैयारी कर ली। प्रांतीय गवर्नरों को आन्दोलन को दबाने हेतु विस्तृत आदेश दे दिये गये थे। बंगाल के गवर्नर ने इस विषय में भारत सरकार का आदेशपत्र केवल मुख्यमंत्री को दिखाया था। शेष मन्त्रियों को बुलाकर कहा, 'या तो भारत सरकार

की पॉलिसी मानो, अन्यथा त्यागपत्र दे दो।' डॉ. मुकर्जी ने स्पष्ट उत्तर दिया कि वे उस पॉलिसी से सहमत नहीं हैं और वे जब तक गवर्नर जनरल से मिलकर इसे बदलवाने की अपील नहीं कर लेंगे, तब तक त्यागपत्र नहीं देंगे। इसी विचार से उन्होंने 12 अगस्त को लार्ड लिनलिथगो को राष्ट्रवादी भारत की ओर से अनुकरणीय निर्भीकता और अकाट्य तर्क के साथ अपना दृष्टिकोण रखते हुए एक ऐतिहासिक पत्र लिखा। इसमें उन्होंने कुछ ठोस और रचनात्मक सुझाव भी रखे जिनसे इंगलैंड और भारत में तत्काल समझौता हो सकता था।

उन्होंने लिखा, " 'भारत छोड़ों' प्रस्ताव के अनुसार कांग्रेस की जो माँग है वह वस्तुतः पूरे भारत राष्ट्र की ही माँग है। वास्तव में यह खेद-जनक बात है कि कुछ विदेशी समाचार-पत्रों ने कांग्रेस की माँग को ज़ापान के लिये निमंत्रण तथा अराजकता के सम्मुख घुटने टेकना कहा है और इस भ्रम को प्रतिपादन किया जा रहा हैं यह कोई भी नहीं चाहता कि भारत ऐसे जन-आन्दोलन में पड़ जाये जिसका परिणाम विशृङ्खलता तथा अराजकता हो, परन्तु यदि ब्रिटिश सरकार ने जनता की इस उचित माँग को अदूरदर्शितापूर्वक ठुकरा दिया तो देश में बहुत बड़ा संकट पैदा होगा जिसकी सारी जिम्मेदारी सरकार पर होगी, कांग्रेस पर नहीं।"

दमन-नीति के सम्भावित परिणामों का उल्लेख करते हुए उन्होंने गवर्नर जनरल से प्रार्थना की, 'संसार की शीघ्र परिवर्तनीय उथल-पुथल को ध्यान में रखते हुए वे भारतीय स्थिति की वास्तविकता को परखें और उचित पग उठाएँ।'

उन्होंने कुछ प्रयोगमूलक सुझाव भी रखे जो इंडो-ब्रिटिश समझौते की सामान्य पृष्ठभूमि बन सकते थे। उनके सुझाव थे—

1. ब्रिटिश सरकार इस बात की घोषणा करे कि भारत की स्वतन्त्रता को औपचारिक रूप में मान्यता दे दी गई है।
2. वाइसराय अथवा ब्रिटिश सरकार के किसी भी अन्य प्रतिनिधि को यह अधिकार दिया जायेगा कि वह भारत के राजनीतिक दलों से भारत की राष्ट्रीय सरकार के निर्माण के विषय में, जिसे सत्ता हस्तान्तरित होगी, बातचीत करे।
3. इंडियन नेशनल कांग्रेस पूरी शक्ति से जर्मन-जापान गुट से लड़ने की घोषणा करेगी और वह शत्रु से पृथक् शान्ति-सन्धि नहीं करेगी।
4. भारत की युद्ध-नीति 'एलाइड वार कौंसिल' द्वारा, जिसमें भारत का भी प्रतिनिधित्व होगा, निर्धारित नीति के अनुरूप होगी।
5. कमाण्डर-इन-चीफ पर ही भारत में युद्ध-नियन्त्रण का दायित्व रहेगा और वे 'एलाइड वार कौंसिल' द्वारा निर्धारित नीति का पालन करेंगे। भारत की राष्ट्रीय सरकार एक भारतीय सेना बना सकेगी जिसका उद्देश्य आन्तरिक

सुरक्षा में सहायता करना और विदेशी आक्रमणों से देश की रक्षा करना होगा।

6. राष्ट्रीय सरकार एक मिली-जुली सरकार होगी। उसमें सभी प्रमुख दलों और पार्टियों के प्रतिनिधि रहेंगे। इसी आधार पर वह प्रान्तीय अफसरों का गठन भी करेगी।
7. केन्द्रीय और प्रान्तीय मंत्रिमंडलों की सदस्यता विधान सभाइयों तक सीमित नहीं रहेगी। उनमें बाहर के ऐसे लोग भी, जिनका देश में कुछ प्रभाव है और जो युद्ध के समय विशेष रूप में सहायक हो सकते हैं, शामिल हो सकेंगे।
8. राष्ट्रीय सरकार भारत के आर्थिक उत्थान और औद्योगीकरण पर अपना ध्यान विशेष रूप से केन्द्रित करेगी ताकि युद्ध के चलाने में भारत यथोचित योगदान कर सके।
9. इण्डिया ऑफिस बन्द कर दिया जायेगा।
10. भावी संविधान के विषय में समय आने पर इण्डियन नेशनल गवर्नमेंट एक 'कांस्टीट्यूएण्ट एसेम्बली' बनाने का प्रयत्न करेगी। ग्रेट ब्रिटेन और भारत के बीच एक सन्धि होगी जिसमें अल्पमतों के अधिकारों के सम्बन्ध में विशेष धाराएँ होंगी। किसी भी अल्पमत दल को यह अधिकार होगा कि वह अपने न्यायोचित हकों की रक्षा करने के लिए भावी संविधान-सम्बन्धी अपने विकल्प को किसी अन्तर्देशीय विचारालय के सामने मध्यस्थता के लिए ले जा सके। भारतीय सरकार और सम्बन्धित अल्पमतीय दल को इस विचारालय का निर्णय मान्य होगा।

अन्त में उन्होंने लिखा, 'ब्रिटिश राजमुकुट के प्रतिनिधि के बतौर आपको यह अधिकार होना चाहिये कि आप भारतीय समस्याओं पर ब्रिटिश गवर्नमेंट के निश्चित आदेश के अनुसार कार्य कर सकें। अन्य सुझाव भी रखे जा सकते हैं। मुख्य बात यही है कि ब्रिटिश सरकार को बातचीत शुरू करने से पूर्व अपने मन में निर्णय कर लेना चाहिये कि उसे सत्ता हस्तान्तरित करनी है।'

एक व्यक्तिगत परिशिष्ट के बाद यह ऐतिहासिक पत्र समाप्त हुआ। उन्होंने वाइसराय को लिखा, 'मैं बंगाल के गवर्नर को ब्रिटिश सरकार तथा उसके प्रतिनिधियों द्वारा संकट-काल में अपनाई गई नीति से अपनी असहमति की सूचना दे चुका हूँ। मैं आपसे इस विचार से प्रार्थना कर रहा हूँ कि आप मिथ्या सम्मान के अटकाव में न आते हुए इस गतिरोध को सुलझाने के लिए तुरन्त कार्यवाही करेंगे। यदि आपका यह विचार हो कि ब्रिटिश सरकार को इस झंझट की सर्वथा उपेक्षा कर निष्क्रिय बने रहना चाहिये तब मुझे खेदपूर्वक अपने गवर्नर से कहना पड़ेगा कि वह मुझे मंत्रिपद के कार्यभार से मुक्त करे ताकि मैं पूर्ण स्वाधीनता के साथ समझौते की माँग के प्रति लोगों में जागृति उत्पन्न कर सकूँ।'

उन्होंने अन्त में वाइसराय से प्रार्थना की कि उनका पत्र आगे ब्रिटिश प्रधानमंत्री, सर स्टेफोर्ड क्रिप्स और भारतमंत्री को भेज दिया जाये ताकि ब्रिटिश सरकार वैसे चाहे कुछ भी करे, किन्तु वर्तमान संकट के प्रति उनकी भावना और दृष्टिकोण को भली-भाँति समझ सके।

डॉ. मुकर्जी को सितम्बर तक इस पत्र का कोई उत्तर नहीं आया, किन्तु इसी समय ब्रिटिश नीति के प्रति असन्तोष की अभिव्यक्ति को दबाने के लिए केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों द्वारा चलाये गये दमनचक्र को देखकर वे अपने पत्र का उत्तर समझ गए थे। उन्हें महात्मा गाँधी से मिलकर, जो जेल में थे, समझौता-सम्बन्धी अपनी योजना पर विचार-विनियम करने की स्वीकृति भी नहीं मिली। इससे भी वे इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि ब्रिटिश सरकार किसी समझौतावार्त्ता के लिए तैयार नहीं। अन्ततोगत्वा उन्होंने अपने ही तरीके से स्वतंत्रता-संग्राम में जूझने वालों के प्रति अपना कर्त्तव्यपूर्ण करना शुरू कर दिया। यह सर्वविदित है कि संकट के उन दिनों में जयप्रकाश नारायण तथा बहुत-से-अन्य क्रान्तिकारियों को उन्होंने आर्थिक सहायता देने का प्रबन्ध किया। उन्होंने अनेक छात्रों के लिए, जो जेल में ठूँस दिये गये थे, पुस्तकों तथा अन्य सुविधाओं की व्यवस्था की, ताकि वे जेल के अन्दर रहते हुए भी अपनी पढ़ाई चालू रख सकें, किन्तु भरसक प्रयत्न करने पर भी मंत्रिमंडल की अनुमति के बिना वे गवर्नर द्वारा स्थायी अफसरों की सहायता से संचालित दमनचक्र की नीति में जरा भी परिवर्तन लाने में असफल रहे।

कुछ काल पश्चात् मिदनापुर की विपत्ति से देशवासियों की सेवा करने तथा उनके दु:ख-दर्द कम करने में तथाकथित शासनकर्ता मंत्रिमंडल की विवशता का अच्छा खुला चित्र सामने आ गया। 10 अक्टूबर को मिदनापुर जिले में एक भयानक बवण्डर आया। सहस्रों व्यक्ति मृत्यु के शिकार हुए और अनेक पर आपत्तियाँ टूट पड़ीं। सहानुभूतिशून्य शासनतन्त्र ने सम्भवत: गवर्नर के आदेशानुसार स्वतन्त्रता-आन्दोलन में भाग लेने के उपहारस्वरूप वहाँ की दुखी जनता को दण्ड देकर बदला लेने का सबसे उपयुक्त समय समझा। तूफान से पीड़ित लोगों की सहायता रोक ली गई और इससे भी बढ़कर नृशंस डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट एन.एम. खान ने वहाँ पुलिस और फौज के द्वारा, जिसका काम लोगों की सहायता करना था, आतंक पैदा कर दिया। सहस्त्रों मकान निरुद्देश्य जला डाले गए, स्त्रियों का अपमान किया गया, पशुओं को कत्ल कर दिया गया और पीड़ित लोगों का पशुओं के समान पीछा किया गया।

मिदनापुर के इस अमानुषिक काण्ड का समाचार पाते ही डॉ. मुकर्जी वहाँ दौड़े, वहाँ का करुण दृश्य देखकर उनकी आँखें भर आईं और वे क्रोध से काँपने लगे। उन्होंने एन.एम. खान से गर्मागर्म बातचीत की, किन्तु उसने इनके आदेशों की

परवाह न कर दमनचक्र जारी रखा। उसने शासनतन्त्र के पाशविक क्रोध के शिकार लोगों को निजी सहायता पहुँचाने की अनुमति देना भी अस्वीकार कर दिया।

मिदनापुर की घटना के बाद और कुछ सहन करना डॉ. मुकर्जी के लिए असम्भव था। उन्होंने अनुभव किया कि उन्हें सरकार से निकलकर स्वतंत्र व्यक्ति के रूप में विरोधी पार्टी का नेतृत्व सम्हालकर भारत और बंगाल में ब्रिटिश सरकार तथा उसके एजेण्टों द्वारा चलाई गई दुर्नीति का पर्दाफाश करना चाहिए और संसार को बताना चाहिए कि लोकतंत्र की रक्षा की दुहाई देने वालों ने भारत में प्रान्तीय स्वशासन की कैसी मिट्टी पलीद की है।

डॉ. मुकर्जी ने बंगाल के गवर्नर सर जॉन हरबर्ट को 16 नवम्बर को जो त्यागपत्र भेजा वह उनकी निर्भीक दृष्टिभंगिमा, जनसाधारण के उत्थान के लिए उनकी व्यग्रता और ब्रिटिश एजेण्टों के घृणावह व्यवहार के प्रति उचित क्रोध का ज्वलन्त नमूना है। उन्होंने गवर्नर को लिखा, 'त्यागपत्र देने के मेरे दो कारण हैं। पहला, मैंने जैसे आपसे पिछले 9 अगस्त को निवेदन किया था, मैं देश की वर्तमान राजनीतिक स्थिति के प्रति ब्रिटिश सरकार एवं भारत सरकार के रवैये से असहमत हूँ। मैं यह जानता हूँ कि एक प्रदेश के गवर्नर के नाते इस पॉलिसी के बनाने में आपका विशेष हाथ नहीं है, परन्तु मेरा दूसरा कारण विशेष रूप में आपसे ही सम्बन्ध रखता है। और वह मेरी अनुमोदित, किन्तु दृढ़ राय में आपका वह अप्रत्याशित तरीका है; जिससे आपने मंत्रिमंडल के कार्य में हस्तक्षेप करते प्रान्तीय स्वशासन को निरर्थक तमाशा-सा बना दिया है।'

पश्चात् पूरे वर्ष-भर की घटनाओं तथा विविध प्रसंगों का जब गवर्नर ने बंगाल के जनसाधारण के उत्थान, अधिकार तथा स्वाधीनता-सम्बन्धी छोटे-बड़े विविध मामलों में मंत्रिमंडल के सत्परामर्श की जानबूझकर उपेक्षा की थी, विस्तार में उल्लेख करने के बाद उन्होंने अत्यन्त स्पष्ट और ओजस्वी भाषा में ब्रिटिश सरकार को भारतीय मानस की झलक देते हुए लिखा, 'अगर अपने देश को स्वाधीन देखने की आकांक्षा रखना तथा विदेशी प्रभुत्व को हिला देने का प्रयत्न करना अपराध है तो प्रत्येक स्वाभिमानी भारतीय अपराधी है। ...भारत के हितों के प्रति आपकी सहानुभूति का खोखलापन प्रकट हो चुका है और आप अब हमारी आँखों में और धूल नहीं झोंक सकते। अतएव भारतीय प्रतिनिधियों की यह माँग है कि हमारे देश के राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों में स्वयं भारतीयों के द्वारा ही शासन नियोजित किया जाए जो अयोग्य गवर्नरों तथा सहानुभूतिरहित उच्च कर्मचारियों के निष्ठुर हस्तक्षेप से निर्मुक्त हो।'

बंगाल की सरकार के साथ एक वर्ष सक्रिय कार्य करने से ही उन्हें ब्रिटिश सरकार के भारत-सम्बन्धी मनोभाव को समझने का अच्छा अवसर मिला। इस

बीच भी वे पूरी जिम्मेदारी के साथ ब्रिटिश सत्ताधारियों के सामने राष्ट्रवादी भारत का दृष्टिकोण इतनी स्पष्टता और दृढ़ता से रख सके, जितना किसी कांग्रेसी नेता से सम्भवतः न हो पाता। उन्होंने अपने रचनात्मक राजनीति-चातुर्य, प्रशासकीय योग्यता और निर्भीकता के जो विपुल प्रमाण दिए उससे वे जनता की आँखों के तारे बन गए जो कांग्रेस नेताओं की अनुपस्थिति से उन्हें भारतीय जनभावना के एकमेव प्रतिनिधि तथा प्रवक्ता मानने लगे। ब्रिटिश शासक भी उन्हें अपना एक अदम्य और योग्यतम विरोधी समझ उनसे भय खाने लगा।

उन्होंने जब देखा कि मंत्रिमंडल में रहकर अपने देशवासियों के लिए कुछ करने में असमर्थ हैं, तब तुरन्त ही उन्होंने त्यागपत्र देकर यह सिद्ध कर दिया कि उन्हें कोई भी प्रलोभन मार्गच्युत नहीं कर सकता। वे संयुक्त मंत्रिमंडल में केवल महासभा के प्रतिनिधि के रूप में आ गए थे, किन्तु वहाँ से राष्ट्रवादी बंगाल के सर्वसम्मत जननायक बनकर निकले।

8. मानवता का मित्र

बंगाल के मंत्रिमंडल को छोड़ने के पश्चात् डॉ. मुकर्जी ने अखिल भारत के बृहत्तर क्षेत्र में अविलम्ब पदार्पण किया। उन्होंने बातचीत के द्वारा इण्डो-ब्रिटिश समझौते के लिए लार्ड लिनलिथगो को अपनी एक परीक्षामूलक योजना प्रस्तुत की थी। उसके पक्ष में स्वतंत्र होकर जनमत-संग्रह करना ही सरकार को छोड़ने में उनका प्रमुख लक्ष्य था। दुर्भाग्यवश इसके लिए उन्हें अधिक समय नहीं मिला। बंगाल की खाद्य समस्या से उनकी मानवीयता तड़प उठी और वे दुर्भिक्ष-पीड़ित लोगों की सहायता के तरीके निकालने और साधन एकत्र करने में दत्तचित्त हो गए।

बंगाल में खाद्य-स्थिति 1943 के प्रारम्भ से ही बिगड़ती जा रही थी। इसके अनेक कारण थे। अक्टूबर में आने वाले मिदनापुर के तूफान ने उस जिले की तमाम फसल नष्ट कर दी थी। बाढ़ से भी इसी तरह कई जिलों की फसल बर्बाद हुई थी। जापान के हाथों पड़ने के बाद बर्मा से चावल का आयात बन्द हो गया और पूर्वी बंगाल में जापानी आक्रमण के प्रति रक्षार्थ सरकार की झाड़-फूँक और निषेध की नीति ने स्थिति को और शोचनीय बना दिया।

फजलुलहक मंत्रिमंडल ने फरवरी 1943 के अन्त में विधानसभा में एक वक्तव्य द्वारा लोगों तथा केन्द्रीय सरकार का ध्यान बंगाल के बढ़ते हुए खाद्याभाव की ओर खींचने का प्रयत्न किया था। वक्तव्य में कहा गया था कि चावल की उपज में 25 प्रतिशत कमी है जिसे पूरा करने के लिये प्रयत्न होने चाहियें। मार्च में यह मंत्रिमंडल भंग कर गवर्नर द्वारा पुन: मुस्लिम-लीग का मंत्रिमंडल बनाया गया। उस नये मंत्रिमंडल ने खाद्य-समस्या पर पुराने मंत्रिमंडल के फरवरी के वक्तव्य का खण्डन करना उचित समझा और इसके विपरीत इस आशय के वक्तव्य निकालने शुरू किये कि वास्तव में खाद्यान्न की कोई कमी नहीं है और चावल के मूल्य में वृद्धि इसलिए हुई है कि व्यापारियों ने बहुत-सा चावल अन्दर जमा कर लिया है जो सब बाहर निकलवाया जायेगा।

वास्तविक स्थिति के विपरीत मंत्रिमंडल की इस निष्क्रियता की नीति के साथ-साथ ही ब्रिटिश नौकरशाही तथा सैनिक पदाधिकारियों ने साइकिलों व नावों के द्वारा यातायात पर दु:खदायी रोकें लगा दीं जिससे स्थिति और भी गम्भीर हो गई। ऐसा करने में उनका उद्देश्य लोगों को परेशान करना और बलहीन बनाना था, ताकि यदि आजाद हिन्द फौज वर्मा से होती हुई वहाँ आ गई तो वे उसकी सक्रिय सहायता करने के योग्य न रहें।

जुलाई के प्रारम्भ तक खाद्य-स्थिति इतनी बिगड़ गई कि सहस्रों प्राणी अपना

पशुधन और अस्थावर (चल) सम्पति को ले-देकर शहरों की ओर आने लगे। शहरों में भी चावल की कीमत इतनी बढ़ गई कि बँधी-बँधाई साधारण आय वाले मध्यवर्गीय परिवार में दो जून खाना जुटाना भी एक समस्या बन गया। ऐसी भीषण परिस्थिति में भी मंत्रिमंडल तथा शासन के कर्णधार यही रट लगाते रहे कि खाद्यान्न की कोई कमी नहीं है और इसीलिए लोगों को बढ़ती हुई शोचनीय दुर्दशा से बचाने के लिए कुछ भी प्रयत्न नहीं किया गया।

परन्तु डॉ. मुकर्जी, जिन्होंने पहले मिदनापुर के लोगों पर आपत्ति का पहाड़ टूटते देखा था और निजी प्रयत्नों द्वारा बृहत् परिणाम में सहायता की व्यवस्था की थी, काल के सर्वग्रासी मुख में बंगाल को जाते न देख सके। उन्होंने बंगाल की विपत्तियों पर देशवासियों का ध्यान खींच अकालपीड़ितों की बृहत् परिमाण में सहायता के आयोजन करने का निश्चय किया। इस दृष्टि से उन्होंने इस समस्या पर विचार कर इसे सुलझाने के उपाय निश्चित करने के उद्देश्य से 29 जुलाई को कुछ प्रमुख नागरिकों, राजनीतिज्ञों, व्यापारियों और दानवीरों की एक सभा की। परिणामस्वरूप बंगाल रिलीफ कमेटी बनाई गई। सर बद्रीदास गोयनका इसके अध्यक्ष और डॉ. मुकर्जी उपाध्यक्ष बने।

इसके थोड़े समय बाद बंगाल प्रान्तीय हिन्दू महासभा ने, जिसके डॉ. साहब प्रधान थे, कुछ लोगों की इच्छानुसार, जो चाहते थे, कि उनकी दानराशि हिन्दू महासभा के द्वारा व्यय हो, हिन्दू महासभा रिलीफ कमेटी बनाई। डॉ. मुकर्जी दोनों संस्थाओं के कर्ता-धर्ता थे। उन्होंने सहायता के लिये जो अपील की उसकी देश भर में शीघ्र ही अच्छी प्रतिक्रिया हुई। लोग डॉ. साहब पर इतना विश्वास और श्रद्धा रखते थे कि उन्होंने उन्हें बड़ी-बड़ी रकमें भेजनी शुरू कर दीं।

कुछ कालोपरान्त आर्यसमाज, मारवाड़ी सोसाइटी और रामकृष्ण मिशन भी रिलीफ-कार्य में जुट गये। इन सबके केन्द्र और कोष अलग-अलग थे। इससे प्रयत्नों और धन के अपव्यय की सम्भावना थी। इन सबके प्रयत्नों में तालमेल पैदा करने के लिए डॉक्टर साहब ने 'रिलीफ को-आर्डिनेशन कमेटी' बनाई जिसके प्रधान श्री बद्रीनाथ गोयनका तथा उपप्रधान स्वयं डॉ. साहब थे।

देश-भर में डॉ. साहब की अपील का आशातीत परिणाम हुआ। असम से बलोचिस्तान और कश्मीर से कन्याकुमारी तक पूरे देश में बंगाल के लोगों की सहायतार्थ धन, अनाज और कपड़ों की मानो वर्षा-सी होने लगी। यह देशव्यापी संवेदना और मानवीय दृष्टिकोण भारतीय जनता की असाधारण एकता का सुन्दर प्रमाण है। बंगाल रिलीफ कमेटी को 27,54,502।3।4 रुपये नकद प्राप्त हुए तथा प्रायः दस लाख की कीमत के कपड़े व अनाज मिले। हिन्दू महासभा को 8,5,4,582।1।6 रु. नकद तथा सहस्रों मन अनाज मिला।

इन रिलीफ कमेटियों के सत्प्रयत्नों द्वारा किसी सीमा तक विशेषकर शहरी लोग कुछ जान बचा सके, किन्तु डॉ. साहब के इन प्रयत्नों के बावजूद इस मानव-निर्मित अकाल ने तीस लाख से भी अधिक व्यक्तियों का रक्तपान किया।

बंगाल के इस अकाल से ब्रिटिश सरकार और भारत में इसके मुस्लिम मित्रों की अविश्वसनीयता तथा उद्देश्यों पर अच्छा प्रकाश पड़ा। ब्रिटिश शासन का रुख खुल्लमखुल्ला बराबर प्रतिकूल रहा। उसने प्रत्येक सम्भव उपाय से स्थिति की गम्भीरता को हल्का बनाने की चेष्टा की। स्थिति को सम्भालने के लिये केवल मुस्लिम लीगी मंत्रिमंडल के स्थान पर सर्वदलीय राष्ट्रीय मंत्रिमंडल की माँग की लगातार अवहेलना की गई। मुस्लिम-लीग तब तक अपनी इस रट पर ही डटी रही कि खाद्यान्न की कोई कमी नहीं है, जब तक कि स्थिति बिलकुल उसके काबू से बाहर न हो गई। इस पर भी उसने रिलीफ का कोई काम शुरू नहीं किया जब तक कि कुछ निजी एजेंसियों ने अपने खर्च पर ही काम शुरू करके इसको भी कुछ हाथ-पैर हिलाने को विवश नहीं कर दिया।

मुस्लिम-लीग, खाकसार और कम्युनिस्टों ने फिर अपनी-अपनी रिलीफ कमेटियाँ बनाईं। डॉ. मुकर्जी के सरंक्षण में चलने वाली बंगाल रिलीफ कमेटी जात-पात का भेदभाव छोड़कर सभी त्रस्त लोगों की सहायता कर रही थी, किन्तु खाकसार और मुस्लिम लीगी हिन्दू अकाल-पीड़ितों की मुसीबत का लाभ उठाकर उन्हें मुसलमान बनाने के मन्तव्य से उन्हें बंगाल से बाहर भेज रहे थे।

जब डॉक्टर मुकर्जी को यह मालूम हुआ तो उन्होंने कलकत्ता में काम करने वाले खाकसार नेताओं से बातचीत की और यह प्रार्थना की कि वे उन हिन्दू शरणार्थियों को, जो बंगाल के बाहर उनके विभिन्न केन्द्रों में भेज दिए जाते हैं, हिन्दू महासभा के अन्य रिलीफ कमेटियों में भेजें, किन्तु उनकी प्रार्थना का कुछ असर न हुआ। निदान अन्य लोगों के सहयोग से डॉक्टर साहब ने सरकार पर यह दबाव डाला कि वह इस तरह की उत्पातपूर्ण कार्यवाहियों को रोके।

इस रिलीफ कार्य के साथ-साथ डॉ. मुकर्जी ने विधान-सभा के अन्दर और बाहर मुस्लिम-लीगी मंत्रिमंडल और ब्रिटिश शासन की उन दुर्नीतियों के विरुद्ध जोरदार आवाज उठाई जिनके फलस्वरूप यह मानवकृत अकाल पड़ा था। उन्होंने सरकार की अयोग्यता और पाषाण-हृदयता के शिकार लोगों के प्रति शासक-वर्ग की प्रच्छन्न दुश्मनी और उदासीनता पर ओजस्विनी, किन्तु तर्कसंगत शैली में खूब प्रकाश डाला। डॉक्टर साहब के कारण ही पूरा देश बंगाल के सर्वभक्षी अकाल और आतंकों से अवगत हो सका। देश ने उनकी बात सुनी और एकमत होकर बंगाल के पीड़ितों की सहायता करने और उन्हें क्रूर शासन से बचाने के लिए प्रयत्नशील हो उठा। फलस्वरूप सरकार को अकाल के कारणों की छानबीन करने

तथा इससे बचाव के रास्ते सुझाने के लिए जाँच कमेटी बनाने पर विवश होना पड़ा।

इस दुर्भिक्ष में डॉ. साहब ने बंगाल में जो काम किया उसकी तुलना डॉ. राजेन्द्र प्रसाद द्वारा बिहार के भूकम्पों के समय किये गये कार्य से की जा सकती है। दोनों ने ही अपने पीड़ित बन्धुओं की पूरी ताकत से सेवा की और भयावह स्थिति से बचने में उनकी रक्षा की।

दीन, दरिद्र और असहायों के बन्धु मानव-प्रेम श्यामा बाबू को कोई भी बंगवासी. चाहे उसे उनकी राजनीति से मतभेद भी क्यों न रहा हो, कभी नहीं भूल सकता।

9. भारतीय एकता का संरक्षक

जिस समय श्यामाप्रसाद बंगाल में दुर्भिक्ष-निवारण-कार्य में व्यस्त थे उस समय मिस्टर जिन्ना का नेतृत्व और ब्रिटिश सरकार का पृष्ठपोषण पाकर मुस्लिम लीग देश के विभिन्न अंचलों में अपने पैर जमाने में व्यस्त थी। जहाँ तक सरकार का सम्बन्ध था उसने क्रिप्स-योजना में पहली बार धर्म के आधार पर भारत के विभाजन के सिद्धान्त को माना था। इसे अस्वीकार करने पर जब बहुत-से कांग्रेसी नेता जेलों में ठूँस दिये गए तब मुस्लिम-लीग को दुविधाग्रस्त मुसलमानों को अपनी ओर खींचने तथा भारतीय मुसलमानों की एकमेव प्रतिनिधि संस्था के रूप में अपनी स्थिति सुदृढ़ बनाने के लिये खुला क्षेत्र मिल गया।

देश के समस्त एंग्लो-इण्डियन तथा मुस्लिम प्रेस द्वारा समर्थित मुस्लिम लीग की पाकिस्तान की माँग जैसे-जैसे जोर पकड़ने लगी, वैसे-ही-वैसे श्री राजगोपालाचार्य के समान कुछ कांग्रेसी नेता, जो जेल से बाहर थे, घबराने लगे। जब से कांग्रेस महात्मा गाँधी के प्रभाव में आई तब से उसने मुसलमानों को खुश करने की नीति ग्रहण की थी, जो अब विभिन्न रूपों में प्रकट हो रही थी। कांग्रेस इसके लिए मातृभूमि को खण्डित करने को भी तैयार हो रही थी। सी.आर. फार्मूला, जिसमें विभाजन का समर्थन किया गया था, कांग्रेस की इन पारितोषिक प्रवृत्तियों का निकृष्टतम उदारहण है।

श्यामाप्रसाद कांग्रेस की इस प्रवृत्ति को भारत के लिए बहुत भयावह और अशान्तिजनक मानते थे। उन्होंने राष्ट्रवादी भारत की ओर से कांग्रेस की इस दब्बू नीति और एंग्लो-मुस्लिम गठजोड़ के फलस्वरूप भारत की चिरयुगीन एकता पर, जिसे अंग्रेजों ने अपने सौ वर्ष के शासन में राजनीतिक दृष्टि से और भी दृढ़ बना दिया था, होने वाले कुठाराघात का सक्रिय विरोध करने का निश्चय कर लिया।

दिसम्बर, 1943 में अमृतसर में होने वाले हिन्दू महासभा के पच्चीसवें वार्षिक अधिवेशन में डॉ. साहब ने देशवासियों को इस आगामी संकट की सूचना देते हुए उन्हें सतर्क किया। निर्वाचित अध्यक्ष वीर सावरकर की अस्वस्थता के कारण उन्होंने इस ऐतिहासिक अधिवेशन की अध्यक्षता की थी। उस समय ब्रिटिश दमनचक्र के कारण कांग्रेस भारत के राजनीतिक क्षेत्र से लगभग खदेड़ी जा चुकी थी और हिन्दू महासभा वीर सावरकर तथा डॉक्टर श्यामाप्रसाद के सफल नेतृत्व में दिनोंदिन लोकप्रिय होकर कांग्रेस का स्थान लेने का सफल प्रयास कर रही थी।

इस अवसर पर दिये गये अध्यक्षीय भाषण में डॉ. मुकर्जी के राजनीतिक दर्शन तथा विभाजन के माँग के प्रति उनके विचारों की स्पष्ट अभिव्यक्ति मिलती

है। उन्होंने शंखघोष कर कहा, 'भारत की समस्या को सुलझाने का केवल यही तरीका है कि राजनीति के क्षेत्र से जाति और धर्म-सम्बन्धी विचार-भेद का सर्वथा बहिष्कार किया जाए। हम बिना किसी भेद-भाव के सबके लिए समान राजनीतिक अधिकार के हामी हैं। मैं मानता हूँ कि कुछ जातियाँ और वर्ग ऐसी पिछड़ी अवस्था में हैं उनके आर्थिक और शैक्षणिक विकास के लिए विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। स्वयं संविधान में भी विभिन्न वर्गों के धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों के संरक्षण की व्यवस्था होनी चाहिए।' इससे यह स्पष्ट है कि वे हिन्दुओं के लिए किन्हीं विशेष अधिकारों की माँग नहीं करते थे; वरन् साम्प्रदायिक समस्या पर भी उनका विशुद्ध राष्ट्रीय दृष्टिकोण ही था।

किन्तु वे सार्वजनीन राष्ट्रीय उद्देश्य की पूर्ति हेतु किन्हीं सम्प्रदायों का सहयोग पाने के लिए रिश्वत देने को भी कभी तैयार नहीं थे। उन्होंने कहा, 'देशभक्ति कोई बाजारू चीज नहीं है जो बाजार में बोली देकर खरीदी जा सके। यदि कांग्रेस मुस्लिम-लीग का सहयोग प्राप्त करने के लिए अपने सिद्धान्तों को तिलांजलि देकर तथा राष्ट्रहितों की अवहेलना करते हुए बोली देना शुरू करेगी तो ब्रिटिश सरकार हर मौके पर उससे अधिक बोली देकर मुस्लिम-लीग को अपने साथ मिला सकेगी। आज मुस्लिम लीग ने, जो अब मुसलमानी विचारधारा की एकमात्र प्रतिनिधि समझी जाती है, राजनीतिक समझौते के लिए भारत के टुकड़े-टुकड़े कर देने की माँग खड़ी की। हम इसके विपक्ष में केवल इसलिए नहीं हैं कि हिन्दुओं को जननी-जन्मभूमि को खण्डित करने की कल्पना ही असह्य है वरन् इसलिए भी कि यह बँटवारा आर्थिक तथा राजनीतिक दृष्टि से समग्र भारत के हित में बाधाक और संकटप्रद होगा।' उन्होंने आगे कहा, 'यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि पाकिस्तान के आधार पर मुस्लिम-लीग से समझौता नहीं हो सकता।'

देश में हिन्दू महासभा की आवश्यकता और कार्य पर बोलते हुए उन्होंने कहा, 'जब ऐसा कोई शुभ दिन आएगा कि भारतीय प्रशासन के क्षेत्र में से धर्म तथा सम्प्रदाय-सम्बन्धी विचारों को तिलांजलि दे दी जाएगी, और सभी दल एक ही राष्ट्रीय लक्ष्य से अनुप्रेरित होंगे, तब हिन्दुओं को अलग राजनीतिक संस्था की आवश्यकता न रहेगी, परन्तु हम यह न भूलें की आज हम कहाँ हैं? यथार्थ से कटी राजनीति निरर्थक ही नहीं अपितु संकटप्रद भी है।'

भारत के बुद्धिशील व्यक्ति जब महात्मा गाँधी के काल्पनिक आदर्शवाद से सम्मोहित हो रहे थे, उस समय डॉ. मुकर्जी ने यथार्थ की भीषणता के अनुरूप आकाश-विचरण छोड़कर कठोर धरती पर पैर जमाने का जो आग्रह किया, वह भारत की राजनीतिक चिन्तना में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान है। उनके इस सुलझे

हुए विचारों के कारण ही अपने अन्तिम दिनों में सरदार पटेल भी उनसे अत्यधिक आकर्षित हुए बिना न रह सके।

महासभा के कुछ स्थानीय नेताओं की दुर्बलता के कारण अमृतसर के अधिवेशन तथा डॉक्टर साहब के ओजस्वी भाषण का प्रभाव बहुत-कुछ नष्ट हो गया। महासभा की बढ़ती हुई लोकप्रियता तथा प्रतिष्ठा पर रोकथाम लगाने की नीति के कारण ही सम्भवत: अमृतसर के जिला मजिस्ट्रेट ने अध्यक्ष का जुलूस निकालने पर प्रतिबन्ध लगा दिया। जुलूस की पूरी-पूरी तैयारी हो चुकी थी। अधिवेशन के लिए आये हुए लाखों लोग जोश से उन्मत्त हो उठे। वे प्रतिबन्ध की परवाह न करते हुए भी जुलूस निकालना चाहते थे। डॉक्टर साहब की भी यही इच्छा थी, किन्तु स्वागत-समिति में परिस्थित्यानुसार वांछित साहस का अभाव था। उसने जुलूस निकालने का विचार ही छोड़ दिया। इस समय शौर्य से काम लेते हुए महासभाई नेता इस बात का प्रमाण उपस्थित कर सकते थे कि अवसर आने पर न्यायोचित हेतु वे कष्ट सहने को भी कटिबद्ध हैं। अमृतसर में सन् 1943 में महासभा ऐसा स्वर्णिम अवसर चूक गई जिसकी क्षतिपूर्ति वह कर न सकी। तब से यह अपनी लोकप्रियता खोने लगी और डॉक्टर साहब द्वारा दिये गये तेजोमय प्रकाश का, अपनी अयोग्यतावश, कुछ लाभ न उठा सकी। इस काण्ड के कारण कुछ लोग तो डॉक्टर साहब की निर्भीकता और साहस पर भी सन्देह करने लगे। वे भूल गए कि विधानानुसार डॉक्टर साहब को स्वागत-समिति के निर्णय को टालने का कोई अधिकार न था।

दो माह पश्चात् डॉ. मुकर्जी ने 22 से 24 फरवरी, 1944 को दिल्ली में सम्पन्न ऑल इण्डिया आर्यन कांग्रेस के पंचम अधिवेशन की अध्यक्षता की। अपनी ओजस्विनी वक्तृता में उन्होंने पूज्य स्वामी दयानन्द सरस्वती और आर्य-समाज को श्रद्धांजलि देते हुए कहा, 'मनुष्य को कायर बना देने वाली विषाक्त हीनभावना का मूलोच्छेदन कर लोगों में व्यक्तिगत आत्म-सम्मान, देश के प्रति अक्षुण्ण गौरव, प्रबल मनस्तत्व तथा देश की संस्कृति और सभ्यता के प्रति अनुराग का उद्रेक कर आर्य-समाज ने भारत की सबसे बड़ी सेवा की है।'

उन्होंने सिन्ध के मुस्लिम-लीगी मंत्रिमंडल द्वारा स्वामी दयानन्द के महान् ग्रंथ 'सत्यार्थ प्रकाश' के कुछ अंशों पर प्रतिबन्ध लगाने के निश्चय का प्रबल खण्डन किया। उन्होंने आर्यसमाजियों से प्रार्थना की कि वे देश को मुक्त करने और हिन्दू तत्त्वों को दृढ़ बनाने के लिए अन्य दलों को सहयोग दें। उन्होंने मुस्लिम लीग की बँटवारे की माँग का सविस्तार उल्लेख करते हुए कहा, 'कोई भी व्यक्ति, जो भारत की एकता का विध्वंस करना चाहता है या विभाजन का सक्रिय समर्थन करता है, वह देशद्रोह के सबसे बड़े जुर्म का अपराधी है और उसका किसी भी

कीमत पर मुकाबला करना चाहिए।'

आजकल के समान कलकत्ता के समाचार-पत्र उस समय भी ऐंग्लों-इण्डियनों अथवा कांग्रेस के नियन्त्रण में थे। विभाजन तथा अन्य राष्ट्रीय समस्याओं पर डॉ. मुकर्जी के विचारों को प्रकाशित करने में हिचकिचाते थे। अत: उन्होंने 1944 में 'दी नेशनलिस्ट' नामक अंग्रेजी दैनिक निकालना शुरू किया। वह शीघ्र ही जनमत बनाने का एक सशक्त साधन बन गया, किन्तु एक दैनिक-पत्र का व्यय निकाल पाना सहज नहीं था। अर्थाभाव के कारण एक वर्ष के बाद ही उन्हें इसे बन्द कर देना पड़ा।

डॉ. मुकर्जी द्वारा विभाजन के विचार के कड़े विरोध तथा संयुक्त भारत के पक्ष के प्रभावशाली प्रतिपादन तथा सर सिकन्दर हयात और सर छोटूराम के द्वारा जिन्ना को अपने स्वप्न के पाकिस्तान की मूल पंजाब में दी गई कड़ी लताड़ के कारण क्रिप्स प्रस्तावना द्वारा उत्पादित यह उपद्रव शीघ्र ही ठण्डा पड़ने लगा। जिन्ना का प्रभाव बहुत कम हो गया और कई प्रमुख मुसलमान भी पाकिस्तान की माँग का उपहास करने लगे।

परन्तु दुर्भाग्यवश उसी समय महात्मा गाँधी ने, जो हाल ही में जेल से छूटे थे, सी.आर. के विभाजन के फार्मूले का अभिनन्दन कर तथा मिस्टर जिन्ना से उसके बम्बई वाले महल में जाकर उससे बात करने के प्रस्ताव ने, जिन्ना को नया जीवनदान दे दिया। डॉ. मुकर्जी तुरन्त भाँप गये कि इससे तो जिन्ना के पाँव पुन: जम जायेंगे और विभाजन की माँग अधिक बलवती हो जाएगी। इसके प्रतिरोध के लिए उन्होंने तुरन्त प्रयत्न शुरू किया। महात्माजी जिन्ना को न मिलें, इस उद्देश्य से उन्होंने अपने विश्वस्त सेक्रेटरी श्री मनोरंजन चौधरी के हाथ महात्मा गाँधी को एक व्यक्तिगत पत्र भेजा जिसमें उन्होंने प्रार्थना की थी कि वे सी.आर. फार्मूले को अपनी स्वीकृति न दें और न ही इसके आधार पर समझौता करने के लिए मिस्टर जिन्ना से मिलें। यह पत्र 19 जुलाई, 1944 को लिखा गया था। इसमें डॉक्टर साहब के प्रचण्ड देशानुराग, भारत की एकता में अटूट निष्ठा, कांग्रेस की मिस्टर जिन्ना तथा अन्य मुस्लिम लीगियों को परितुष्ट करने की नीति के दुष्परिणामों की स्पष्ट कल्पना का प्रत्यक्ष आभास मिलता है।

पत्र निम्नोक्त है—

77 आशुतोष मुकर्जी रोड
कलकत्ता,
19 जुलाई, 1944

प्रिय महात्मा जी,

पत्रवाहक श्री मनोरंजन चौधरी आपके पास बंगाल की स्थिति के सम्बन्ध में कुछ नोट और पर्चे लेकर आ रहे हैं। अगस्त, 1942 से राजनीति और खाद्यान्न के प्रश्नों पर बंगाल में जो घटनाएँ हुई हैं, ये उन पर प्रकाश डालेंगे। आपके विचारार्थ सभी प्राप्तव्य सामग्री इनके हाथ भेजी जा रही है।

सच तो यह है मिस्टर राजगोपालाचारी द्वारा मिस्टर जिन्ना को दिये गये प्रस्ताव से हमें बहुत क्षोभ हुआ है। हम उचित हिन्दू-मुस्लिम समझौते के लिए बहुत उत्सुक हैं, किन्तु श्री राजगोपालाचारी जो रास्ता अपना रहे हैं उससे लक्ष्य-प्राप्ति होगी, हमें विश्वास नहीं। अपने अनुभवों के आधार पर भी आप जानते ही होंगे कि मिस्टर जिन्ना कोई खेल खेलने के इच्छुक नहीं। वे अपने-आपको भारतीय नहीं मानते और समग्र भारत की स्वतन्त्रता से, जिसके लिए भारतीयों की कई पीढ़ियों ने अपना जीवन होम कर दिया है, उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। हमारे लिए बंगाल और भारत का सम्भावित विभाजन घृणास्पद है। अस्तु! हमें इससे बहुत दु:ख हुआ है कि बिना विभिन्न दृष्टिकोण को परखे आप भी उक्त प्रस्ताव से सहमत दिखाई पड़ रहे हैं। हम आपको कांग्रेस से महान् मानते हैं और इस स्थिति में आपकी कोई भी स्वीकृति हम सबके लिए उद्वेगजनक हो जाती हैं बंगाल की विभिन्न राजनीतिक संस्थाओं के बहुत-से लोगों की इस विषय पर जो विचारधारा है, मनोरंजन बाबू आपको उससे अवगत कराएंगे। हमें भय है कि मिस्टर जिन्ना इस प्रस्ताव से अनुचित लाभ उठाते हुए हिन्दुस्तान और तथाकथित पाकिस्तान के क्षेत्रों में और रियायत लेने की कोशिश करेंगे। उत्पीड़न और उलझन ही जिसका परिणाम होगा। ब्रिटिश सरकार आपके कथनानुसार इसमें हस्तक्षेप नहीं करेगी, क्योंकि उसे अपनी सत्ता से मोह है। मिस्टर जिन्ना भी सक्रिय नहीं होंगे, क्योंकि वे नहीं चाहते कि गतिरोध समाप्त हो, किन्तु आपका विभाजन का सिद्धान्त मान लेने का प्रस्ताव रहेगा, जिससे हमारी भावी कठिनाइयाँ और बढ़ेंगी। मेरा आपसे अनुरोध है कि आप अपने निर्णय पर पुनर्विचार कीजिये। अगर मिस्टर जिन्ना और मुस्लिम-लीग को आपकी शर्तें मान्य नहीं हैं तो आप उनका अनुमोदन छोड़कर अखण्ड भारत का समर्थन कीजिए। भारत-विभाजन की किसी भी योजना के विरुद्ध केवल 1942 के हरिजन में आपने अपने विचार स्पष्टतम रूप में रखे थे। आपने ठीक ही लिखा था कि ऐसे किसी प्रस्ताव से हम लोगों में नए झगड़े उत्पन्न होने की आशंका रहेगी।

मेरा विचार है कि आपको भारत की स्वाधीनता के लिए सभी दलों और जातियों के सहयोग से अपनी योजना प्रस्तुत करनी चाहिए। जो लोग अल्पमतों के हितों की पूर्ण सुरक्षा के साथ पूरे भारत की स्वाधीनता के समर्थक हैं, उन्हें इस योजना को लोकप्रिय बनाने का आह्वान करना चाहिये। अनेक मुसलमान आज यह समझ रहे हैं कि पाकिस्तान बनना असम्भव और निरर्थक वितण्डावाद है। ब्रिटिश सरकार भी केवल अपनी सुविधानुसार मिस्टर जिन्ना को समर्थन देती है। ऐसे नाजुक समय में आप मिस्टर जिन्ना को, जो केवल मुस्लिम दृष्टिकोण से ही सोचते हैं, पृष्ठपोषण दे रहे हैं। इससे लीग के इतने मुसलमानों को, जो राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर भारतीय स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करते रहे हैं, जबरदस्त धक्का लगा है।

मुझे आशा है कि जिन प्रान्तों में हिन्दू अल्पसंख्यक हैं, आप वहाँ उनकी शोचनीय परिस्थिति से अवगत होंगे ही। आपका कथन है कि उन शर्तों की स्वीकृति देते समय आपने अपने को एक हिन्दू नहीं अपितु भारतीय माना है। यदि आप एक भारतीय होने के नाते मुसलमानों की माँग का विशेष ध्यान रख मिस्टर जिन्ना को खुश करने के लिए तैयार हैं, तब मैं भी एक हिन्दू होने के नाते हिन्दुओं के न्यायोचित और वैध अधिकारों की रक्षा करने के लिए आपसे क्यों न निवेदन करूँ? यदि आप एक भारतीय हैं और आपका हिन्दू अथवा मुसलमानों की किसी भी समस्या से सम्बन्ध नहीं है, तो आपको अनिवार्यत: मुस्लिम-लीग की अवहेलना बिल्कुल कर देनी चाहिए और उन लोगों को सहयोग देना चाहिए जो केवल भारतीय हैं, और कुछ नहीं।

मैं तिलक-जयन्ती के सम्बन्ध में पहली अगस्त को पूना आ रहा हूँ, वहाँ तीन दिन ठहरूँगा। इसके पूर्व मनोरंजन बाबू आपके दर्शन करेंगे और आपने यदि उन्हें मेरे लिए कोई संदेश देने की कृपा की तो मुझे बतलाएंगे। आशा है आप प्रसन्न होंगे।

सद्भावना सहित।

भवदीय
श्यामाप्रसाद मुकर्जी

पत्र भेजने के बाद, अगस्त 1944 में पूना से वापस लौटते समय डॉ. मुकर्जी ने महात्मा गाँधी से वर्धा में भेंट की। श्री राजगोपालाचार्य भी उन दिनों वर्धा ही में थे। डॉक्टर साहब ने महात्मा गाँधी और राजगोपालाचार्य के समक्ष धर्म के आधार पर भारत का विभाजन करने की किसी भी योजना में अन्तर्निहित खतरों की चर्चा

की। उन्होंने भविष्य-चिन्तन करते हुए गाँधी जी से कहा कि अगर पाकिस्तान बन भी गया तो उसकी विदेशी-नीति भारत के प्रतिकूल होगी और वह कई अप्रत्यक्ष व उलझी समस्याओं का कारण बनती हुई भारत की सुरक्षा के प्रति घातक होगी।

उत्तर में गाँधी जी ने कहा कि वे मिस्टर जिन्ना से मिलने का वचन दे चुके हैं जिससे पीछे हटना उनके लिए कठिन है, किन्तु उन्होंने यह विश्वास दिलाया कि वे अपने जीते-जी भारत के विभाजन को कभी स्वीकार नहीं करेंगे।

इससे डॉ. साहब को कुछ सान्त्वना तो मिली, किन्तु उनके भय सर्वथा दूर नहीं हुए। दिसबर 1944 के अन्तिम सप्ताह में बिलासपुर में होने वाले अखिल भारतीय हिन्दू महासभा के छब्बीसवें अधिवेशन के अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने इस सम्बन्ध में अपना भय और चिन्ता पुनः व्यक्त की। उन्होंने कहा, 'जब मिस्टर जिन्ना का पाकिस्तान का स्वप्न स्वयं उनके कुछ अनुयायियों की आँखों में भी धूमिल हो रहा था और मुस्लिम-लीग का प्रभाव दिनों-दिन फीका पड़ रहा था, तब गाँधी जी ने सी.आर. फार्मूले का समर्थन कर लीग के मृतप्राय जीवन में नए प्राण का संचार किया। मिस्टर जिन्ना राजाजी की इस योजना को भी अस्वीकार कर और कीमत माँग रहे हैं। गाँधी जी तो वायदा कर ही चुके हैं। यदि हम एक बार यह मान लेते हैं कि भारत के किसी अंचल-विशेष के शासन में इस्लाम के अनुयायियों का उनकी जनसंख्या के अनुपात में हिस्सा हो, तो यह निर्णय किसी एक धर्म को मानने वाली जाति-विशेष तक ही सीमित नहीं रहेगा। अन्य जातियाँ भी इसकी माँग करेंगी। परिणामस्वरूप देश की शान्ति और उन्नति नष्ट हो जाएगी। दूसरे प्रान्तीय इकाइयों को स्वाधीनता मिल जाने पर देश परस्पर विरोधी टुकड़ों में बँट जाएगा और केन्द्रीय सत्ता निर्वीर्य हो जाएगी।'

उन्होंने आगे कहा, 'पाकिस्तान साम्प्रदायिक समस्या का कोई हल नहीं है। इससे वह और उग्र होगी जिसका परिणाम गृहयुद्ध होगा। हमें इस ओर से आँखें नहीं मूँद लेनी चाहिये कि पाकिस्तान की लालसा का स्रोत वस्तुतः शासनसत्ता के रूप में इस्लाम की पुनः प्रतिष्ठा करने की इच्छा है। इस इच्छा को तुष्ट करने से निकृष्टतम धार्मिक मदान्धता जाग उठेगी और बहुत अनर्थ होगा।'

उन्होंने भारत की सभी राजनीतिक संस्थाओं को पारस्परिक वैमनस्य दूर कर देश को स्वाधीनता और पुनर्निर्माण की आधारभूत ज्वलन्त समस्याओं के निमित्त साँझी माँग करने के लिये संयुक्त मोर्चा बनाने का सुझाव दिया। उन्होंने कहा, 'सम्भव है कि इसमें मुस्लिम लीग सम्मिलित न हो, किन्तु ऐसे मुसलमान भी तो हैं जो जी.आर. फार्मूले को अपने लिए घातक समझते हैं और जो अल्पसंख्यकों के पूर्ण सुरक्षित अधिकारों के साथ भारतीय राष्ट्रीयता के साथ हैं। भारत की राजनीतिक चातुरी का प्रथम प्रमाण यह होगा कि भारत के सार्वजनिक जीवन के सभी राष्ट्रीय

तत्त्वों को एकत्र कर ब्रिटेन के स्थायी साम्राज्यशाही मनसूबों का विरोध करने के लिये अभेद्य राष्ट्रीय मोर्चा बनाया जाये।'

किन्तु डॉक्टर साहब के सभी सत्परामर्श और उपदेश विफल हुए। कांग्रेस में इतना आत्मविश्वास और पुरुषार्थ न था कि वह मुस्लिम-लीग की उपेक्षा कर सही राष्ट्रवादी नीति अपनाती। वह भारतीय राष्ट्रीयता की दुहाई देती थी और सभी भारतवासियों के अधिकारों की रक्षा करने का दावा भी रखती थी, किन्तु व्यवहारत: वह मुस्लिम-लीग को ही भारत के मुसलमानों का एकमेव प्रतिनिधि मानती थी और इसका समर्थन प्राप्त करने के लिये वह हिन्दुओं के अधिकारों तथा अन्य बृहत् राष्ट्रीय हितों पर कुठाराघात करके उससे सौदेबाजी करने पर उतारू थी।

मई, 1945 में महायुद्ध के समाप्त होने पर परिस्थिति बदल गई। ब्रिटिश सरकार ने क्रिप्स प्रस्ताव के आधार पर समझौते की राह निकालने की दृष्टि से कारावद्ध कांग्रेसी नेताओं और कार्यकर्ताओं को मुक्त करना उचित समझा। इस उद्देश्य से गवर्नर जनरल लॉर्ड वेवल ने अगस्त 1945 में शिमले में राजनीतिक नेताओं की परिषद् का आयोजन किया, जिसका उद्देश्य मुस्लिम लीग और कांग्रेस के बीच तुल्यता के आधार पर एक अंतरिम राष्ट्रीय सरकार के लिए मैदान साफ करना था। इस परिषद् में हिन्दू महासभा को निमन्त्रित नहीं किया गया। जब कांग्रेस ने अन्तरिम सरकार में सम्मिलित होना स्वीकार कर लिया तब जानकार सूत्रों के अनुसार महात्मा गाँधी ने मंत्रिमंडल में डॉ. श्यामाप्रसाद को लेने का सुझाव दिया। सरदार पटेल को यह पसन्द आया, किन्तु पं. नेहरू के न मानने से यह कार्यान्वित न हो सका।

उस समय डॉ. मुकर्जी दक्षिणी भारत का दौरा कर रहे थे। गाँधी जी की इच्छा थी कि वे दिल्ली या शिमले आकर उनसे मिलें, किन्तु कांग्रेस द्वारा बराबरी के प्रश्न पर मुस्लिम लीग के सम्मुख समर्पण करने के कारण वे ऐसे विरक्त हो चुके थे कि उन्होंने कार्यक्रम बदलना उचित नहीं समझा।

इसके कुछ समय बाद ही अचानक आजाद हिन्द फौज का प्रश्न उग्र रूप में सामने आ गया। सरकार ने आजाद हिन्द फौज के प्रमुख नेताओं पर राजद्रोह का अभियोग चलाने का निश्चय किया। यह भारतीय जनता के लिये बिल्कुल असह्य था, क्योंकि अद्भुत साहस और देशानुराग से परिपूर्ण इस फौज के लिए उनके हृदय में अतीव सम्मान और श्रद्धा थी। निदान देश-भर में आजाद हिन्द फौज दिवस मनाया गया। कलकत्ता के सभी विद्यार्थियों ने कक्षाएँ छोड़कर एक विराट् जुलूस निकाला। पुलिस-धिकारी शक्ति-प्रयोग के द्वारा प्रदर्शन भंग करना चाहते थे और विद्यार्थीगण झुकने को तैयार नहीं थे। निदान उन्माद बढ़ता गया और परिणामस्वरूप छात्रों और पुलिस के मध्य जबरदस्त संघर्ष की सम्भावना हो गई, जिसकी पूरे

बंगाल में कड़ी प्रतिक्रिया होनी अनिवार्य थी, किन्तु डॉ. मुकर्जी की सामयिक मध्यस्थता से परिस्थिति संभल गई, क्योंकि छात्र इन्हें अपना मित्र, दार्शनिक और पथप्रदर्शक मानकर इनका अतुल सम्मान करते थे जिस निर्भीकता और नीतिमत्ता से डॉक्टर साहब ने परिस्थिति को सम्हाला उसकी देश भर में सराहना हुई।

इस बीच ब्रिटेन में श्री चर्चिल की रूढ़िवादी सरकार का पतन हुआ और इसके बदले पार्टी सत्तारूढ़ हो गई। मि. एटली की नई सरकार ने भारत में एक उच्चाधिकारयुक्त मण्डल भेजने का निश्चय किया जो यहाँ आकर यहाँ के नेताओं से देश की पूर्ण स्वाधीनता के आधार पर बातचीत करके किसी सर्वसम्मत समझौते की राह निकाले। इस मण्डल ने भारत आकर सुझाव दिया कि स्वतन्त्र भारत का संविधान बनाने के लिये एक संविधान सभा बुलाई जाए। इसका चुनाव प्रान्तों की विधान-सभाएँ दस लाख जनसंख्या के लिये एक सदस्य के आधार पर करें। यह संविधान सभा एक ऐसा संविधान बनाए जिसके अनुसार भारत की केन्द्रीय सरकार के पास केवल चार विषय रहें और बाकी सारे अधिकार स्वशासित प्रान्तों को सौंप दिये जाएँ। ये प्रान्त चाहें तो परस्पर मिलकर भारतीय गणराज्य के अन्तर्गत विशिष्ट उद्देश्यों के लिये अपने अलग गुट बना लें।

इस दृष्टि से प्रान्तीय विधानसभाओं के चुनाव कराने का आदेश भी दे दिया गया।

कांग्रेस उस समय तक रस्मी तौर पर विभाजन का विरोध ही कर रही थी। सन् 42 में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने इलाहाबाद में अपनी एक सभा में लाला जगतनारायण लाल का एक प्रस्ताव पारित किया था, जिसमें कहा गया था कि कांग्रेस किसी भी दशा में भारत का विभाजन स्वीकार नहीं करेगी, किन्तु सी. आर. फार्मूले ने, जिसे गाँधी जी का आशीर्वाद प्राप्त हो चुका था, इस महत् प्रश्न पर कांग्रेस का पक्ष बहुत हल्का कर दिया। दूसरी ओर मुस्लिम-लीग अपनी विभाजन की माँग पर बराबर अड़ी थी और युद्ध-काल में उसकी स्थिति बहुत-कुछ मजबूत हो चुकी थी। अत: केवल इसी माँग को लेकर उसने प्रान्तीय विधान-सभाओं के चुनाव लड़ने का निश्चय भी किया।

परन्तु राष्ट्रवादी लोग तो मातृभूमि को खण्डित करने की इस कल्पना के ही विरुद्ध थे। वे आशा करते थे कि कांग्रेस मुस्लिम-लीग की दबाव की नीतियों से न दबते हुए दृढ़तापूर्वक अपनी आन की रक्षा करेगी, किन्तु कांग्रेस के कर्णधारों में समयानुकूल साहस और निष्ठा का अभाव था। चुनाव शुरू होने के पहले कांग्रेस की कार्यकारिणी समिति ने पूना में एक प्रस्ताव पारित किया, जिसमें संयुक्त भारत के पक्ष में आवश्यक तथ्य प्रस्तुत करने के बाद अन्त में दबे स्वर में यह घोषणा भी कर दी कि कांग्रेस भारत के किसी भाग को उसकी इच्छा के विरुद्ध भारत

के अन्तर्गत रहने के लिए बाध्य नहीं करेगी।

अपने इस पूना प्रस्ताव के द्वारा कांग्रेस ने सरदार पटेल के विरोध के बावजूद विभाजन का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया, परन्तु जनता के सामने इस प्रस्ताव का केवल उत्तरार्ध रखकर यह जतलाने का प्रयत्न किया कि वह विभाजन के प्रश्न पर समझौता नहीं करेगी। उसने भारत की एकता को अपने चुनाव-घोषणा-पत्र का प्रमुख विशय बनाया। हालांकि वास्तविकता यह थी कि इसके बिल्कुल प्रतिकूल वह यह स्वीकार कर चुकी थी कि अगर मुस्लिम-लीग मुस्लिम बहुल प्रान्तों में बहुमत ले जाए तो उसे विभाजन मान्य होगा।

डॉ. श्यामाप्रसाद मुकर्जी कांग्रेस की इस दुरंगी चाल को भाँप गए और उन्होंने सुविधानुसार अपने प्रत्याशी खड़े करने का निश्चय किया। दुर्भाग्यवश चुनाव के कुछ पहले ही उन्हें दिल का ऐसा दौरा पड़ा कि वे कई दिनों तक रोग-शय्या न त्याग सके। डॉक्टर साहब की रुग्णावस्था में ही स्वर्गीय सरदार पटेल उनसे भेंट करने गए और उन्होंने डॉक्टर साहब को आश्वासन दिलाया कि पूना-प्रस्ताव के बावजूद वे विभाजन का सिर से पैर तक विरोध करेंगे। उन्होंने डॉक्टर साहब से आग्रह भी किया कि वे अपने प्रत्याशी खड़े न करके उनके हाथ मजबूत करें।

परिणामस्वरूप डॉक्टर साहब ने कांग्रेस के लिए मैदान खुला छोड़ दिया। उसने अधिकांश हिन्दू सीटें इस आधार पर जीतीं कि वह भारत का विभाजन कदापि स्वीकार न करेगी चाहे पहाड़ क्यों न टूट पड़े। डॉ. मुकर्जी स्वयं विश्वविद्यालय के क्षेत्र से बंगाल विधानसभा के लिए निर्विरोध चुन लिये गये और इसके बाद ही वे बंगाल विधान-सभा के द्वारा भारतीय संविधान-सभा में चुन लिये गये।

चुनाव में मुस्लिम लीग को सिन्ध, पंजाब और बंगाल में स्पष्टतः बहुमत मिला। पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त में वह बहुमत तो न ले सकी, किन्तु सबसे बड़ी विरोधी पार्टी के रूप में सामने आई। अन्य प्रान्तों में भी मुसलमान मतदाताओं ने मुस्लिम लीग के पक्ष में ही मतदान दिया।

चुनाव की अप्रत्याशित सफलता से मुस्लिम-लीग के हौसले दुगने हो गए। वह और जोर-शोर से पाकिस्तान की माँग करने लगी। महात्मा गाँधी और पं. नेहरू के नेतृत्व में कांग्रेस इस स्थिति से घबराने लगी। पूना के प्रस्ताव में कांग्रेस इस बात को स्पष्ट मान चुकी थी कि जो क्षेत्र भारत में नहीं रहना चाहते वे बेशक अलग हो जाएँ। इस प्रस्ताव के अनुसार बंगाल, पंजाब और सिन्ध को अब यह अधिकार था कि वे अलग हो जाएँ। अब कैबिनेट मिशन विभाजन के पक्ष में झुकने लगा और कांग्रेस भी इसे अपरिहार्य समझने लगी। दुर्भाग्य से कांग्रेस के पास उस समय कोई अब्राहम लिंकन जैसा नेता नहीं था, जो उस स्थिति में इसका ठीक मार्गदर्शन करता और दृढ़ता से उस पर चलने का आह्वान करता।

अन्तिम प्रयास के तौर पर डॉक्टर मुकर्जी ने कैबिनेट मिशन से भेंट करके उसके सामने पूरी तत्परता और प्रभावात्मक तार्किकता के साथ भारत को खण्डित न करने का अपना दृष्टिकोण रखा, किन्तु मिशन के सदस्यों ने उन्हें कांग्रेस का पूना-प्रस्ताव दिखाते हुए कहा कि मुसलमान-बहुल प्रान्त यदि विभाजन की इच्छा करें तो वह कांग्रेस को स्वीकार है और सभी हिन्दुओं ने भी कांग्रेस को मत प्रदान कर इसमें अपनी सहमति दी है।

यथार्थ की धरती पर चलने वाले श्यामाप्रसाद ने तब अनुभव किया कि बाजी हारी जा चुकी है। कांग्रेस भारत के साथ विश्वासघात कर रही है। वह पाकिस्तान की माँग का समर्थन कर अपने में विश्वास रखने वाले भोले नागरिकों को प्रवंचना के जाल में फँसाने का यत्न कर रही है।

इस प्रकार अपने ही कर्णधारों की पौरुषहीनता और भीरुता के कारण मातृभूमि के पोत को अपने सामने डूबता देख डॉक्टर मुकर्जी ने इसमें से जो कुछ बच सके उसे बचाने का प्रयत्न शुरू किया, क्योंकि उन्हें अब यह स्पष्ट दिख रहा था कि सत्ता के प्रलोभन में डूबे हुए अधीर कांग्रेसी पाकिस्तान को पूरा बंगाल देने में भी नहीं हिचकिचाएँगे।

10. बंगाल और पजाब क त्राता

पंजाब और बंगाल ये दो मूल प्रान्त थे, जिनकी नींव पर मुस्लिम-लीग ने पाकिस्तान के विशाल भवन की कल्पना की थी। इन दोनों में मुसलमान थोड़ा बहुसंख्यक थे। कम्यूनल एवार्ड के कारण इन दोनों प्रान्तों में मुसलमानों को और भी बल मिला था, जिसके कारण वहाँ उनका दबदबा और भी बढ़ चुका था। कैबिनेट मिशन ने विभाजन के विकल्प स्वरूप जो जोनल स्कीम रखी थी, उसमें इन दोनों प्रान्तों की समस्त भूमि को पूर्व तथा पश्चिम के मुस्लिम-बहुल अंचलों में रखा था। इसलिए मुस्लिम लीग को यह विश्वास हो गया कि ये दोनों प्रान्त पूरे ही पाकिस्तान में शामिल होंगे।

किन्तु इन दोनों प्रान्तों की स्थिति में परित्राण की एक बात वह थी कि यहाँ की हिन्दू जनसंख्या सीमावर्ती हिन्दू-बहुल प्रान्तों के प्रतिवेशी जिलों में ही आबाद थी। जातीयता के आधार पर देश का विभाजन होने पर पंजाब और बंगाल के ये हिन्दू-बहुल भाग तर्कपूर्ण माँग रख सकते थे कि वे भारत में सम्मिलित किये जायें।

मुस्लिम लीग के नेता इस तथ्य से अभिज्ञ थे। इसलिए उन्होंने चुनाव में अपनी सफलता, कांग्रेस की मानसिक दुर्बलता और ब्रिटिश सरकार के रवैये से लाभ उठाकर इन भागों के हिन्दुओं को आतंकित करके अपने अधिकार में लाने की योजनाएँ बनानी शुरू कीं। वे और उनके पृष्ठपोषक ब्रिटिश अधिकारी कलकत्ता को पाकिस्तान में शामिल करने के लिए विशेष रूप से इच्छुक थे। इस उद्देश्य से उन्होंने 16 अगस्त, 1946 को कलकत्ता में दिन-दिहाड़े लूट और मारकाट की पैशाचिक योजना बनाई। शासकों के सीधे प्रोत्साहन से सहस्रों निर्दोष हिन्दू मौत के घाट उतार दिये गये। उनके मकान लूट लिये गये और दुकानें जला दी गईं।

किन्तु डॉक्टर श्यामाप्रसाद मुकर्जी के वीरोचित नेतृत्व में कलकत्ता के हिन्दुओं ने दृढ़तापूर्वक मुस्लिम-लीग द्वारा कलकत्ता को हिन्दुओं से खाली कराने की इस योजना को असफल बना दिया। मुस्लिम-लीग के मुस्लिम नेशनल गार्ड के उत्पातों को रोकने के लिए डॉ. मुकर्जी ने 'हिन्दुस्तान नेशनल गार्ड' नामक स्वयंसेवकों का एक संगठन बनाया था। इसने इस संकट के समय अच्छा काम किया। जान हथेली पर लेकर डॉ. मुकर्जी दंगा-ग्रस्त क्षेत्रों के लोगों को हिम्मत और सान्त्वना देने के लिये स्वयं उन क्षेत्रों में घूमते रहे।

कुछ समय बाद नोआखली तथा उसके समीप के गाँवों में इस पैशाचिक लीला की पुनरावृत्ति हुई। डॉ. मुकर्जी इस बार भी सबसे पहले अपने को जोखिम में डालते हुए पीड़ित क्षेत्रों के लोगों को इस्लाम के सिपाहियों के हाथों बचाने के

लिये दौड़े गए।

लीग की इन कार्रवाइयों से समस्त देश में उसके प्रति घृणा की लहर फैल गई। बंगाल के हिन्दुओं ने तो पाकिस्तान का रंग देख लिया। अपनी जिस धरती की मुक्ति के लिये उन्होंने बड़ी-से-बड़ी कुर्बानी की थी, उसी धरती पर अपने घोर अपमान और भीषण संहार की कल्पना से उनके हृदय दहल गये। जिस कांग्रेस के नेतृत्व पर अभी तक उनका पूरा विश्वास था, उसमें यथार्थ को परखकर परिस्थिति की माँग के अनुरूप कार्य करने का शौर्य नहीं था। निदान बंगाल के राष्ट्रवादी लोगों की आँखें एक बार फिर डॉक्टर श्यामाप्रसाद मुकर्जी पर केन्द्रित हो उठीं।

उन्होंने तब एक ऐसा साहसपूर्ण कदम उठाने का निश्चय किया। जिसने जिन्ना की कल्पना के पाकिस्तान को खण्डित कर दिया। उन्होंने महसूस किया कि स्थानीय मुसलमानी शासन में सारे बंगाली हिन्दुओं को सर्वनाश से बचाने का केवल यही उपाय है कि बंगाल के दो हिस्से कर दिये जाएँ। मुस्लिम-बहुल पूर्वी बंगाल को हिन्दू-बहुल पश्चिम बंगाल से अलग कर दिया जाए। बंग-विच्छेद की यह कल्पना उस देशभक्त बंगपुत्र के लिए बड़ी कठोर थी, जिसके पूर्वजों ने उसके पूर्वकालिक बंगभंग को भंग करके इसे पुनः एक करने के लिए बड़े-से-बड़े बलिदान दिए थे। बंगाल के विभाजन के इस प्रस्ताव को रखने में अपूर्व साहस की आवश्यकता थी और यह निर्विवाद था कि इसे सुनकर एक बार तो देशभक्त बंगाली जनता काँप उठेगी। यह कार्य डॉ. मुकर्जी ही कर सकते थे।

निश्चय कर लेने के बाद उन्होंने सभी साधनों से बंग-विभाजन के पक्ष में जनमत बनाने का कार्य शुरू कर दिया। उन्होंने पूरे बंगाल का, विशेषकर पूर्वी बंगाल का, वात्याचक्र-सा दौरा किया और विशाल जन-समूहों में हिन्दू-बहुल बंगाल को पाकिस्तान में जाने से बचाने के लिए अद्वितीय साहस के साथ बंग-विभाजन की योजना रखी।

उनके प्रवास के पश्चात् मार्च के मध्य में बंगाल के सभी क्षेत्रों के हिन्दु प्रतिनिधियों का एक द्विदिवसीय सम्मेलन हुआ जिसमें एक स्वर से यह प्रस्ताव रखा गया कि बंगाल के हिन्दू-बहुल क्षेत्रों को मिलाकर एक अलग प्रान्त की रचना की जाए।

इस आन्दोलन के अप्रत्याशित जोर पकड़ते ही मुस्लिम-लीग और कांग्रेस चिन्तित हो उठीं और पग-पग पर इसकी भीषण आलोचना करने लगी। कांग्रेसी आलोचकों ने, जो आन्दोलन की उपेक्षा हिन्दू जनता पर डॉ. मुकर्जी के बढ़ते हर प्रभाव से अधिक क्षुब्ध हो रहे थे, देश के विभाजन का दायित्व डॉ. मुकर्जी पर थोपना शुरू किया। उन्होंने यह भी बतलाया कि डॉ. मुकर्जी द्वारा प्रस्तावित नए

प्रान्त की रचना पाकिस्तान का समर्थन करेगी।

डॉ. मुकर्जी ने 19 मार्च, 1947 के एक वक्तव्य के द्वारा इस आलोचना का विस्तृत उत्तर दिया। उन्होंने कहा, ' यह मानना गलत है कि मेरे कार्य से पाकिस्तान को समर्थन मिलेगा। पाकिस्तान किसी भी रूप में क्यों न हो, हम उसके विरुद्ध हैं, परन्तु भारत को टुकड़े होने से बचाया जा सकता है या नहीं, यह केवल बंगाल के हिन्दुओं पर निर्भर नहीं करता। अगर भारत के हिन्दू तथा राष्ट्रवादी तत्त्व वास्तव में कृतसंकल्प हैं कि भारत का कोई भी अंग उससे विच्छिन्न न हो तो उन्हें बंगाली हिन्दुओं में सबसे अधिक सहायता मिलेगी। दूसरी ओर अगर ब्रिटिश सरकार, मुस्लिम-लीग तथा कांग्रेस के परस्पर गठबन्धन से बंगाल को भारत से अलग रखने की चेष्टा की गई तो हम बड़े-से-बड़ा बलिदान देकर भी पूर्वी पाकिस्तान की एकता को खत्म कर उससे एक भाग को भारत से मिला देंगे।'

जिन लोगों ने विद्रूप किया कि धर्म के आधार पर बंगाल का विभाजन राष्ट्रीयता के आधारभूत सिद्धान्त के प्रतिकूल है, उन्हें ललकारते हुए डॉक्टर साहब ने कहा, 'कोई भी नहीं चाहता कि धर्म को राजनीति में घसीटा जाए, किन्तु हमें शुतुर्मुर्ग के समान अपना सिर छिपाकर कटु यथार्थ से आँखें नहीं मूँदनी चाहिये। धर्म के नाम पर भारत अथवा उसके किसी भाग का बँटवारा इष्ट नहीं है, किन्तु जब हम यह यह देखते हैं कि पूरा बंगाल साम्प्रदायिक उन्माद का शिकार बनने जा रहा है और उसकी 45% जनसंख्या धर्मविशेष को मानने के कारण ही दासता की ओर ले जाई जा रही है, तब यदि हम माँग करें कि हमारे पास एक भूखण्ड होना चाहिए जहाँ हम स्वतन्त्रचेता हो रह सकें, तो क्या यह कोई अपराध है?' साथ ही उन्होंने अपने आलोचकों से प्रश्न किया कि क्या कांग्रेस ने स्वयं मुसलमानों के जातीय पृथक्वाद को तुष्ट करने के लिए सिन्ध का बम्बई से विभाजन स्वीकार नहीं किया था। हालांकि इससे सिन्ध के हिन्दुओं को घोर निराशा हुई और उनका भविष्य अन्धकारमय हो गया था।'

इस प्रतिवाद के उत्तर में कि मुस्लिम-लीग उनकी योजना का कड़ा विरोध करेगी, ऐसा वे जानते थे। अत: उन्होंने कहा, 'उन्हें इसकी चिन्ता नहीं क्योंकि अगर उनकी योजना सफल हो गई तो पूर्वी पाकिस्तान एक तरह से खत्म हो जायेगा। यह सबसे बढ़कर कारण है जिससे कि बंगाल के सब हिन्दुओं को अपने मतभेदों और विशृंखलक वादों को छोड़कर इस महत् प्रश्न पर एकमत हो जाना चाहिए।'

उन्होंने अपने समकालीन देशानुरागियों से आग्रह किया कि वे यथार्थ के आलोक में ही समस्या को देखें और भावना की आँधी के साथ न उड़ें।

उन्होंने अपने ऐतिहासिक व्यक्तव्य की समाप्ति पर बंगाल की कांग्रेस पार्टी से आग्रह किया कि समय का तकाजा है कि राष्ट्रवादी बंगाल और भारत के बृहत्तर

हितों के लिए वह उनके आन्दोलन में सहयोग दे।

डॉक्टर साहब की बंगविभाजन की तर्कयुक्त तथा प्रभावशाली वक्तृता ने कई कांग्रेसियों की विचारधारा भी पलट दी और शीघ्र ही उनकी योजना को बंगाली हिन्दुओं की सार्वभौमिक माँग का रूप मिल गया।

बंगाल के मुस्लिम-लीगी नेताओं का इस पर क्षुब्ध होना स्वाभाविक ही था। तर्क की दृष्टि से लीग बंगाल के हिन्दू-बहुल अंचलों को अपने भविष्य का स्वयं निर्माण करने के अधिकार से इंकार नहीं कर सकती थी क्योंकि यह स्वयं मुस्लिम-बहुल क्षेत्रों के लिए इसी अधिकार की माँग कर रही थी, लेकिन उसने यह अनुभव किया कि डॉ. मुकर्जी के आन्दोलन की सफलता से पूर्वी पाकिस्तान कट जायेगा और कलकत्ता उससे छिन जायेगा।

बंगाल की मुस्लिम-लीग के सूत्रधार एच.एस. सुहरावर्दी ने डॉ. मुकर्जी के आन्दोलन को विफल करने के लिये 'संयुक्त स्वतंत्र बंगाल राज्य' की योजना रखी। उसने यह जतलाकर कि मैं पहले बंगाली हूँ पीछे कुछ और, ऐसे कांग्रेस-पक्षी लोगों की सहानुभूति खींचने का प्रयत्न किया जिन्हें दुबारा बंग-विभाजन की कल्पना ही दुस्सह थी। चोटी के कुछ कांग्रेसी नेता, तथा शरच्चन्द्र बोस आदि, उसके जाल में फँस भी गए। उसने यह भी प्रचारित किया कि स्वयं महात्मा गाँधी ने उसकी योजना की सफलता के लिए आशीर्वाद भी दिया है।

किन्तु डॉ. मुकर्जी सुहरावर्दी की इन चालों से भय खाने वाले नहीं थे। वे 13 मई को सोडपुर में सुहरावर्दी की योजना के प्रति गाँधीजी के विचार जानने के लिये उनसे स्वयं मिले। गाँधीजी ने उन्हें कहा कि वे अभी तक इस पर कुछ निश्चित मत नहीं बना पाए हैं, किन्तु इस प्रस्ताव की तह तक जाने के प्रयत्न में अवश्यक हैं। उन्होंने तब डॉ. मुकर्जी से उनकी राय पूछी।

डॉ. मुकर्जी ने कहा, 'प्रकटत: मि. सुहरावर्दी ही इस योजना के प्रणेता हैं, किन्तु वास्तव में यह ब्रिटिश व्यावसायिक हितों की दृष्टि से नियोजित की गई है और लार्ड माउंटबेटन ने स्वयं सुहरावर्दी को इस प्रस्ताव पर विशेष ध्यान देने के लिये कहा है।'

उन्होंने आगे कहा, 'प्रश्न तो यह है कि इस संयुक्त स्वतंत्र बंगाल को पाकिस्तान के साथ मिलने से कौन रोक सकता है? मुझे भय है कि सुहरावर्दी मुस्लिम वोटों की अधिकता के कारण इस प्रकार का कोई निर्णय अवश्य स्वीकृत करवा लेंगे।' अन्त में डॉ. साहब ने गाँधी जी से पूछा, 'क्या आप शेष भारत से विच्छिन्न बंगाल की कल्पना कर सकते हैं?' गाँधी जी के पास इसका कोई उत्तर न था।

चोटी के कुछ कांग्रेसी नेताओं के विरोध के बावजूद पाकिस्तान की माँग

स्वीकृत होने की दशा में बंग-विभाजन का आन्दोलन ऐसा सशक्त और लोकप्रिय हो गया कि ब्रिटिश सरकार, कांग्रेस और मुस्लिम-लीग के लिए उनका विरोध करना असम्भव हो गया। ब्रिटिश सरकार द्वारा 3 जून को भारत के, भारत व पाकिस्तान इन दो खण्डों में विभाजन के पश्चात् स्वाधीनता की घोषणा में बंगाल और पंजाब के हिन्दु-बहुल क्षेत्रों को यह छूट दी गई कि वे इन दोनों प्रान्तों से चाहें तो अलग हो जाएँ। साथ ही ऐसे क्षेत्रों की सीमाएँ निर्धारित करने के लिये लार्ड रेडक्लिफ की अध्यक्षता में एक सीमा-आयोग की नियुक्ति भी कर दी गई।

रेडक्लिफ कमीशन को इस काम के लिये जो निर्देश दिये गये उनके अनुसार हिन्दू-बंगाल को पाकिस्तान में सम्मिलित होने वाले मुस्लिम-बंगाल से अलग करने वाली सीमान्त रेखा के साथ मनमाना अत्याचार हो सकता था। यह देखकर डॉ. मुकर्जी ने हिन्दू-बंगाल का पक्ष तैयार करके बाउंड्री कमीशन के समक्ष रखने का काम स्वयं अपने हाथों में लिया। इस प्रयोजन से उन्होंने प्रमुख कानूनदानों की एक समिति बनाई जिसे पश्चिमी बंगाल में जाने वाले हिन्दू-बहुल क्षेत्रों का विस्तृत एवं सुनियोजित नक्शा बनाने का काम सौंपा गया। इसके अनुसार सारा खुलना जिला, जिसकी जनसंख्या साठ प्रतिशत से भी अधिक हिन्दू है, पश्चिमी बंगाल में आता था।

किन्तु कांग्रेस के प्रवक्ता पूर्वी पाकिस्तान को आत्म-निर्भर बनने और अपने पाकिस्तानी विपक्षियों को खुश रखने के लिये खुलना पर बंगाल का दावा छोड़ने के लिए तैयार हो गए। परिणामस्वरूप रेडक्लिफ एवार्ड पश्चिमी बंगाल के लिये बहुत हानिकार सिद्ध हुआ। इसके कारण एक विशाल भू-क्षेत्र, जिसमें बीस लाख हिन्दू निवास करते थे, भारत में रहने की बजाए पाकिस्तान में धकेल दिया गया।

विभाजन की योजनाएँ जैसे ही कार्यान्वित होनी शुरू हुईं, पूर्वी बंगाल में हिन्दू, जिन्हें पहले ही मुस्लिम-प्रधान शासन का कटु अनुभव हो चुका था, घबराने लगे। पूर्वी बंगाल के हिन्दू नेताओं ने बंग-विभाजन का अनुमोदन इस आशा और आश्वासन से किया था कि उनके पश्चिमी बंगाल और शेष भारत के बन्धु उनके भले-बुरे का ध्यान रखेंगे। वे इस बात का पूर्ण आश्वासन चाहते थे कि वे केवल पाकिस्तान के कृपाश्रित नहीं रहेंगे। अत: डॉ. मुकर्जी ने दुबारा पूर्वी बंगाल का दौरा किया। उन्होंने महात्मा गाँधी तथा सरदार पटेल को भी प्रेरित किया कि वे पूर्वी बंगाल में जाकर वहाँ के हिन्दुओं को, जो भारत की मुक्ति के संघर्ष में हमेशा सबसे आगे रहे थे, अधिकारवाणी से आश्वासन दें कि उनके हितों की रक्षा की जायेगी।

अनेक स्थानों पर डॉ. साहब ने विराट् जन-सभाओं में कहा कि उन्हें पूर्वी बंगाल के हिन्दुओं द्वारा भारत और अपने पश्चिमी बंगाल के हिन्दू भाइयों के हितों के लिये किये गये नि:स्वार्थ त्याग का पूरा अहसास है। उन्होंने उन्हें विश्वास

दिलाया कि वे उनके हितों का ध्यान रखेंगे और सभी कठिनाइयों के समय उनका साथ देंगे। वे आजीवन अपने इस वचन पर आबद्ध रहे।

साथ-ही-साथ वे अपनी विलक्षण राजनीतिक सूझ-बूझ, प्रभावी वक्तृत्व-शक्ति और सद्व्यवहार-कुशलता के कारण भारतीय संविधान सभा में विशेष आदर व प्रशंसा के भागी बन रहे थे। अब सर्वत्र उन्हें भारत के राजनीतिक आकाश का एक ऐसा प्रमुख नक्षत्र माना जाने लगा जिसकी देश की आजादी के लिये सेवाएँ किसी से कम न थीं। बंगाल के तो वे सर्वप्रिय और अनन्य नेता तथा प्रवक्ता माने जा रहे थे। इसलिये कांग्रेस के नेताओं को, जो 15 अगस्त, 1947 को बनने वाली राष्ट्रीय सरकार के लिये मन्त्रियों का चयन कर रहे थे, उनका नाम सहज में ही सूझा। इस प्रकार उन्हें भी स्वतन्त्र भारत के प्रथम मंत्रिमंडल में व्यक्तिगत रूप में सम्मिलित होने के लिये आमंत्रित किया गया।

11. केन्द्रीय मंत्रिमंडल में

डॉक्टर श्यामाप्रसाद मुकर्जी को कदापि यह आशा न थी कि उन्हें कांग्रेस द्वारा स्वतन्त्र भारत के प्रथम मंत्रिमंडल में शामिल होने के लिए कहा जायेगा। एक सच्चे राष्ट्रवादी के नाते उन्होंने कदम-कदम पर मातृभूमि के विभाजन का विरोध किया था। उनके हृदय में कांग्रेसी नेताओं के प्रति घृणा और अविश्वास उत्पन्न हो गया था, क्योंकि उन्होंने 1946 में होने वाले आम चुनावों में जनता को दिए गए आश्वासनों और वचनों को ताक पर रखकर देश का बँटवारा स्वीकार कर लिया था। वे अच्छी तरह जानते थे कि विभाजन को स्वीकार करने में वे किसी जन-कल्याण की भावना से प्रेरित नहीं हुए थे, और न ही उन्हें यह विश्वास ही था कि इससे साम्प्रदायिक समस्या हल होगी। इसका कारण तो उनकी करुण कायरता, रक्तपात से अरुचि और केन्द्रीय सरकार में अपने मुस्लिम-लीगी सहयोगियों से, जो राजनीति में उनसे कहीं बढ़-चढ़कर थे, छुटकारा पाने की बलवती इच्छा ही थी, ताकि वे निर्बाध और सुरक्षित सत्ता के उपभोक्ता बन सकें। साथ ही उन्हें यह आशंका भी थी कि किसी आन्तरिक प्रेरणा-शक्ति के अभाव में वे पाकिस्तानियों से ठोकर खाने के बावजूद भी उन्हें तुष्ट करने की अपनी परम्परा को जारी रखेंगे। अतएव् मंत्रिमंडल में सम्मिलित होने का निमन्त्रण डॉक्टर साहब के लिये एक सुखद विस्मय था। उनके हिन्दू महासभा के सहयोगियों ने, विशेषकर तिलक स्कूल के राजनीतिविद् वीर सावरकर ने, उन्हें इस निमन्त्रण को स्वीकार करने की सम्मति दी। एक देशभक्त के नाते वे चाहते थे कि कांग्रेसी नेताओं को पूरा सहयोग दिया जाए ताकि उन्हें स्वतन्त्र भारत के निर्माण में अपनी योग्यता के प्रदर्शन का उचित अवसर मिले।

डॉक्टर मुकर्जी को उद्योग-विभाग सौंपा गया। उनकी अपनी रुचि शिक्षा की ओर अधिक होने के कारण वे शायद शिक्षा-विभाग लेना अधिक पसन्द करते, परन्तु उन्हें उद्योग का महत्त्वपूर्ण विभाग देकर कांग्रेसी नेताओं ने उनकी प्रामाणिकता तथा देश की औद्योगिक आवश्यकताओं और समस्याओं के सम्बन्ध में उनके विपुल ज्ञान पर मानो अपनी आस्था प्रकट की।

अपने मंत्रिपद के ढाई वर्ष की अवधि में उन्होंने इस विश्वास को प्रतिफलित कर दिखाया। उन्होंने पूरी बुद्धिमता और यथार्थवादी दृष्टिकोण के साथ कृषि प्रधान देश में औद्योगीकरण की समस्याओं को हाथ में लिया। भारत की औद्योगिक प्रगति विदेशी सरकार द्वारा जान-बूझकर अवरुद्ध की गई थी। कलकत्ता विश्वविद्यालय के प्रमुख प्रशासक के नाते चोटी के विद्वानों तथा वैज्ञानिकों की नियुक्ति करने तथा

अविभाजित बंगाल के अर्थमंत्री का दायित्व सँभालने के उनके अनुभव अब उन्हें बहुत लाभदायक सिद्ध हुए। वे कुण्ठारहित होने के कारण नये उत्साह और वस्तुतथ्य के साथ अपने ऊपर सौंपे गए कार्यों को भली-भाँति पूरा कर सकते थे। उनकी बौद्धिक महत्ता, मानसिक चेतना और चट्टान जैसी प्रमाणिकता के कारण उन्हें अंग्रेज उच्च कर्मचारियों से पूरा आदर और सहयोग मिला। परिणामस्वरूप उन्होंने बहुत सफलतापूर्वक अपना कार्य निबाहा। स्वतन्त्र भारत के निर्माणात्मक प्रथम वर्षों में उन्होंने औद्योगिक समस्याओं को जिस तरह सुलझाया और उद्योग-सम्बन्धी जो नीतियाँ बनाईं, इसके लिये उनके घोर राजनीतिक प्रतिद्वन्द्वी भी उनकी सराहना करते हैं।

आज देश का ध्यान आकर्षित करने वाली विशाल चितरंजन लोकोमोटिव फैक्टरी, सिन्द्री फर्टिलाइजर फैक्टरी तथा हिन्दुस्तान एअरक्राफ्ट फैक्टरी, बंगलौर—तीनों अत्यन्त सफल और विशाल औद्योगिक कारखाने डॉक्टर मुकर्जी की ही अपूर्व देन हैं। हिन्दुस्तान एअरक्राफ्ट फैक्टरी के बने हुए भारतीय रेलों के तीसरे दर्जे के नवीन मॉडल डिब्बे डॉक्टर साहब की गहन व्यक्तिगत रुचि के प्रमाण हैं। अगस्त, 1952 में जब मैं दिल्ली से पठानकोट तक एक ऐसे ही तीसरे दर्जे के डिब्बे में उनके साथ यात्रा कर रहा था, तब उन्होंने बड़े उत्साह से बताया था कि ये डिब्बे एक साधारण भारतीय मुसाफिर के लिये सुविधाजनक होंगे या नहीं, यह जानने के लिए ही मैंने स्वयं सबसे पहले डिब्बे में बैठकर और सोकर उसका परीक्षण किया था। भारत में बनने वाले इस्पात के परिणाम और प्रकार में सुधार करने के उद्देश्य से उन्होंने कुछ प्रमुख जर्मन फर्मों में भारत से इस्पात के नए कारखाने लगाने के लिये बातचीत भी शुरू की थी।

पूँजी तथा मजदूरों में पारस्परिक सम्बन्ध तथा देश के औद्योगिक विकास में व्यक्तिगत पूँजी के सहयोग आदि मामलों में उनके विचार बहुत सुलझे हुए थे। इसका निश्चित मत था कि उद्योग की दृष्टि से पिछड़े हुए हमारे सद्य-स्वतन्त्र देश के सम्मुख उसे आवश्यक वस्तुओं में, विशेषकर प्रतिरक्षा की वस्तुओं में आत्मनिर्भर बनाने के लिये, सहकारी प्रयास द्वारा निजी तथा सरकारी सभी साधनों को एकत्र करना सबसे पहला काम था। वे इस पक्ष में थे कि देश के औद्योगीकरण में अपना सहयोग देने के लिये सरकारी निगरानी के अन्दर निजी व्यवसायों को प्रोत्साहन मिलना चाहिये। साथ ही राज्य को उद्योग के ऐसे क्षेत्रों में, जहाँ लोग पूँजी लगाने में झिझकते हैं और देश की सुरक्षा के लिए जिनका विकास आवश्यक है, अपने साधनों का उपयोग करना चाहिए। इस तरह वे चाहते थे कि देश के शीघ्र भावी, किन्तु विधिवत् औद्योगीकरण के लिये देश की वास्तविक स्थिति के आधार पर निजी और सरकारी उद्योगों में परस्पर तर्कसंगत तथा व्यावहारिक सामंजस्य की

स्थापना हो।

इस नीति को बनाते समय उनका ध्यान किन्हीं सिद्धान्तों पर न होकर केवल देश की आवश्यकताओं और विशिष्ट परिस्थितियों पर ही था। सत्य तो यह है कि वे किसी भी वाद-विशेष से बँधे हुए नहीं थे। वे स्वच्छ मस्तिष्क के साथ प्रत्येक योजना और नीति को व्यावहारिकता तथा उपयोगिता की कसौटी पर कसते थे।

उन्हें विश्वास था कि भारत में सभी उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करने और उन्हें निपुणतापूर्वक चलाने के लिए आवश्यक साधनों तथा अनुभवी और प्रशिक्षित व्यक्तियों का अभाव है। इसलिए वे सभी उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करने के सम्बन्ध में अविवेकपूर्ण चर्चा के विरुद्ध थे, क्योंकि इससे उद्योगों में निजी पूँजी लगाने वालों में व्यर्थ की भगदड़ मचती है।

उन्हें इस बात का भी अनुभव था कि राज्य द्वारा शासित उद्योग सरकारी कर्मचारियों की उद्देश्यहीनता तथा नेतृत्व के अभाव के कारण साधारणतया निजी उद्योगों की अपेक्षा कम योग्यता से चल रहे हैं। अत: उन्होंने राज्य द्वारा संचालित उद्योगों को भी हाथ में लेने के लिये हिस्सेदारी के आधार पर बनी हुई कारपोरेशन के द्वारा चलाने की पद्धति अपनाई। इन कारपोरेशनों में पूँजी का अधिकांश अथवा सभी अंश राज्य की ओर से ही होता था और बोर्ड में कुछ निजी उद्योगपतियों के अतिरिक्त सरकारी व्यक्ति भी रहते थे। आजकल भारत में राज्य द्वारा संचालित उद्योगों के लिए यही पद्धति अपनाई जा रही है।

इसी तरह राष्ट्रहित की कामना से प्रेरित होकर उन्होंने औद्योगिक श्रम के प्रश्न पर निजी और सरकारी पूँजी के सहयोग की नीति ही अपनाई। उनका विचार था कि उत्पादन बढ़ाने की दृष्टि से पूँजी और श्रम में सामंजस्य होना चाहिये। वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त कभी प्रगति का साधन बन सकता है, यह बात उनके विवेकपूर्ण मस्तिष्क को भी नहीं जँची। श्रमिक स्वामियों की शर्तों पर ही काम करें, यह भी उन्हें नहीं जँचा। उनका स्पष्ट विचार था कि लाभ की रकम श्रमिकों और पूँजीपतियों में बराबर बँटनी चाहिए ताकि श्रमिकों को भी उद्योग में बराबर रुचि हो सके। श्रमिकों की इसी हिताकांक्षा के कारण एक ओर तो वे श्रमिकों और दूसरी ओर पूँजी के प्रश्न पर अपने यथार्थवादी तथा व्यावहारिक दृष्टिकोण के कारण मालिकों में विश्वास उत्पन्न करने में सफल हुए थे। विशाखापट्नम के हिन्दुस्तान शिप बिल्डिंग यार्ड के कर्मचारियों ने डॉक्टर साहब की अन्तिम तथा दु:खान्त कश्मीर यात्रा के कुछ देर पहले यह कहकर कि व्यवस्था-विभाग से अपने झगड़े में वे उनके किसी भी निर्णय को मान्यता देंगे, उन पर श्रमिकों के अटूट विश्वास का उत्तम प्रमाण दिया था।

डॉक्टर साहब ने केवल अपने विभागों के लिये ही सही नीतियाँ निर्धारित

नहीं की, अपितु सरकार की अन्य नीतियों को भी योग्यतापूर्ण प्रतिपादन और पक्षपोषण करने के कारण वे सारी सरकार के लिये एक शक्ति-स्तम्भ बन गए थे। जो भी काम उन्हें सौंपा जाता था उसमें वे प्राणपण से जुट जाते थे। अपनी गहन सूझ-बूझ और हाजिर-जवाबी के कारण वे कई बार ऐसी स्थितियों को सम्हाल लेते थे जिन्हें उनके साथी मन्त्री बहुत कठिन समझते थे। उदाहरणार्थ—एक बार सरकारी क्षेत्रों में इस समाचार से बड़ी सनसनी थी कि कुछ प्रमुख संसद सदस्य, जो कपड़ा कंट्रोल जैसे मामलों में निपुण समझे जाते थे, सरकार की कंट्रोल नीति की आलोचना करने वाले हैं। सरकारी पक्ष निराशाजनक ही था, किन्तु डॉक्टर साहब ने, जो उस दिन प्रथम वक्ता थे, अपने तीन घण्टे के वक्तव्य में सरकारी-पक्ष का इतने ओजस्वी और प्रभावोत्पादक शब्दों में प्रतिपादन किया कि जो लोग कटु आलोचना करने के उद्देश्य से ही आये थे, उन्होंने ही सबसे पहले आकर उन्हें बधाई दी। इस तरह पासा ऐसा पलटा कि आलोचक ही समर्थक बन गए।

एक घटना और स्मरणीय है। एक बार सप्लाई महकमे के स्टोर-विभाग के कुछ अफसरों द्वारा किए गए किसी संदिग्ध सौदे को लेकर कुछ व्यक्तियों द्वारा कानाफूसी शुरू की गई। अनुमान था कि इन अफसरों ने टुथ-ब्रुश और कंघियों की एक बड़ी राशि बहुत कम मूल्य में बेच दी है। इससे सम्बन्धित प्रश्न पूछे गए थे। अपनी टिप्पणियों के साथ पूरे मामले की फाइलें सम्बन्धित कर्मचारियों द्वारा डॉ. मुकर्जी को प्रातः सवेरे साढ़े नौ बजे दे दी गईं। उनमें स्वीकार किया गया था कि टुथ-ब्रुश अच्छे और रद्दी, दोनों प्रकार के थे और उनका जो मूल्य मिला, वह वास्तव में बहुत कम था। कोई साढ़े दस बजे ही डॉक्टर साहब संसद में पहुँच गये और तत्काल ही उन्होंने प्रश्नों के उत्तर देना शुरू कर दिया। प्रश्नोत्तर इस प्रकार हुए—

प्र०—क्या यह सच है कि बहुत-सा सामान बहुत कम मूल्य में दे दिया गया है?

उ०—जी हाँ।

प्र०—क्या यह सत्य है सामान अच्छी दशा में था?

उ०—कुछ अच्छी दशा में था, कुछ बुरी में।

प्र०—क्या यह सामान इतना बुरा था कि इसकी अच्छी कीमत नहीं आ सकती थी?

उ०—जी।

तत्काल ही डॉक्टर मुकर्जी ने नमूने के लिए अपनी जेब से कुछ ऐसे टुथ-ब्रुश निकालकर प्रस्तुत किये जो बिल्कुल ही लोमरहित थे। सभी सदस्य देखते ही रह गए और सोचते रहे कि इतना रद्दी माल आखिर बिका ही कैसे? प्रश्नकर्ता बिल्कुल चुप रह गए। कुछ और पूछने की उन्हें हिम्मत ही न हुई? उनके विभाग के अधिकारी भी चकित थे कि इतने थोड़े समय में ही उन्होंने इतना उपयुक्त सामान

कैसे प्राप्त कर लिया।

किन्तु केन्द्रीय सरकार के मन्त्रीपद पर होते हुए भी डॉक्टर साहब को सबसे अधिक सफलता कश्मीर, हैदराबाद और पूर्वी बंगाल के महत् प्रश्नों पर, जो भारत के अस्तित्व, उसकी अखण्डता और प्रतिष्ठा को उसकी स्वतन्त्रता के उदयकाल से ही चुनौती दे रहे थे, नीतियाँ निर्धारित करने में मिली। उन्होंने इस बात की बहुत कोशिश की कि केन्द्रीय सरकार इन सब समस्याओं के प्रति किंचित् यथार्थोन्मुख नीतियाँ अपनाए। औद्योगिक समस्याओं और अखण्डता तथा उन सब लोगों की कल्याणवांच्छा, जो भारत-भू को मातृभूमि कहकर वन्दित करते हैं, उनकी एकमात्र कसौटी थी। भारत और उनके लिए यह सौभाग्य की बात थी कि नेहरू सरकार के उपप्रधान मन्त्री सरदार बल्लभभाई पटेल के भी ऐसे ही विचार थे और वे उनके मत का प्रतिपादन करते थे, परन्तु जैसे ही उन्होंने यह महसूस किया कि वे देश एवं भारतीय जनता के हितों को पाकिस्तान के तुष्टीकरण की वेदी पर बलिदान होने से नहीं बचा सकते, वे मंत्रिमंडल छोड़कर चले आए।

22 अक्टूबर, 1947 को पाकिस्तानी अफसरों के नेतृत्व में कबाइलियाँ द्वारा कश्मीर पर आक्रमण होने पर भारत सरकार के सामने ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई जिसमें तुरन्त कोई बड़ा कदम उठाना अनिवार्य था, किन्तु प्रधानमंत्री पं. नेहरू में जिनके हृदय में कश्मीर के प्रति बड़ा स्नेह है, परिस्थिति की माँग के अनुसार दृढ़ इच्छा-शक्ति और साहस की कमी थी। उन्हें भय था कि कश्मीर में यदि सीधे फौजी सहायता भेद दी गई तो कहीं उनके बनाये पाकिस्तान से युद्ध न छिड़ जाये।

पाकिस्तानी आक्रान्ताओं के आरक्त हाथों से निर्दोष काश्मीरियों की रक्षा के निमित्त तात्कालिक सहायता के लिए कश्मीर के प्रधानमंत्री की तमाम कोशिशों और महाराजा की अनुनयपूर्ण अपील का नेहरू जी पर तिलमात्र भी असर न हुआ। आखिरकार कश्मीर सरकार का प्रतिनिधि निराश हो गया और वह इस इरादे से कान्फ्रेंस टेबल से उठ गया कि जब भारत कश्मीर को नहीं बचा सकता तो वह फौरन कराची जाकर मिस्टर जिन्ना से श्रीनगर के असहाय लोगों की रक्षा के लिये, जिनमें सहस्रों कश्मीरी पंडित भी थे, प्रार्थना करे।

इससे सरदार पटेल का हृदय भी कुछ पसीजा। वे डॉक्टर मुकर्जी की इस बात से सहमत थे कि परिणामों की चिन्ता किए बिना भारत को अपनी सेनाएँ शीघ्र ही कश्मीर भेजनी चाहियें, क्योंकि यह प्रश्न केवल लाखों काश्मीरियों के जीवन का नहीं, अपितु पूरे भारत की प्रतिष्ठा का था। निदान पंडित नेहरू को झुकना ही पड़ा। वायुयान द्वारा भारतीय फौजें समय पर ही श्रीनगर पहुँचीं और इस तरह प्राचीन नगर और उसके साथ ही पूरा कश्मीर पाकिस्तान के फन्दे में पड़ने से बचाया जा सका।

यह डॉक्टर मुकर्जी के दृष्टिकोण की विजय थी। वे दृढ़ और उचित नीतियों के प्रतिपादन में सरदार पटेल के ऐसे मेधावी समर्थक थे जो मंत्रिमंडल में नेहरू के तर्कों को काटकर अपनी नीतियों की आवश्यकता और तर्कशुद्धता सिद्ध करने में सर्वथा समर्थ थे।

परन्तु भारत के दुर्भाग्य से पं. नेहरू ने अपनी कोरी और अयथार्थवादी बुद्धि का परिचय देते हुए कश्मीर में भारतीय सेना भेजने के ठीक निर्णय को, यह प्रस्ताव रखकर कि भारतीय सेना द्वारा कश्मीर से पाकिस्तानी सेना के खदेड़े जाने के पश्चात् कश्मीर के भविश्य का निर्णय जनमत से होगा, मानो मिट्टी में मिला दिया। यह प्रस्ताव नितान्त अनावश्यक और असंगत था और मंत्रिमंडल की अनुमति के बिना ही प्रस्तुत किया गया था। कश्मीर के मामले में यह पंडित नेहरू की पहली बड़ी भूल सिद्ध हुई जिसके पीछे शृंङ्ख्लावत् अनेक भूलें होती चली गईं। नेहरूजी की कश्मीर-सम्बन्धी गलत नीतियों के विरुद्ध पहले मंत्रिमंडल में और तत्पश्चात् बाहर से भी आवाज उठाने का श्रेय डॉक्टर मुकर्जी को ही है। उन्होंने कश्मीर के सम्बन्ध में ठीक नीतियों का ही प्रतिपादन नहीं किया, अपितु उसको बचाने के लिये अपने जीवन की आहुति भी दे डाली।

स्वाधीनता के तत्काल बाद हैदराबाद के निजाम और उसके रज़ाकारों ने एक और बड़ी समस्या उत्पन्न कर दी थी। पाकिस्तान तथा ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के प्रोत्साहन से वह हैदराबाद को एक दूसरा स्वतंत्र पाकिस्तान बनाकर स्वयं उसके सुल्तान होने का स्वप्न देख रहा था। इसी लक्ष्य के कारण उसने भारत में अपनी रियासत का विलय करना अस्वीकार कर दिया और अस्त्र-शस्त्रादि इकट्ठा करके अपनी सैनिक शक्ति बढ़ानी शुरू कर दी। उसने पोर्तुगीजों के साथ गोवा को खरीदने के निमित्त तैयारी भी शुरू कर रखी थी, ताकि उसकी रियासत को एक समुद्री नौका मिल जाये जिसके द्वारा वह बाहर से सहायता प्राप्त कर सके। उसके रज़ाकारों ने रियासत के हिन्दुओं को इस विचार से त्रस्त करना शुरू किया कि वे या तो इस्लाम कबूल कर लें अथवा रियासत से बाहर भाग जाएँ।

इस स्थिति का मुकाबला करने के लिये तुरन्त दृढ़ कदम उठाने की आवश्यकता थी, क्योंकि स्वतन्त्र तथा अमित्र हैदराबाद भारत की सुरक्षा एवं अखण्डता के लिये स्थायी खतरा बन सकता था। वह सभी पाँचवें दस्तों (देशद्रोहियों) और राष्ट्र-घातक तत्वों का केन्द्र बन सकता था। उसकी भौगोलिक स्थिति भी ऐसी थी कि वह किसी भी समय उत्तरी हिन्दुस्तान को दक्षिणी हिन्दुस्तान से अलग कर देश की एकता का विध्वंस कर सकता था।

किन्तु चूँकि निज़ाम एक मुसलमानी शासक था, जिसकी महत्त्वाकांक्षा की सफलता में चोटी के कुछ तथाकथित राष्ट्रवादी मुसलमानों की भी रुचि थी,

अत्एव भारत सरकार ने उसके साथ दीर्घकालीन पत्र-व्यवहार शुरू कर दिया। निजाम के ब्रिटिश संवैधानिक परामर्शदाता सर वॉल्टर मॉक्टन और उसने अन्य दूत समय-समय पर जो प्रस्ताव, प्रति-प्रस्ताव और सन्धि की शर्तें नई दिल्ली लाए अथवा यहाँ से ले गए, उन सबका अध्ययन बहुत क्षोभजनक है। शायद पण्डित नेहरू के सिवाय और सब यह समझते थे कि निजाम केवल अपनी सैनिक तैयारी पूरी करने के लिये ही यह समय ले रहा है, किन्तु पण्डित नेहरू निजाम के आगे बराबर इस हद तक झुकते गए कि उनके दलीय व्यक्ति तथा सहयोगी ही नहीं अपितु लार्ड माउण्टबेटन के जन-सम्पर्क-सचिव कैम्पबेल जॉन्सन सरीखे विदेशी भी, जिन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'मिशन विद माउण्टबेटन' में इस पत्र-व्यवहार का विस्तृत हाल दिया है, निराश और चकित होने लगे।

डॉक्टर मुकर्जी को यह राष्ट्रीय-गौरवशून्य नीति बहुत खली। वे इससे होने वाले भयंकर परिणामों को समझ रहे थे। वे जानते थे कि मुसलमानों के प्रति पण्डित नेहरू में अचल दृढ़ संकल्प होने की क्षमता ही नहीं है। मंत्रिमंडल के अनेक अन्य सदस्यों की भी यही धारणा थी। इस नीति को बदलने का एक ही तरीका था कि हैदराबाद का प्रश्न सरदार वल्लभ भाई पटेल को सौंप दिया जाए। वैसे भी रियासत-मन्त्री होने के नाते उनका यह अधिकार-क्षेत्र था। किन्तु पण्डित नेहरू के हाथ से, जिनका तीव्र सत्ताप्रेम और तानाशाही की प्रवृत्ति तब तक प्रकट हो चुकी थी, इस प्रश्न को खींच लेना कोई सरल काम नहीं था। निदान डॉक्टर साहब ने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये कौशल से काम लिया।

मंत्रिमंडल की एक बैठक में उन्होंने सुझाव दिया कि हैदराबाद का प्रश्न दिनों-दिन जटिल होता जा रहा है, अत: उस पर विशेष ध्यान की आवश्यकता है। आगे उन्होंने कहा कि प्रधानमंत्री पहले ही अत्यन्त व्यस्त प्राणी हैं, सो उन पर काम का और बोझ नहीं डाला जा सकता। अत: उन्होंने सुझाव दिया कि सरदार पटेल से अनुरोध किया जाए कि वे पूरा अधिकार लेकर इस समस्या को अपने हाथों में लें। कुछ अन्य मंत्रियों ने इसका समर्थन किया। सरदार पटेल ने, जो पटेल ही इस प्रस्ताव के रहस्य से अभिज्ञ थे, पण्डित नेहरू के कुछ कहने के पूर्व ही अपनी सहमति दे दी। सरदार पटेल की स्वीकृति के बाद पण्डित नेहरू इस प्रस्ताव को रद्द भी नहीं कर सकते थे। इस तरह हैदराबाद की समस्या उपयुक्त पात्र के हाथ पहुँच गई।

यह सर्वविदित तथ्य है कि इसके बाद पं. नेहरू ने अनेक बार सरदार पटेल को, जो बड़े साहस और कालोचित नीति के साथ 'पुलिस-एक्शन' के द्वारा हैदराबाद की इस समस्या को हमेशा के लिये खत्म कर देना चाहते थे, पथभ्रष्ट करने का प्रयत्न किया। परन्तु डॉक्टर मुकर्जी तथा अपने अधिकांश सहयोगी मंत्रियों

की शुभकामनाओं और जनता द्वारा पुलिस कार्यवाही की प्रबल माँग से बल पाकर सरदार पटेल हिम्मत के साथ अपनी योजना, जिसका सुखद परिणाम सर्वविदित है, कार्यान्वित कर सके। पूरा देश बड़े आभार के साथ सरदार पटेल को हैदराबाद की समस्या को सुलझाने में उनकी राजनीतिक-विद्वता और यथार्थवादिता के कारण हृदय से याद करता है, परन्तु यह बहुत कम लोग जानते हैं कि इस जटिल समस्या को पं. नेहरू के हाथों से निकालकर सरदार पटेल के हाथों में सौंपने में डॉक्टर मुकर्जी का बहुत बड़ा हाथ था।

परन्तु जिस समस्या ने डॉक्टर मुकर्जी को कांग्रेस की नीतियों के विधाता नेहरू के प्रत्यक्ष विरोध में खड़ा कर दिया, वह थी भारत की पाकिस्तान के प्रति नीति। विशेष रूप में वे पूर्वी बंगाल में रहने वाले हिन्दू अल्पसंख्यकों के बारे में पाकिस्तान द्वारा अपनाई गई नीति के सम्बन्ध में नेहरू सरकार के रवैये से दु:खी थे। अपने जन्म से ही पाकिस्तान भारत के प्रति शत्रुता का जो सुनियोजित कार्य कर रहा था, उसके बावजूद भी हमारी सरकार द्वारा उसके प्रति अनावश्यक प्रतिपूर्ण रवैया डॉक्टर मुकर्जी को कभी नहीं जँचा। पंजाब, सिन्ध, बिलोचिस्तान और पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त के लाखों हिन्दुओं के प्रति भारत सरकार की उदासीनता उन्हें अपराध-सी लग रही थी। वे भली-भाँति समझते थे कि इन अभागे लोगों को अपनी जननी-जन्मभूमि मानते हैं और उसकी स्वतन्त्रता के लिये कड़े-से-कड़ा दु:ख झेलते रहे हैं।

पाकिस्तान द्वारा कश्मीर पर खुला आक्रमण करने पर भी उसे आक्रान्ता कहने से घबराना और गाँधी जी के अनशन के दबाव में आकर उसे 55 करोड़ रुपये दे देना डॉक्टर मुकर्जी की दृष्टि में भारत सरकार की, जिसके वे स्वयं भी सदस्य थे, नामर्दी और कायरता को ही दर्शाते थे। उन्होंने हृदय से महसूस किया कि इस रवैये से पाकिस्तान को और बल मिलेगा। वे जानते थे कि किस तरह मुस्लिम लीगी नेताओं ने कांग्रेसी नेताओं को डरा-धमकाकर पाकिस्तान की माँग मनवाई थी। उन्होंने अब यह महसूस किया कि पाकिस्तान के प्रति दुर्बल नीति अपनाने से उसके नेताओं को भारत के प्रति उसी प्रकार की डराने-धमकाने की नीति चलाने और पाकिस्तान में रह गए हिन्दुओं का समूल नाश करने की शह मिलेगी। चाहे मंत्रिमंडल के अन्दर से उनके विरोध तथा चेतावनी पर उस समय कोई ध्यान नहीं दिया गया, तथापि उन्हें इस बात से सन्तोष हुआ कि पाकिस्तान के प्रति सरकार के इस 'घुटना-टेक' रवैये के विरुद्ध सरकार के अन्दर तथा बाहर जनमत बराबर तैयार होने लगा है कि इस नीति के कर्णधार गाँधीजी व पं. नेहरू, दोनों जनता से अलग-थलग हो रहे हैं। इस कारण उन्हें आशा हो रही थी कि पाकिस्तान तथा इसकी सृष्टिजन्य समस्याओं के प्रति भारत सरकार की नीतियों में अवश्य परिवर्तन

आएगा। इस विचार से ही वे अब तक मंत्रिमंडल में टिके रहना, राष्ट्रहित के लिये आवश्यक समझ रहे थे।

किन्तु 30 जनवरी, 1948 को महात्मा गाँधी की हत्या ने पूरी स्थिति ही पलट दी। इस घटना से लाभ उठाते हुए कांग्रेस के अन्दर व बाहर पं. नेहरू तथा उनके वामपक्षी समर्थकों को पाकिस्तान के प्रति कड़ी नीति के पक्ष वाले लोगों की आलोचना करने का खूब अवसर मिला। महात्मा गाँधी, जिनका प्रभाव तथा लोकप्रियता तब तक बहुत कम हो चुकी थी, इस प्रकार की हत्या के कारण अपने बड़े-से-बड़े आलोचक की दृष्टि में भी एकदम शहीद बन गए। इससे वे ही देशवासियों के हृदय में पुन: प्रतिष्ठित नहीं हुए अपितु उनकी छाया में चलने वालों को भी नया जीवन मिल गया। परिणामत: स्थिति ही बदल गई। गाँधी जी के राजनीतिक उत्तराधिकारी के रूप में नेहरूजी का सम्मान बढ़ा और उधर यथार्थवादी तथा व्यावहारिक नेता सरदार पटेल एवं डॉक्टर मुकर्जी मंत्रिमंडल के अन्दर और बाहर साथी-हीन हो गए।

इसके पश्चात् कुछ महीनों तक एक प्रतिशोध की भावना के साथ मुसलमानों तथा पाकिस्तान को खुश रखने की नीति ही अपनाई गई। पाकिस्तान की पैनी दृष्टि भारत की बदलती हुई स्थितियों का खासा अध्ययन कर रही थी। उसने कश्मीर तथा अपने अन्दर बसने वाले हिन्दुओं पर आक्रमण कर इस परिवर्तन से लाभ उठाने की सोची। इस समय तक पश्चिमी पाकिस्तान ने सभी अप्रिय लोगों को निकाल बाहर किया था, किन्तु पूर्वी पाकिस्तान में एक करोड़ तीस लाख हिन्दू अभी भी रह रहे थे। विभाजन के समय पूर्वी बंगाल में इनकी जनसंख्या तीस प्रतिशत से ऊपर थी और ये यहाँ शैक्षिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक जीवन के प्राण-स्वरूप थे। उनकी राजनीतिक चेतना समस्त बंगाल में सबसे बढ़कर थी और उन्होंने देश में राष्ट्रीय आन्दोलन शुरू होने से लेकर देश की स्वाधीनता के लिए बड़े-से-बड़ा बलिदान किया था। वे पूर्वी बंगाल के कोई अस्सी प्रतिशत राष्ट्रीय धन के स्वामी थे। वहाँ के प्रत्येक शहर की अचल सम्पत्ति के अधिकांश पर हिन्दुओं का ही स्वामित्व था और कहीं-कहीं तो पिचासी प्रतिशत मकानादि हिन्दुओं के ही थे। पूर्वी बंगाल के 1290 हाईस्कूलों में से 95 प्रतिशत स्कूलों तथा 47 कॉलेजों के संचालन एवं व्यय का दायित्व हिन्दुओं पर ही था। विश्वविद्यालय से लेकर हाईस्कूल के 90 प्रतिशत अध्यापक हिन्दू समाज के ही थे। पूर्वी बंगाल में संस्कृत के पठन-पाठन के कई केन्द्र खुले हुए थे। यही नहीं, अपितु भारतीय इतिहास तथा संस्कृति-सम्बन्धी अनुसन्धान करने के लिये ढाका, कोमिल्ला, सिलहट तथा राजशाही में कुछ अनुसन्धान-शालाएँ भी थीं। इस 130 लाख की आबादी में बहुत-से लोग प्रगतिशील मध्यवित्त के थे; जिनका लोहार, बढ़ई तथा इसी तरह के

हस्त-शिल्प व्यवसायों पर प्राय: एकाधिपत्य था।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, कांग्रेसी नेताओं को मातृघात के आत्मनाशी पथ से हटाने में असफल होकर डॉक्टर मुकर्जी ने देश के अधिक-से-अधिक भाग को बचाने में ही अपनी शक्ति केन्द्रित कर दी थी। उन्होंने यह अनुभव किया कि अगर बंगाल के हिन्दू-बहुल भाग को बचाने के लिये आवाज न उठाई गई तो कांग्रेस पूरे-का-पूरा बंगाल और सम्भवत: असम भी पाकिस्तान को दे डालेगी। इससे पूर्वी बंगाल के हिन्दुओं का उद्विग होना स्वाभाविक ही था। उन्हें डॉक्टर मुकर्जी ने सरदार पटेल और महात्मा गाँधी आदि कांग्रेसी नेताओं की ओर से पूरा आश्वासन दिया था कि स्वतन्त्र भारत उनके हितों का ध्यान रखेगा।

मंत्रिमंडल से त्यागपत्र देने के बाद संसद में 19 अप्रैल, 1950 को दिए गए डॉक्टर मुकर्जी के वक्तव्य से पूर्वी बंगाल के हिन्दुओं की स्थिति तथा उनके प्रति उनके दृष्टिकोण पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। उन्होंने कहा था, 'जब भारत का बँटवारा अपरिहार्य हो गया तो मैंने बंग-विभाजन के पक्ष में जनमत बनाने में बहुत ज़ोर लगाया था, क्योंकि मुझे भय था कि अगर ऐसा न हुआ तो पूरा बंगाल और सम्भवत: असम भी पाकिस्तान को दे दिया जायेगा। उस समय इस बात से बिल्कुल अनभिज्ञ होते हुए कि मैं प्रथम केन्द्रीय मंत्रिमंडल में सम्मिलित होऊँगा, दूसरों के साथ मैंने भी पूर्वी बंगाल के हिन्दुओं को यह कहकर बहुत आश्वासन दिया था कि अगर वे भावी पाकिस्तानी सरकार के हाथों यातना का शिकार बने, अगर उन्हें नागरिकता के प्राथमिक अधिकारों से वंचित रखा गया, अगर उनके जीवन और सम्पत्ति को खतरा हो तथा मर्यादा पर आँच पहुँचे, तो स्वतंत्र भारत की सरकार तथा भारतीय जनता उनके न्यायोचित हितों की रक्षा के लिये कटिबद्ध रहेगी।'

जब पाकिस्तानी सरकार ने पूर्वी बंगाल के हिन्दुओं को, जिनकी रक्षा और संरक्षण का दायित्व वह विभाजन के शर्तों के अनुसार, अपने ऊपर ले चुकी थी, अपनी राक्षसी पंजों में दबोचना शुरू किया, तब डॉक्टर मुकर्जी ने पं. नेहरू और उनके सहयोगियों को उनके वचनों का स्मरण दिलाकर उन निर्दोष हिन्दुओं के लिए कुछ करने का अनुरोध किया। परिणामस्वरूप अप्रैल, 1948 में कलकत्ते में प्रथम भारत-पाक समझौते पर हस्ताक्षर हुए जो मुख्यत: पूर्वी तथा पश्चिमी बंगाल के अल्प-संख्यकों की समस्या से ही सम्बद्ध था। वह इसके पश्चात् अप्रैल, 1950 में होने वाले नेहरू-लियाकत समझौते के अनुरूप ही था। इस समझौते का कोई प्रभावकारी परिणाम न हुआ। भारत ने तो शर्तों का पालन किया, किन्तु पूर्वी बंगाल से हिन्दुओं का अविराम आगमन निर्बाध बना ही रहा। यह केवल एकपक्षीय यातायात था और यही पाकिस्तान चाहता था। दोनों पक्षों के उच्च अधिकारियों की

अनेक कान्फ्रेंस हुईं और दोनों सरकारों के बीच पर्याप्त पत्र-व्यवहार भी चला, किन्तु इसके वास्तविक परिणामों को देखा जाए तो पाकिस्तान का रुख अपरिवर्तित ही रहा।

अप्रैल समझौते के बावजूद शोचनीय अवस्था में पूर्वी बंगाल से हिन्दुओं के निरन्तर आगमन से देश में एक बार फिर तहलका-सा मच गया। डॉक्टर मुकर्जी ने पुनः ठोस कार्रवाई करने पर जोर दिया, किन्तु नेहरू सरकार ने बहुत होशियारी दिखाई तो दिसम्बर, 1948 में दिल्ली में दूसरे भारत-पाक समझौते पर हस्ताक्षर कर दिए। इसमें दोनों राज्यों के अल्प-संख्यक हिन्दू-मुसलमानों को लेकर पुराने मन्तव्यों की ही पुनरावृत्ति की गई थी।

पाकिस्तान इस समझौते को मानने के लिए तिलमात्र भी उत्सुक नहीं था। पूर्वी बंगाल के हिन्दुओं की दु:खगाथा बढ़ती गई। 1949 में पूर्वी बंगाल में हिन्दुओं की दशा और शोचनीय हो गई तथा वे अधिक संख्या में भारत आने लगे। इस प्रकार इन दो समझौतों के बावजूद पाकिस्तान बनने के कुल दो वर्षों में ही पूर्वी बंगाल के प्राय: बीस लाख हिन्दुओं को विवश होकर अपना चूल्हा-चक्की और घर-घाट छोड़ना पड़ा। पंजाब और सिन्ध के लाखों हिन्दू, जो अपने घर-बार से जबरन निकाल बाहर किये गये थे, इनके अतिरिक्त थे।

सबसे भयावह स्थिति 1950 के आरम्भ में उत्पन्न हुई जब प्रान्त-भर में हिन्दुओं का योजनानुसार कत्ले-आम शुरू हुआ। सरकारी आँकड़ों के अनुसार पचास सहस्र से भी अधिक हिन्दुओं की नृशंस हत्या की गई, सहस्रों हिन्दू-देवियों की लज्जा नष्ट की गई और उनके साथ जघन्य अमानुषिक कृत्य किए गए। सामाजिक चेतना-सम्पन्न सभी हिन्दुओं को पूर्वी बंगाल से खदेड़ना शुरू कर दिया गया। यह सब कार्यवाई सीधे पाक सरकार की छत्रछाया में उसकी शह के अनुसार ही हुई।

पूर्वी बंगाल के निष्कासित लोगों के द्वारा जैसे-जैसे इन पाशविक कृत्यों की खबर लगती गई। वैसे-वैसे देश दहलता गया। इससे कई सत्ताधीशों के हृदय भी काँप उठे। उन्हें पाकिस्तान के साथ कागजी समझौतों की निरर्थकता प्रत्यक्ष होने लगी। अब सब ओर से इस समस्या को अविलम्ब सुलझाने की तथा पूर्वी बंगाल से हिन्दुओं को निकाल बाहर करने के पाकिस्तानी षड्यन्त्र को रोकने के लिये दृढ़ और सशक्त कदम उठाने की माँग उठने लगी। यह प्रकट था कि समस्या साम्प्रदायिक नहीं अपितु राजनीतिक है, प्रान्तीय नहीं अपितु राष्ट्रीय है। परन्तु एक सज्जन, जिन पर इस भयानक बवण्डर का तिलमात्र भी असर न हुआ, वे थे पं. नेहरू। अपने आकाशीय आदर्शवाद की आड़ में अपनी जन्मजात कमज़ोरी को छिपाकर तथा जनसभाओं में आकर्षक मुद्राओं द्वारा वशीकरण के तान्त्रिक पंडित

नेहरू वीरोचित तथा द्रुत कदम उठाने में असमर्थ थे। पूर्वी बंगाल में जब शोले दहक रहे थे तब ये अपनी ही उधेड़-बुन में उलझे वृथा समय गँवा रहे थे।

केन्द्रीय मंत्रिमंडल के कुछ मंत्रियों सहित सभी संवेदनशील व्यक्ति सरकार की इस कदर्यता पर लज्जित हो रहे थे।

डॉक्टर मुकर्जी को इससे भीषण आघात पहुँचा। यह स्वाभाविक भी था। उन्होंने पहले अन्दर से नेहरू जी की दीर्घसूत्री चालों का भरसक विरोध किया। स्थिति पर वार्तालाप करने के लिये की गई मंत्रिमंडल की अनेक बैठकों में उनकी पं. नेहरू के साथ झड़पें भी हुईं, किन्तु जब उन्हें पता लगा कि मि. लियाकत अली खाँ को, जिनके हाथ असंख्य हिन्दुओं के निर्दोष खून में रँगे हुए थे, अल्पसंख्यक लोगों के बचाव के प्रयोजनार्थ एक और समझौता करने के लिये निमन्त्रण दिया गया है, तब उनकी सभी आशाओं पर एकाएक तुषारापात हो गया। उन्होंने इस कार्यधारा का कड़ा विरोध किया। उन्होंने चेतावनी दी कि वे लियाकत के फन्दे में, जो पाकिस्तान में अपनी बर्बर नीतियों के कारण भारत में धधकने वाली प्रतिशोध की ज्वाला से बचना चाहता था, पड़ने से बचें।

किन्तु श्यामाप्रसाद के तर्कों से निरुत्तर प्रधानमंत्री ने संतुलन खोकर उनके विरोध को ठुकरा दिया। वस्तुस्थिति यहाँ तक पहुँची कि डॉक्टर साहब ने पंडितजी को झिड़ककर उनके मुँह पर ही कहा कि वे पूर्वी बंगाल जैसे राष्ट्र की गुरुतर समस्याओं के प्रति मनमानी नीति अपनाकर मंत्रिमंडल के संयुक्त उत्तरदायित्व एवं संयुक्त विचारणा की परिपाटी तथा विधियों का उपहास कर रहे हैं।

उस समय से डॉक्टर मुकर्जी को यह विश्वास हो गया कि मंत्रिमंडल में रहते हुए वे न तो देश का कुछ भला कर सकते हैं और न ही पूर्वी बंगाल के लोगों के प्रति किये गये वचन ही निभा सकते हैं। ढाई वर्ष पहले मातृभूमि की जिस सेवा-भावना के वशीभूत होकर वे सरकार में सम्मिलित हुए थे, अब उसी भावना और कर्त्तव्य की पुकार से प्रेरित हो उसका सहर्ष परित्याग भी कर दिया। उन्होंने प्रथम अप्रैल को अपना त्यागपत्र प्रस्तुत किया जिसे पं. नेहरू ने तुरन्त स्वीकार कर उन्हें मंत्रिपद के दायित्व से मुक्त करना मान लिया, किन्तु दूसरे मंत्रियों, विशेषकर सरदार पटेल को, उनका इस नाजुक संकटपूर्ण समय में जाना बहुत अखर रहा था। उन्होंने उन्हें त्यागपत्र वापस लेने के लिये बहुत विवश किया। स्वयं पं. नेहरू ने भी बाद में उनसे अपने निर्णय पर पुनर्विचार कर त्यागपत्र वापस लेने का अनुरोध किया। एक साधारण व्यक्ति इस दबाव के सम्मुख झुक सकता था, किन्तु डॉक्टर साहब जिस मिट्टी के बने थे, वह कुछ और ही थी। यशोगान और पद की तड़क-भड़क उनके सामने निर्मूल्य थी। सच्चे संन्यासी की भाँति उन्होंने व्यक्तिगत सुख-सुविधा और पद-मर्यादा की अपेक्षा जनता के प्रति अपने कर्त्तव्य तथा हृदय

की पुनीत प्रेरणा को सदैव अधिक महत्त्व देकर यह प्रमाणित कर दिया कि वे भगवान् कृष्ण की गीता के तत्त्वों से अनुप्राणित एक सच्चे कर्मयोगी थे।

19 अप्रैल, 1950 को संसद में मंत्रिमंडल से त्यागपत्र देने के विषय में अपने वक्तव्य में उन्होंने भारत-पाक सम्बन्ध की समस्या पर बड़े सुन्दर ढंग से संक्षेप में अपने विचार रखते हुए यह स्पष्ट बताया कि किन कारणों से वे नेहरू-लियाकत समझौते का समर्थन करने में असमर्थ हैं। यह पूरा वक्तव्य बार-बार पढ़ने के योग्य है, क्योंकि इसमें पाकिस्तान के शासकों की चालक-शक्तियों के प्रति उनकी विशद् ग्राहकता का, जिसके आधार पर उन्होंने भारत-पाक समस्याओं पर बिल्कुल स्वच्छ, यथार्थ और व्यावहारिक दृष्टि से मनन किया था, का अद्भुत निदर्शन मिलता है। इसके बाद होने वाली घटनाओं और कार्यचक्र से उनकी बड़ी-से-बड़ी आशंका भी सत्य सिद्ध हो रही है। आज भी पाकिस्तानी हिन्दुओं के सामने दो ही मार्ग हैं, या तो वे इस्लाम कबूल कर लें अथवा शरणार्थी के रूप में भारत आ जाएँ। यह प्राय: निश्चित ही है कि जब तक भारत के लोग और सरकार उनकी रक्षा के लिये सतर्कतापूर्वक पूरा जोर नहीं लगाते, तब तक वे पाकिस्तान में हिन्दू बनकर सुरक्षा और प्रतिष्ठापूर्वक नहीं रह सकते।

ऐसा करके भारत-पाकिस्तान में रह गये अपने उन देशभक्त पुत्रों के प्रति कर्त्तव्यपालन ही करेगा जिनकी विपत्तिग्रस्त दशा का आह्वान सुनकर डॉक्टर मुकर्जी ने उनके साथ न्यायोचित व्यवहार की माँग के लिये जनमत संग्रह करने के हेतु मंत्रिमंडल से त्यागपत्र देकर देश को मार्ग दिखाया था।

उन्होंने कहा था, 'हम न भूलें कि पूर्वी बंगाल के हिन्दू केवल मानवीयत के नाते ही भारतीय संरक्षण के अधिकारी नहीं हैं अपितु सहर्ष स्वीकार की हुइ उन यातनाओं और त्याग के कारण भी हैं जिनको उन्होंने अपने क्षुद्र संकीर्ण स्वार्थ के लिये नहीं सहा था। यह उन शहीद नेताओं और युवकों की सम्मिलित आवाज है जो भारत के नाम पर हँसते-हँसते सूली पर चढ़ गये। यह आवाज आज स्वाधीन भारत से न्याय की आशा रखती है।'

12. नए राजनीतिक मंच की तलाश

केन्द्रीय मंत्रिमंडल से परित्याग के बाद डॉ. मुकर्जी के व्यस्त जीवन का सर्वाधिक गौरवपूर्ण अध्याय शुरू होता है। पीछे होने वाली घटनाएँ इसकी साक्षी हैं। वे मंत्रिमंडल में बंगाल के प्रान्तीय नेता के रूप में प्रविष्ट हुए थे, किन्तु बाहर एक राष्ट्रीय नेता बनकर निकले। सभी गैरकांग्रेसी राष्ट्रवादियों ने उन्हें एक स्वर से अपना प्रतिनिधि तथा अपनी भावनाओं का गायक मानकर सम्मानित किया। कांग्रेसी विधान सभाइयों तथा नेताओं के हृदय में भी, जिन्हें डॉक्टर साहब के जीवन और कार्यकलाप का निकटता से अध्ययन करने का अवसर मिला, उनके प्रति विशेष आदरभाव उत्पन्न हो गया था। वे समझने लगे थे कि उनकी नीतियों का, विशेषकर जो पाकिस्तान से सम्बन्ध रखती हैं, डॉ. मुकर्जी से बढ़कर कोई सशक्त विरोधी समीक्षक नहीं है।

उनके त्यागपत्र से समस्त देश आन्दोलित हो उठा। कांग्रेसी क्षेत्रों में भी हलचल मच गई। कांग्रेस द्वारा नियंत्रित समाचारपत्रों ने इस महती घटना की गुरुता को कम-से-कम जतलाने का भरसक प्रयत्न किया, फिर भी सर्वसाधारण लोगों ने इसे एक साहस तथा नैतिकतापूर्ण कार्य मानकर इसका अभिनन्दन किया। राजधानी में जीवन के सभी क्षेत्रों के सहस्राधिक प्रतिनिधि नागरिकों ने उनके स्वागत का आयोजन कर उनके साहसपूर्ण कार्य के प्रति बधाई देते हुए उनके प्रति अपनी श्रद्धा अर्पित की। संसद सदस्य श्री एच.वी. कामथ जैसे स्वाधीनचेता कांग्रेसी महानुभावों ने भी, जो एकदलीय संसद में प्रजातन्त्र की निष्ठुर हत्या को उत्पीड़न नयनों से देख रहे थे, उनके इस कार्य को संसद के अन्दर स्वस्थ विरोधी चेतना का उन्मेषक बताया। यह सर्वमान्य था कि वे संसद में विरोधी दल का नेतृत्व करेंगे।

किन्तु दुर्भाग्यवश परिस्थिति ऐसी थी कि संसद के अन्दर तथा बाहर कोई भी संगठित विरोधी दल मौजूद नहीं था। संसद का, जो संविधान सभा भी थी, चुनाव अप्रत्यक्ष रूप से सन् 1946 में प्रान्तीय सभाओं के द्वारा उस समय किया गया था जबकि विभाजन की माँग देश की प्रमुखतम समस्या था। कांग्रेस ने तब अखण्ड हिन्दुस्तान का राग अलापा और परिणामस्वरूप सभी हिन्दू सीटें ले लीं। मुसलमानों ने मुस्लिम लीग द्वारा निर्धारित प्रत्याशियों को चुना, जिन्होंने कुछ अरसे तक प्रमुख विरोधी दल के रूप में काम किया जो विभाजन के फलस्वरूप पाकिस्तान की सर्वसत्ताधारी राष्ट्र-संसद के रूप में परिणत हो गया। कुछ मुस्लिम सदस्य, जो भारतीय संविधान सभा में रह गए, उन्होंने अपने कलुषित इतिहास पर

पर्दा डालने के लिये कांग्रेस में सम्मिलित होना श्रेयस्कर समझा। अत: वाद-विवाद में विरोधी पक्ष का काम इने-गिने स्पष्टवादी कांग्रेसियों और पं. हृदयनाथ कुंजरू जैसे उदारदलीय लोगों ने करना शुरू किया, किन्तु मतदान के समय ये सब कांग्रेस के साथ ही रहते थे। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि संसद के वाद-विवाद तथा विचार-विमर्श बहुत कृत्रिम और अवास्तविक होते गए। इस कारण त्यागपत्र देने के बाद मंत्रिमंडल में उनके पूर्व सहयोगी श्री के.सी. नियोगी तथा श्री जॉन मथाई भी विरोधी-पक्ष में सम्मिलित हो गए, किन्तु वे अधिक देर तक सक्रिय रूप से संसदीय क्षेत्र में टिके नहीं। अत: डॉ. मुकर्जी को विरोधी-दल के रूप में अकेले ही कांग्रेस के अत्यधिक बहुमत का सामना करना पड़ा।

संसद के अन्दर किसी संगठित विरोधी मोर्चे के अभाव से भी बढ़कर अभाव संसद के बाहर किसी ऐसे संगठित विरोधी दल का न होना था जो देश में राष्ट्रीय विचारधारा का सुनियोजित विकास तथा गठन करता। साम्यवादी दल अवश्य विद्यमान था, किन्तु यह अन्य स्थानों के सदृश यहाँ भी साम्यवादी रूस के एजेण्ट के रूप में ही कार्यशील होने के कारण देश की राष्ट्रवादी विचारधारा से सामंजस्य स्थापित न कर सका था। अपने अस्त्र-शस्त्र प्रेम के कारण, जिसका भीषण परिचय उन्होंने तेलंगाना में दिया था, कम-से-कम उस समय तो यह भारतीय जनता की आँखों से दूर हो गया था।

श्री जयप्रकाश नारायण तथा आचार्य नरेन्द्रदेव के नेतृत्व में समाजवादी दल अवश्य कुछ सिर उठा रहा था, किन्तु देश की राजनीतिक, आर्थिक व सामाजिक सभी समस्याओं के प्रति इसके विचार पं. नेहरू की कांग्रेस से ही अधिकांशत: मिलते-जुलते थे और इस तरह यह एक प्रकार से कांग्रेस की ही एक शाखा-सी थी।

रामराज्य परिषद् एक दूसरी संगठित संस्था थी जो राजस्थान तथा मध्य भारत की भूतपूर्व देशी रियासतों में अपना सिक्का जमा रही थी। उसे सामन्ती तत्त्वों का पोषण था। इसकी सामाजिक या आर्थिक नीतियाँ भी न केवल अनुदार अपितु इतनी असामयिक थीं कि उनसे सर्वसाधारण का सहमत होना कठिन था। डॉ. मुकर्जी की गतिशील चेतना राष्ट्रीय समस्याओं के प्रति इस दल के दृष्टिकोण से मेल न खा सकती थीं।

हाँ, हिन्दू महासभा, जिसके अध्यक्ष के नाते उन्होंने वर्षों पथ-प्रदर्शन किया था, इस समय भी क्षेत्र में थी और अपनी उन्हीं नीतियों पर चली आ रही थी जो स्वतन्त्रता तथा विभाजन के पूर्व थीं, किन्तु डॉ. मुकर्जी स्वतन्त्रता के बाद के इन तीन वर्षों में उसका अतिक्रम कर चुके थे।

स्वातंत्र्य-प्रभात के आगमन के तत्काल बाद ही उन्होंने यह महसूस किया

कि अगर हिन्दू महासभा को कांग्रेस के मुकाबले में एक राष्ट्रीय विरोधी दल के रूप में यथोचित गतिशील रहना है तो उसे अपनी नीतियों तथा दृष्टिकोण को बदलना होगा। उनका विचार था कि पृथक् मतदान-प्रणाली के समाप्त होने के पश्चातज् हिन्दू महासभा को अपना आधार-क्षेत्र बढ़ाना होगा, सभी सम्प्रदायों के सदस्यों को अपने में सम्मिलित करना होगा और सभी हिन्दुओं के राष्ट्रीय संगठन के रूप में अपना कार्यभार उठाना होगा और सभी हिन्दुओं के राष्ट्रीय संगठन के रूप में अपना कार्यभार उठाना होगा, भाषा-शास्त्र के अनुसार हिन्दु शब्द को हिन्दुस्तानी अथवा इण्डियन का समानार्थक मानना श्रेष्ठ है। यह 'सिन्धु' से निकला है, यूनानी लोगों ने इसका उच्चारण 'इंडस' किया और इससे इंडियन तथा इंडिया शब्द निकले। वे चाहते थे कि हिन्दू महासभा संसार को यह मान्य करवाए कि हिन्दू शब्द का मूल क्या है और राजनीतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से उन लोगों का हिन्दूकरण करे जो ब्रिटिश प्रापेगेण्डा (प्रचार) व कांग्रेस की बुद्धिहीनता से परिचालित हो अपने राष्ट्रीय नाम, हिन्दू एवं आदर्शों से घृणा करके विघटन-कार्य में व्यस्त हो चुके हैं। उनका विश्वास था कि स्वतंत्र भारत में सदा के लिये मुसलमानों की समस्या हल हो सकती है अगर देश की सांस्कृतिक, सामाजिक तथा राजनीतिक समस्याओं पर उनके विचारों का हिन्दूकरण अथवा राष्ट्रीयकरण किया जाए और हिन्दू परम्परागत निर्बाध सहिष्णुता के अनुसार उन्हें अपने धर्म तथा इसके विधि-विधानों के पालन में सर्वथा स्वतन्त्र रखा जाए। उनकी राय में एकमात्र यही तरीका था जिससे द्विराष्ट्र सिद्धान्त के विष का नाश कर उस उपद्रव का भी शमन किया जा सकता था जो ब्रिटिश तथा मुस्लिम-लीग ने कांग्रेसी नेताओं को फाँस कर, उनकी सहमति से उपस्थित किया था। अगर हिन्दू महासभा ऐसा करने को तैयार न हो तो उनका सुझाव था कि इसको एक राजनीतिक संगठन की मर्यादा छोड़कर धार्मिक दृष्टि से हिन्दू-समाज के सामाजिक तथा सांस्कृतिक उत्थान पर एकाग्रचित होना चाहिए।

उस समय महासभा के नेता कांग्रेस द्वारा लोगों से विश्वासघात और पाकिस्तान से हिन्दुओं को निकाल बाहर करने के लिये चलने वाले भयानक हत्याकाण्ड के कारण क्षुब्ध थे। इस कारण समस्त देश की जनता में कांग्रेस और मुस्लिम-लीग के विरुद्ध जो भावनाएँ पनप रही थीं, महासभा को एक प्रभावकारी राजनीतिक शक्ति बनाने के लिये वे उससे लाभ उठाना चाहते थे। अतएव् उन्होंने डॉ. मुकर्जी की सम्मति के अनुसार महासभा की नीतियों व स्वरूप के पुनर्निर्माण अथवा परिवर्तन की बात उचित नहीं समझी।

किन्तु 30 जनवरी, 1948 को गाँधी जी की हत्या के बाद परिस्थिति उसके विपरीत हो गई। सत्तारूढ़ दल ने इस परिस्थिति से लाभ उठाकर अपने सभी

वास्तविक व काल्पनिक प्रतिद्वन्द्वियों को दबाने का निश्चय कर लिया।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ को, जो अनुशासन व संगठन की दृष्टि से देश में हिन्दुओं का सर्वोत्तम अराजनीतिक संगठन था, सबसे अधिक आघात सहने पड़े। उस पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया और उसके सहस्त्रों ख्यात नेता तथा कार्यकर्ता गिरफ्तार कर बिना मुकदमा चलाये बन्दी बना दिए गए। महासभा के कुछ नेता भी गिरफ्तार किए गए और राजनीतिक संगठन के रूप में महासभा का अस्तित्व भी खतरे में पड़ गया। इससे महासभा के नेता घबरा गए और जो नेता जेल के बाहर थे उन्होंने 15 फरवरी, 1948 को यह निश्चय किया कि वे महीनों पहले डॉ. मुकर्जी की दी सम्मति के अनुसार महासभा की नीतियों में परिवर्तन करेंगे। महासभा ने अपनी राजनीतिक गतिविधि छोड़कर केवल सामाजिक तथा सांस्कृतिक कार्य करने का निश्चय किया। इससे उसे सत्तारूढ़ दल का कोपभाजन बनने से कुछ बचाव मिला और उसका अस्तित्व बना रहा।

अपने अधिकारपूर्ण अस्तित्व के लिए राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ द्वारा किए गए सुनिश्चियत प्रयासों के कारण 1949 में स्थिति बदल गई। संघ के देश-व्यापी सत्याग्रह के आगे सरकार को झुकना पड़ा। इस स्थिति का लाभ उठाकर हिन्दू महासभा की कार्यकारिणी ने परिस्थितिवश किए गए अपने पूर्वनिश्चय को बदलकर राजनीति में पुनः लौटने का निश्चय किया और अगस्त, 1949 से अपनी राजनीतिक गतिविधि शुरू कर दी।

डॉ. श्यामाप्रसाद मुकर्जी महासभा की कार्यकारिणी के इस निश्चय से सहमत न हो सके। वे इस बात के विरुद्ध नहीं थे कि महासभा राजनीति में भाग ले वरन् उनका यह विचार था कि जात-पाँत का भेदभाव छोड़कर महासभा का द्वार भारत के उन नागरिकों के लिए खोल देना चाहिए जो इसकी नीतियों का समर्थन करने के इच्छुक हों। अतएव उन्होंने महासभा की नीति-निर्धारिणी से मुक्त होने का निश्चय कर इसकी कार्यकारिणी से त्याग-पत्र दे दिया, किन्तु हिन्दू होने के नाते वे महासभा के साधारण सदस्य बने रहे जिसका मूल हिन्दू समाज के सांस्कृतिक सामाजिक उत्थान एवं दृढ़ीकरण में था।

इस बीच डॉ. मुकर्जी का महासभा के प्रति जो रवैया रहा, उसकी कहीं-कहीं कड़ी आलोचना हुई। उन पर दुर्बलता और महासभा के प्रति विश्वासघात का दोष लगाया गया, किन्तु तथ्य इसके प्रतिकूल प्रमाण ही उपस्थित करते हैं। उनके समालोचक, 15 अगस्त, 1947 के बाद स्वाधीनता और विभाजन के कारण देश की राजनीति में जो परिवर्तन हुआ उसके महत्व पर दृष्टिपात नहीं कर रहे थे। परन्तु डॉ. मुकर्जी का सचेतन गतिशील मस्तिष्क इसकी उपेक्षा नहीं कर सकता था। वे चाहते थे कि हिन्दू महासभा समय के अनुसार चले। अन्त में जब उन्होंने देखा कि

वह अपने विकास की इच्छा और शक्ति ही खो चुकी है, तो उन्होंने उसे छोड़ दिया। वे उसका अतिक्रम कर गए।

कांग्रेस और इसके पिछलग्गुओं के दायरे से अलग राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ही ऐसा संगठन था जिसने अस्तित्व-रक्षा की इच्छा और अधिकार का सफल प्रदर्शन किया था और जिसके हाथों में सच्ची राष्ट्रीयता की वह मशाल थी जिसका मूल देश की प्राच्य संस्कृति में था और जो विपद्-बाधाओं के बावजूद भी जगमगा रही थीं। यह अपने ऊपर लगाये गये प्रतिबन्ध और उसे हटाने के लिए किए गए सत्याग्रह की अग्नि-परीक्षा में से अपनी मर्यादा और अनुशासन को स्थिर रखते हुए सफलता पा चुका था। अपनी सेवाओं की पिछली अनुतालिका और शक्ति-प्रदर्शन के कारण इसका भविष्य उज्ज्वल दिखने लगा। भारतीय जनता इसकी ओर आकर्षित होने लगी। इसके पास अच्छे कार्यकर्ता और देश-व्यापी संगठन था।

इस संगठन के संस्थापक और संचालक डॉ. केशव बलीराम हेडगेवार से डॉ. मुकर्जी का कलकत्ता में 1930 के लगभग सम्पर्क स्थापित हुआ था। उन्होंने भारत-विभाजन के पहले इस संगठन का कार्य देखा था। 1940 में लाहौर में इसके एक समारोह में भाषण देते हुए उन्होंने कहा था कि 'भारत के मेघाच्छन आकाश में यही एक रजतरेखा है।' इसके स्वयंसेवकों द्वारा पंजाब, कश्मीर, पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त और सिन्ध में 1947 में किया गया साहसपूर्ण कार्य, देश और देशवासियों के लिए उनका आत्मत्याग, बर्बर हत्यारे पाकिस्तानियों के विरुद्ध उनकी हिम्मत और शक्ति का प्रमाण आदि के कारण डॉ. मुकर्जी के हृदय में इस संगठन के प्रति अतुल प्रशंसा और आदर का भाव जाग चुका था। गाँधी जी की हत्या के बाद सत्तारूढ़ दल के सदस्यों द्वारा अपने नेताओं और कार्यकर्ताओं पर पुलिस और कानून के संरक्षकों के सहयोग से किए गए कायरतापूर्ण हमलों को जिस साहस से संघ ने सामना किया और 1948-49 के सत्याग्रह में अपनी जिस विपुल शक्ति का परिचय दिया इससे इसके विरोधी भी हृदय से इसका सम्मान करने लगे थे।

रा. स्वयंसेवक संघ प्रारम्भ से ही अराजनीतिक संगठन था और इसी रूप में रहना भी चाहता था। चरित्र-निर्माण, सांस्कृतिक उत्थान, सामाजिक एकता और सर्वसाधारण में सच्ची राष्ट्रीय चेतना का उदय, इसका चतुर्मुखी कार्यक्रम था और इसे विश्वास था कि यह लोगों में राष्ट्रीय आदर्शों और संस्कृति के प्रति प्रेम का जो अंकुर लगा रहा है, देश के राजनीतिक जीवन पर सहज ही उसका प्रत्याभास होगा। अतएव् स्वयं राजनीति में भाग न लेते हुए संघ ने अपने सदस्यों को पूरी छुट्टी दे रखी थी कि वे अपनी इच्छानुसार किसी भी राजनीतिक दल में शामिल हो सकते हैं।

विभाजन के बाद के वर्षों में देश में होने वाली घटनाओं ने संघ के नेताओं

और कार्यकर्ताओं को स्थिति पर गम्भीरतापूर्वक पुनर्विचार करने पर बाध्य किया। उन्होंने देखा कि स्वार्थान्ध सत्तारूढ़ दल को उस संगठन को प्राणान्तक आघात पहुँचाने में जरा भी संकोच नहीं है जिसने विभाजन के दिनों में सबसे बढ़कर काम किया था और जो देश में ऐक्य-स्थापन व चरित्र-निर्माण के महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहा था। वे यह भी महसूस कर रहे थे कि साधारण सदस्यों के लिए यह कोई आसान काम न था कि वे कांग्रेस के समान सुसंगठित दलों की नीतियों पर अन्दर से प्रभाव डालें क्योंकि जिनके हाथों में उनकी बागडोर थी वे अपने पद और प्रभाव की सुरक्षा के हेतु नये खून और नये विचारों को कभी सहन करेंगे, ऐसी अपेक्षा न थी।

अतएव संघ के लोग एक ऐसे राजनीतिक संगठन की आवश्यकता महसूस करने लगे थे जो राजनीति के क्षेत्र में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के विचारों और आदर्शों का प्रतिपादन करे और इस तरह संघ के कार्यकर्ताओं तथा अनुमोदकों का सहज समर्थन प्राप्त कर सके। वयस्क मताधिकार के लागू होने के बाद यह अनिवार्य प्रबलता होगी, ऐसी प्रतीत हो रहा था। प्रत्येक मतदाता वयस्क को राजनीति का इतना ज्ञान तो होना ही चाहिए कि वह अपने मत का उचित प्रयोग कर सके। राजनीति के विकासमान प्रभाव और बढ़ते हुए क्षेत्र के कारण वे उसे रा. स्वयंसेवक संघ के आदर्शों के अनुरूप ढालने की भी आवश्यकता महसूस कर रहे थे, क्योंकि लार्ड मॉर्ले के इस कथन—'जिस चीज का प्रभाव राजनीति कद पड़ता है उसका असर जीवन के अन्य पहलुओं पर भी पड़ता है', की सत्यता कटु यथार्थ के रूप में उनके सम्मुख आ रही थी।

डॉ. मुकर्जी रा. स्वयंसेवक संघ के क्षेत्रों में गतिमान इस विचार-लहरी से अनभिज्ञ न थे। वे जानते थे कि देश की सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओं के प्रति संघ का रवैया, जिसमें निम्न-मध्यवर्ग तथा श्रमिक श्रेणियों के लोग शामिल थे, कैसा भी हो, किन्तु प्रतिक्रियात्मक नहीं हो सकता। संस्कृति, राष्ट्रीयता और विभाजन के प्रति राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के दृष्टिकोण से वे पूर्णतया सहमत थे। इसलिए उन्होंने सहज ही महसूस किया कि कोई भी राजनीतिक संगठन, जिसे रा. स्वयंसेवक संघ का विश्वास प्राप्त हो, निश्चय ही देश के राजनीतिक जीवन में ऐसी शक्ति बन सकता है जिसे उनका पूरा समर्थन प्राप्त हो और जो गैर-कांग्रेसी तथा गैर-कम्युनिस्ट राष्ट्रवादी जनमत को एक प्रभावकारी विरोधी दल के रूप में एकत्र कर सके।

किन्तु यह राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के नेताओं पर निर्भर करता था कि वे ऐसे किसी संगठन की रचना में प्रवृत्त हों। यह प्रायः निश्चित ही था कि वे रा. स्वयंसेवक संघ को राजनीति के अखाड़े से दूर रखकर और राजनीतिक द्वेष व

प्रतिस्पर्धा से मुक्त रहकर राष्ट्र-निर्माण के कार्यों में ही अपनी शक्ति लगायेंगे। फिर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ उस समय (प्रतिबन्ध और सत्याग्रह के बाद) अपनी पुन:स्थापना और विस्तार में संलग्न था और इस हेतु रुचिकर भी न था कि उसके कार्यकर्ताओं का ध्यान अन्यत्र आकृष्ट हो।

तो भी इस दिशा में पग बढ़ा ही दिया गया। 16 जनवरी, 1951 को पंजाब और दिल्ली के प्राय: एक दर्जन संभ्रान्त नागरिक, जिनमें सर्वश्री लाला हंसराज गुप्ता, धर्मवीर, भाई महावीर, महाशय कृष्ण, लाला बलराज भल्ला और लेखक सम्मिलित थे—पंजाब, पेप्सू, हिमाचल प्रदेश और दिल्ली के लिए एक नई राजनीतिक पार्टी के लिये प्रयोगमूलक योजनाएँ तैयार करने के उद्देश्य से एकत्र हुए। उक्त प्रदेशों में इसकी अत्यन्त आवश्यकता भी थी, क्योंकि वहाँ की प्रमुख समस्याओं को हल करने और लोगों, विशेषकर पश्चिमी पाकिस्तान से आए शरणार्थियों की आवश्यकताओं को पूरा करने में सत्तारूढ़ दल, नितान्त असफल रहा था। वह लगातार अकालियों की, जिनके हाथ में सत्ता के भूखे कांग्रेसी विधान-सभाइयों के दो परस्पर विरोधी धड़ों के बीच का संतुलन था, पृथक्वादी माँगों के सामने झुक रहा था। डॉ. मुकर्जी के परामर्श और तत्त्वपूर्ण पथ प्रदर्शन से लाभान्वित होने के लिए उन्हें भी इस सभा में सम्मिलित होने का विशेष निमन्त्रण दिया गया था।

पंजाब, पेप्सू, हिमाचल प्रदेश और दिल्ली के लिए तत्काल ही कुछ करने की आवश्यकता को मान्यता देते हुए डॉ. मुकर्जी ने एक अखिल भारतीय दल के शीघ्र ही निर्माण की आवश्यकता पर विशेष बल दिया, क्योंकि इसके बिना प्रान्तीय दलों को न तो उचित मान्यता मिल सकी थी और न ही आवश्यक बल। अतएव डॉ. मुकर्जी के परामर्शानुसार एक अखिल भारतीय दल के निर्माण की तैयारी भी शुरू कर दी गई। इसके मूल सिद्धान्त और कार्यक्रम की तालिका साधारण रूप से उसी बैठक में निश्चित कर ली गई। इसका घोषणा-पत्र तथा संविधान बनाने के लिए एक उपसमिति भी बनाई गई। इसी बैठक में प्रस्तावित दल का नाम 'भारतीय जनसंघ' रखा गया।

उस दिन के वाद-विवाद में प्रस्तावित दल के हिन्दू-राष्ट्र शब्द और इस देश के राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अर्थों पर विशेष रूप से विचार किया गया।

उपस्थित व्यक्तियों में से कुछ का यह विचार था कि हिन्दू-राष्ट्र की कल्पना से सहमत होते हुए भी इसका किसी प्रस्तावित दल से संयोग अथवा उसका प्रमुख उद्देश्य होना भ्रामक हो सकता है। इस पर डॉ. मुकर्जी ने 'हिन्दू-राष्ट्र' का प्रभावकारी तात्त्विक विवेचन किया। उन्होंने समझाया कि अपने साम्राज्यवादी उद्देश्यों के निमित्त ब्रिटिश ने इस शब्द को एक संकुचित अर्थ दे दिया था और कांग्रेसी नेताओं ने हिन्दू शब्द से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु को साम्प्रदायिक कहकर

अपना उल्लू सीधा किया है। उन्होंने कहा कि नए संगठन का यह कर्त्तव्य होना चाहिए कि वह इन भ्रमों का निवारण कर संसार को हिन्दू शब्द का, जो भारतीय जनों का ऐतिहासिक तथा भौगोलिक नाम है, ठीक-ठीक अर्थ समझाए। उन्होंने कहा कि 'हिन्दू-राष्ट्र' श्रेष्ठ कल्पना है। इसने भारत के सभी मतों तथा विभिन्न सम्प्रदायों में मौलिक एकता तथा साँझी परमपराओं का अक्षुण्ण रखा है। यह किसी धर्म-विशेष का परिचायक नहीं अपितु देश के सभी धर्मों तथा मत-मतान्तरों का गणतन्त्र है, क्योंकि किसी भी व्यक्ति की व्यक्तिगत पूजा-पद्धति जो भी हो, उसे भारत का नागरिक रहना है तो वह भारत की सर्वमान्य सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक परम्पराओं से अलग नहीं रह सकता। इस तरह हिन्दू शब्द वस्तुत: साम्प्रदायिक तथा संकीर्णताबोधक नहीं हैं, और न कभी था ही। जिन्हें हिन्दू शब्द मात्र से भय है उनसे देश की सांस्कृतिक तथा भौगोलिक परम्परा और एकता की रक्षा करने की अपेक्षा रखना ही भूल है।

किन्तु साथ ही उनका यह विचार भी था जिन लोगों ने अभी इस शब्द को भली-भाँति समझा और माना नहीं है, उन पर यह न थोपा जाए। एतदर्थ उन्होंने परामर्श दिया कि भारतीय और इंडियन शब्दों को, जो हिन्दू के पर्याय होते हुए भी ऐसे लोगों को ग्राह्य होंगे जो पाश्चात्य प्रभाव से ग्रस्त हैं या जिनमें हिन्दू शब्द को यथावत् मान लेने का नैतिक साहस नहीं है, हिन्दू शब्द के साथ-ही-साथ तब तक प्रयुक्त किया जाए जब तक कि लोग अपनी हीनता-ग्रंथि को छोड़कर अपने नाम तथा परम्पराओं पर गर्वित होना नहीं सीखते।

उस बैठक में अखिल भारतीय संगठन का निर्माण होने तक पंजाब, पेप्सू, हिमाचल प्रदेश तथा दिल्ली के लिए जनसंघ का निर्माण कर डालने का निश्चय किया गया। यह निश्चय भी किया गया कि अन्य प्रान्तों में भी जनसंघ का यथासम्भव निर्माण किया जाए ताकि यह नया दल नीचे से ही विकसित हो सके।

इस निश्चयानुसार पंजाब, पेप्सू, हिमाचल प्रदेश तथा दिल्ली के प्राय: तीन सौ प्रतिनिधि नागरिकों को 21 मई, 1951 को जालन्धर में आमंत्रित किया गया। एक-दूसरे की सीमा को छूते हुए ये सभी प्रदेश व्यावहारिक दृष्टि से एक इकाई ही हैं। निमन्त्रण पर आशातीत सहयोग मिला और यह सम्मेलन बहुत उत्साहवर्द्धक रहा।

इस नए संगठन के रस्मी तौर पर प्रारम्भ होने के पहले ही इसके प्रति सत्तारूढ़ दल का रुख प्रकट हो गया। स्वागत-समिति ने जालन्धर की नगरपालिका की सीमा के अन्दर ही ऐंग्लो-संस्कृत हाईस्कूल में सम्मेलन की व्यवस्था की थी, किन्तु सम्मेलन शुरू होने के ठीक चौबीस घंटे पहले जिलाधीश ने शायद ऊपरी आदेशों के अनुसार नगरपालिका की सीमा के अन्दर सभाएँ आदि करने पर प्रतिबन्ध लगा दिया। सम्मेलन केवल आमंत्रित लोगों तक ही सीमित रखा गया

था, फिर भी इसे करने की अनुमति लेने के सभी प्रयत्न विफल हुए। निदान रातोंरात सम्मेलन का स्थान बदलकर नगरपालिका की सीमा के बाहर रखा गया।

सम्मेलन ने पंजाब, पेप्सू, हिमाचल प्रदेश और दिल्ली के लिए एक साँझा जनसंघ संगठन बनाने का निर्णय किया। इन्हीं दिनों डॉ. मुकर्जी ने कलकत्ता में बंगाली प्रतिनिधियों का एक ऐसा ही सम्मेलन किया जिसने पश्चिमी बंगाल के लिए जनसंघ बनाने का निश्चय किया। डॉ. मुकर्जी इसके प्रथम अध्यक्ष बने।

इसके पश्चात् अगले दो महीनों में उत्तरप्रदेश तथा मध्यभारत में जनसंघ के उद्देश्य से लखनऊ तथा इन्दौर में भी इसी तरह के सम्मेलन हुए।

9 सितम्बर, 1951 को पंजाब, पेप्सू, हिमाचल प्रदश, दिल्ली, बंगाल, उत्तर प्रदेश तथा मध्यभारत से प्रान्तीय जनसंघों के अध्यक्षों, मन्त्रियों तथा प्रमुख कार्यकर्ताओं की दिल्ली में एक बैठक हुई जिसमें यह विचार हुआ कि जनसंघ को अखिल भारतीय रूप देने का अवसर आ चुका है, अतः इसकी विधिवत् स्थापना होनी चाहिए और सभी प्रान्तीय जनसंघ इससे सम्बद्ध हो जाने चाहिए। उक्त उद्देश्य से 21 अक्टूबर, 1951 को दिल्ली में एक सम्मेलन बुलाने का दायित्व लेखक को सौंपा गया।

13. जनसंघ का निर्माण

अखिल भारतीय जनसंघ के औपचारिक निर्माण के पूर्व सबसे महत्वपूर्ण विचारणीय बात यह थी कि सम्मेलन में किसे इसका प्रथम अध्यक्ष निर्वाचित किया जाए। नए संगठन के कर्णधारों को यह निर्णय करते देर न लगी कि यह प्रतिष्ठा डॉ. श्यामाप्रसाद मुकर्जी को ही मिलनी चाहिए। इनके अतिरिक्त देश में कोई ऐसा व्यक्ति न था जो उस संगठन के दायित्व को सँभाल सकता, जो प्रारम्भ से ही अपनी भावी शक्ति का आभास दे रहा था।

11 अक्टूबर को कोई प्रातः 8 बजे लाला हंसराज गुप्त, प्रो. महावीर और लेखक 10 पूसा रोड, नई दिल्ली में जहाँ डॉ. मुकर्जी ठहरे हुए थे, उक्त विषय पर अपनी सहमति प्रदान करने का अनुरोध करने के लिये एकत्र हुए। डॉ. मुकर्जी ने बरामदे में खड़े होकर सहज मुस्कान के साथ सबका स्वागत किया और एक छोटे अध्ययन-कक्ष में ले गए जहाँ वे काम कर रहे थे। वे नियमानुसार प्रातः भ्रमण के पश्चात् साढ़े छह बजे से अपने कार्य में व्यस्त हो जाया करते थे। खादी की मोटी धोती, कुरता, साधारण रेशमी चादर और देशी जूते, यही उनकी वेशभूषा थी। कमरे में सबके लिए पर्याप्त कुर्सियाँ नहीं थीं, अतः डॉ. मुकर्जी अपने गृहपति की बैठक से कुर्सी लाने स्वयं दौड़े और हम सबसे बैठने के पश्चात् ही बैठे।

शिष्टाचार के बाद लाला हंसराज गुप्ता ने अपने कुछ गम्भीर, कुछ विनोदपूर्ण और घरेलू प्रसंगों से युक्त अनूठी शैली में अपना उद्देश्य डॉ. मुकर्जी के सम्मुख रखा। इनके चुप होते ही कमरे में स्तब्धता छा गई। डॉ. मुकर्जी यह सुनते ही कुछ गम्भीर हो गए। अपने भारी-भरकम शरीर को आरामकुर्सी का सहारा देकर वह कुछ क्षण तक गहरी चिन्तना में निमग्न हो गए। पश्चात् निम्नोक्त सन्तुलित शब्दों में उन्होंने नीरवता भंग की—

'आप लोग मेरे कन्धों पर बड़ी जिम्मेदारी डाल रहे हैं। मैं अपनी मातृभूमि के प्रति कर्त्तव्य-बुद्धि से ही उसका निर्वाह करूँगा। किन्तु इसे स्वीकार कर लेने के पहले मैं यह स्पष्ट कर लेना चाहूँगा कि आप मुझ पर जिस संगठन का भार डालना चाहते हैं उसका स्वरूप और भावी कार्यक्रम क्या है?'

कुछेक क्षण फिर स्तब्धता रही। फिर उन्होंने प्रश्नवाचक मुद्रा में जनसंघ के स्वरूप व भावी कार्यक्रम तथा विशेषकर देश की अन्य राष्ट्रवादी शक्तियों तथा संगठनों के साथ जनसंघ के सांस्कृतिक और सामाजिक सम्बन्ध के साथ-साथ राजनीतिक सम्बन्धों पर विचार में अपना दृष्टिकोण रखा।

उनकी मनोभावना थी कि जनसंघ देश की राष्ट्रवादी शक्तियों में सबसे

अग्रणी बने। अतएव वे इसे इतना उदार देखना चाहते थे कि यह उन सब शक्तियों में समन्वित कर एक प्रभावशाली राजनीतिक संगठन का रूप ले सके। इसके द्वार हिन्दुस्तान के उन सब लोगों के लिए खुले रहें तो अपने देश, उसकी संस्कृति और परम्पराओं के प्रति जो वस्तुत: हिन्दू परम्पराएँ हैं, अखण्ड आस्था रखते हैं।

उस दिन से डॉ. मुकर्जी इस नए संगठन के निर्माण में तन्मयता से जुट गए। कितने ही दिनों तक वे प्रो. महावीर तथा लेखक के साथ सम्मेलन में प्रस्तुत किए जाने वाले जनसंघ के घोषणापत्र की तैयारी में लगे रहे। इस नए दल के आर्थिक कार्यक्रम के निर्माण में उन्होंने भारत की आर्थिक समस्याओं और कठिनाइयों के सम्बन्ध में अपने गहन अध्ययन तथा यथार्थवादिता का उत्तम परिचय दिया। तब तक मेरी कुछ ऐसी धारणा थी कि डॉ. मुकर्जी का रुझान कुछ समाजवादी अर्थनीति के बजाय पूँजीवादी अर्थनीति की ओर अधिक है, किन्तु वाद-विवाद के बाद मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि मैं गलती पर था। आर्थिक समस्याओं के प्रति उनका दृष्टिकोण किन्हीं पाठ्य-पुस्तकों अथवा सिद्धान्तों पर आधारित नहीं था। वह वास्तव में भारतीय परिस्थितिजन्य व्यावहारिक दृष्टिकोण था। देश की विशाल जनसंख्या के कल्याण तथा देश के आर्थिक पुनरुत्थान की कामना से पल्लवित हुआ था। इसीलिए किन्हीं दिशाओं में उनका विचार साम्यवादी कहा जा सकता था और कुछ में पूँजीवादी। वस्तुत: वह इन दोनों में से एक भी होते हुए विशुद्ध भारतीय था।

एक रोचक घटना से यह बात भी स्पष्ट हो गई। हमने घोषणापत्र में औद्योगिक सम्बन्धों पर लिखते हुए मालिक और मजदूर में लाभ का बँटवारा करने का जो प्रस्ताव रखा था उसे पढ़कर एक प्रमुख अर्थशास्त्री तथा उद्योगपति को, जो आर्थिक कार्यक्रम बनाने में हमारी सहायता कर रहे थे, कुछ आघात-सा पहुँचा। इस ख्याल से कि मैंने घोषणापत्र में वह अंश डॉ. मुकर्जी को बिना बतलाए हुए लिखा था। वे मजाक में बोले, 'हमारे तरुण प्रोफेसर साम्यवादी जान पड़ते हैं।' किन्तु शीघ्र ही उनका भ्रम-निवारण हो गया। डॉक्टर मुकर्जी ने मालिक और मजदूर में लाभ के बँटवारे का पक्ष लेते हुए उनसे कहा, 'देश की आर्थिक समस्याओं को हल करने के लिए उत्पादन में वृद्धि की परम आवश्यकता है और मजदूर इसमें तभी पूरी रुचि ले सकते हैं जब उन्हें भी लाभांश दिया जाये। सम्भवत: इसीलिए कई पूँजीपति, जो प्रारम्भ में इस विचार से जनसंघ में सम्मिलित हुए थे कि वह चरम दक्षिणपन्थी दल है, यह अनुभव करने पर कि वह एक स्वतन्त्र राष्ट्रीय नीति का अनुसरण कर रहा है जो उनकी अपेक्षा से कहीं अधिक प्रगतिशील और चरम-पन्थी मालूम होता था, बाद में इसे छोड़ गए।

सम्मेलन से पूर्व घटी एक और घटना ने यह भी सिद्ध कर दिया कि अपने

उद्देश्य के लिये डॉक्टर मुकर्जी व्यक्तिगत यश का मोह छोड़ पूर्ण आत्मसमर्पण कर सकते थे। मध्यप्रदेश के कांग्रेसी मंत्रिमंडल के भूतपूर्व गृहमंत्री श्री द्वारिकाप्रसाद नेहरू की नीतियों के विरुद्ध, जिन्हें वे 'साम्प्रदायिक' तथा 'अराष्ट्रीय' मानते थे, आन्दोलन खड़ा कर दिया। इसके कुछ समय बाद ही उन्होंने उत्तर भारत का भ्रमण किया। भारतीय जनसंघ ने अपने मंच पर से दिल्ली में उनके बोलने की व्यवस्था की और कोई आधा लाख लोगों ने उनकी पुरानी संस्था और उनके कर्णधार के प्रति उनकी कुत्सापूर्ण वक्तृता सुनी। उत्तरप्रदेश जनसंघ ने भी शिष्टतावश, जहाँ-जहाँ वे गए वहाँ-वहाँ, उनके लिए सार्वजनिक सभाओं का आयोजन किया। फलस्वरूप उस समय यह चर्चा थी कि वे जनसंघ में शामिल हो जायेंगे।

किन्तु मध्यप्रदेश वापस लौटने पर उन्होंने 'लोक-कांग्रेस' के नाम से अपना एक अलग संगठन तैयार कर लिया। इससे जनसंघ सम्मेलन के संयोजकों को, जिन्होंने मिश्रजी को आमंत्रित किया था, बहुत आश्चर्य हुआ। वे आए और उनकी डॉ. मुकर्जी तथा कतिपय अन्य महानुभावों के साथ लम्बी वार्त्ता हुई, किन्तु वे जनसंघ में शामिल होने से हिचकिचाते रहे। किसी ने शंका प्रकट की कि वे सम्भवत: किसी के नीचे रहकर काम नहीं करना चाहते। यह सुनकर डॉ. मुकर्जी ने तत्काल ही कहा, 'उन्हें अध्यक्ष बन जाने दीजिए, मैं उनके नीचे कार्य करूँगा।' इस समय उनका मुख-मंडल किसी प्राकृतिक आभा से चमक रहा था। इससे उनकी स्वार्थहीनता तथा उद्देश्य और सिद्धान्तों के सम्मुख व्यक्तिगत आकांक्षाओं का त्याग स्पष्ट है। यही कारण था कि उनके सम्पर्क में आने वाला व्यक्ति उनका भक्त बन जाता था। लोकोक्ति है कि 'दूर के ढोल सुहावने', किन्तु उनके मामले में बात इसके विपरीत थी। जो जितना अधिक उनके निकट आता, वह उनमें उतनी ही अधिक आस्था रखने लगता।

यह सम्मेलन 21 अक्टूबर, 1951 को रघुनल आर्य कन्या हायर सेकेण्डरी स्कूल, नई दिल्ली में हुआ। वहाँ एक बृहत् पंडाल बनाया गया था जिसमें दिल्ली के प्राय: एक सहस्र प्रतिष्ठित निमन्त्रित नागरिकों के अतिरिक्त भारत के विभिन्न अंचलों से आए पाँच सौ प्रतिनिधियों के बैठने की व्यवस्था की गई थी।

सम्मेलन ने सर्वसम्मति से अखिल भारतीय जनसंघ बनाने का निश्चय किया और उसके संविधान तथा घोषणा-पत्र को भी स्वीकृत किया। इस नए संगठन के अध्यक्ष के रूप में डॉ. श्यामाप्रसाद मुकर्जी का नाम पंजाब के लाला बलराज भल्ला ने प्रस्तुत किया और विभिन्न प्रान्तों के अनेक प्रतिनिधियों ने इसका समर्थन किया।

डॉ. मुकर्जी के लिए उनके व्यस्त जीवन में यह एक नए और महत्त्वपूर्ण अध्याय का प्रारम्भ था। वे जानते थे कि इस उत्तरदायित्व को निभाना आसान नहीं

है, किन्तु अपने प्रचण्ड आत्मविश्वास और विभिन्न प्रान्तीय जनसंघों के तरुण कार्यकर्ताओं के प्रभावी सहयोग पर उन्हें पूरा भरोसा था।

इस ऐतिहासिक सम्मेलन के अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने अपने राजनीतिक दर्शन, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर अपने विचार तथा जनसंघ की भावी रूपरेखा पर अधिकारपूर्ण प्रकाश डाला।

जैसे ही वे बोलने के लिए खड़े हुए, कई प्रतिनिधियों ने उनसे अनुरोध किया कि वे अपना अध्यक्षीय भाषण अंग्रेजी में ही दें। डॉ. मुकर्जी को उस समय हिन्दी का यथेष्ट अभ्यास नहीं था, फिर भी उन्होंने उस राष्ट्रीय समारोह के पुण्यावसर पर राष्ट्रभाषा हिन्दी में ही बोलने का आग्रह किया।

अपने भाषण के प्रारम्भ में ही उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया था कि जनसंघ का निर्माण केवल आगामी चुनाव लड़ने के लिए ही नहीं हुआ है। चुनाव का परिणाम जो भी हो, हमारा दल इसके बाद भी सभी वर्गों के लोगों को आशा और सम्भावना का सन्देश देता हुआ स्वतन्त्र भारत को उन्नतिशील तथा समृद्ध बनाने के उद्देश्य से उनका सहयोग पाने के लिये प्रयत्नशील रहेगा।

नए दल की आवश्यकता पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने कहा, 'कांग्रेसी शासन में बढ़ती हुई तानाशाही की प्रवृत्तियों का एक प्रमुख कारण यह भी है कि देश में किसी ऐसे सुसंगठित विरोधी दल का अभाव है तो सत्तारूढ़ दल पर स्वस्थ लोकतन्त्र के लिए आवश्यक तथा उचित अंकुश के रूप में कार्य करते हुए देश के सामने एक वैकल्पिक सरकार की कल्पना प्रस्तुत कर सके।'

आगे उन्होंने कहा कि 'विरोध का अर्थ यह कदापि नहीं कि एक उत्तरदायी सरकार के विचाराधीन सभी समस्याओं के प्रति सारहीन तथा विध्वंसात्मक रुख अपनाया जाए। इसलिए हम चाहे सरकारी कामों पर टीका-टिप्पणी कर लें, फिर भी हमारा उद्देश्य यह होना चाहिए कि हम सभी समस्याओं को रचनात्मक दृष्टिकोण से लें ताकि हम सर्वसाधारण को जागरूक रख सकें और अपने देश में उत्तम प्रशासन लाने के लिए एक वास्तविक प्रजातांत्रिक ढाँचा खड़ा करने में किंचित् सहयोग दे सकें।'

भारतीय जनसंघ की रचना (Composition) और सिद्धान्तों पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने कहा, 'जात-पाँत तथा धर्म-विषयक भेद-भाव से निरपेक्ष होकर हमारे दल के द्वार भारत के सभी नागरिकों के लिए खुले हैं।'

'यह मानते हुए भी कि रीति-रिवाज, धर्म-सम्प्रदाय तथा भाषा की दृष्टि से भारत में अनेक विवधताएँ हैं, हम प्रयत्न करेंगे कि सारे भारतीयों में अपने देश पर अगाध श्रद्धा के आधार पर एकता और भ्रातृत्व का संचार हो। हम जानते हैं कि धर्म और जाति-पाँति के आधार पर राजनीतिक अल्पमतों को प्रोत्साहन देना संकटपूर्ण

होगा, तो भी भारत की विपुल आबादी के सभी वर्गों के लोगों को, जो वास्तव में मातृभूमि के प्रति सच्चा अनुराग रखते हैं, यह आश्वासन दिया जा सकता है कि कानून के अन्दर उनकी पूरी सुरक्षा रखी जाएगी और सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक सभी मामलों में उनके साथ बराबरी का व्यवहार किया जाएगा। हमारा दल बिना लाग-लपेट के यह आश्वासन देता है।'

उन्होंने देश की प्राचीन संस्कृति के प्रति उचित निष्ठा रखने पर बहुत बल दिया। उन्होंने कहा, 'हमारे दल का विश्वास है कि भारत का भविष्य 'भारतीय संस्कृति' और 'मर्यादा' की उचित प्रतिष्ठा में है। भारत के सच्चे पुत्र और पुत्रियों को इस बात का गर्व होना चाहिए कि उन्हें जो चिरयुगीन पितृव्य मिला है वह अत्यन्त महान् और स्थायी है। हमारा यह उत्तरदायित्व है कि हम उसे कलुषित और पतनोन्मुख न होने दें। स्वाधीन भारत का भविष्य भारतीय आदर्शों से प्राणवंत होना चाहिए जो कालान्तर में आवश्यकतानुसार परिवर्तित होते जाएँ ताकि वर्तमान वैज्ञानिक युग के अनुरूप बन सकें। हमारी शिक्षा-पद्धति में इसका पर्याप्त आभास होना चाहिए। अत: जब हम धर्म-राज्य अथवा कानूनी शासन (Rule of law) का आदर्श रखते हैं तब हम भारतीय संस्कृति की उस उच्चतम परम्परा का ही पालन करते हैं जो सभी लोगों को सच्ची मैत्री और बन्धुत्व में आबद्ध करती है।''

लोगों की गिरती हुई आर्थिक दशा की उग्रतम समस्या के विषय में उन्होंने कहा कि 'उनका दल सर्वोदय परिकल्प के आधार पर सुनियोजित विकेन्द्रित राष्ट्रीय आर्थिक योजना का समर्थन करता है। आगे उन्होंने कहा कि 'हमारा दल छोटे-छोटे समूहों और उत्पादक समितियों के हाथों आर्थिक सत्ता के केन्द्रीयकरण के विरुद्ध है। निजी सम्पति में हस्तक्षेप नहीं किया जाएगा और राष्ट्रीय हितों को ध्यान में रखते हुए निजी उद्योगों को भी यथोचित प्रोत्साहन दिया जायेगा। जनता के हित की दृष्टि से आवश्यक लगने पर राज्य का स्वामित्व और नियन्त्रण भी रखा जायेगा। हमारा दल प्रगतिशील-अनियन्त्रण (Progressive decontrol) के पक्ष में रहेगा। हमारा प्रयत्न होगा कि सामाजिक और आर्थिक शोषण की रोकथाम हो, वितरण उचित और बराबर हो और ऐसा वातावरण बना दिया जाए कि सभी लोग उत्पादन-वृद्धि के लिए मिलकर कार्य करें।'

भारत की विदेश-नीति के विषय में उनका दृष्टिकोण यह था कि 'उसे अधिक यथार्थवादी होना चाहिए, आधारभूत उद्देश्य अपने देश के हितों की रक्षा तथा अन्दर्राष्ट्रीय क्षेत्र में शान्ति और सद्भावना का रक्षण होना चाहिए।' उन्होंने घोषणा की कि 'भारतीय जनसंघ प्रजातन्त्र और नागरिक स्वाधीनता में विश्वास रखता है और यह किसी भी प्रकार के एकतन्त्रीय शासन के विरुद्ध है। हम मानते हैं कि प्रत्येक राष्ट्र को अपने नागरिकों की प्रकृति, प्रतिभा और परम्पराओं को ध्यान

में रख कर अपनी राष्ट्रीय नीति तथा जीवनदर्शन निश्चित करने का अधिकार होना चाहिए। भारत ने संसार को 'जीओ और जीने दो' का सन्देश दिया है। जब तक अपने आदर्शों के अनुसार अपनी जीवन-रचना करने के भारत के अधिकार में मौलिक हस्तक्षेप नहीं होता तब तक कोई कारण नहीं है कि हम अन्य सभी देशों से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध न रखें।'

उनका यह विचार था कि 'भारत को ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल में रहने के निश्चय पर पुनर्विचार करना चाहिए, क्योंकि ग्रेट ब्रिटेन की नीति पाकिस्तान के प्रति आश्चर्यजनक रूप में पक्षपातपूर्ण रही है।'

पाकिस्तान के विषय में उनके बड़े निश्चित विचार थे। उन्होंने घोषणा की, 'हमारी धारणा है कि भारत का विभाजन एक मूर्खतापूर्ण दु:खान्त घटना है। इससे न तो कोई उद्देश्य पूरा हुआ है और न किसी भी आर्थिक, राजनीतिक अथवा सामप्रदायिक समस्या को सुलझाने में सहायता मिली है। हम संयुक्त भारत के आदर्श में विश्वास रखते हैं। हम शन्तिपूर्ण तरीकों से उसे प्राप्त करना चाहते हैं। हमें विश्वास है कि दोनों राज्यों के लोग शीघ्र ही यह महसूस करेंगे कि इस एकीकरण से जनता को लाभ पहुँचेगा और इसी से हमारा देश सच्चे अर्थों में शक्ति और स्वाधीनता का दुर्ग बन सकेगा। जब तक पाकिस्तान का अस्तित्व रहेगा हम उसके प्रति 'जैसे को तैसा' की नीति का प्रतिपादन करेंगे। हम विभाजनजनक समस्याओं से, विशेषकर पाकिस्तान से उजड़कर आने वाले हिन्दुओं की निकासी सम्पत्ति के बारे में, सन्तोषजनक हल निकालने का विशेष रूप में प्रयत्न करेंगे। इन समस्याओं के प्रति हमारा दृष्टिकोण साम्प्रदायिक बिल्कुल नहीं है। ये समस्याएँ प्रमुखतया राजनीतिक व आर्थिक हैं और इन्हें न्यायोचित ढंग से सुलझाने का उत्तरदायित्व दोनों राज्यों, भारत व पाकिस्तान पर है।'

कश्मीर के प्रश्न पर, जो अभी तक खटाई में पड़ा हुआ था, उन्होंने कहा, 'मेरी पार्टी यह अनुभव करती है कि इसे यू.एन.ओ. से हटा लेना चाहिए और मतसंग्रह का कोई प्रश्न फिर नहीं उठना चाहिए। कश्मीर भारत का एक अविच्छिन्न अंग है और इसके साथ भारत के अन्य किसी भी प्रान्त के सदृश ही बर्ताव होना चाहिए।'

पं. नेहरू द्वारा अपने तथा जनसंघ पर साम्प्रदायिकता के दोषारोपण का खण्डन करते हुए उन्होंने कहा, 'जिस व्यक्ति ने मुस्लिम साम्प्रदायिकता की वेदी पर भारतीय राष्ट्रीयता का बार-बार हनन किया है, और जो विभाजन के बाद भी पाकिस्तान सरकार की सनकों के सामने लगातार झुकता चला आ रहा है, वहीं खड़ा होकर दूसरों पर साम्प्रदायिकता का दोष लगाए, यह उसके लिए शोभनीय नहीं है। भारत में मिस्टर नेहरू और उनके मित्रों की आगामी चुनाव में मुसलमानों

के मत लेने के लिए उन्हें खुश करने की नई रीति के अतिरिक्त और कोई साम्प्रदायिकता नहीं है। आज देश में प्रान्तीयतावाद अथवा अन्य प्रकार के श्रेणीय तथा जातीय भेद अवश्य विद्यमान हैं। आइये, हम परस्पर मिलकर इन बुराइयों का नाश करते हुए सच्चे अर्थों में प्रजातान्त्रिक भारत की नींव रखें। मि. नेहरू द्वारा उठाई गई साम्प्रदायिकता की पुकार देश के वास्तविक प्रश्नों को ओट देने के निमित्त ही है। आज देश के सम्मुख भूख, दरिद्रता, शोषण, कुशासन, भ्रष्टाचार, पाकिस्तान के सम्मुख आत्मसर्म्पण आदि की भीषण समस्याएँ हैं और जिनकी जिम्मेदारी मुख्यतया कांग्रेस और उसकी सरकार पर है।'

उन्होंने नए संगठन के प्रति इस विश्वास के साथ अपना स्मरणीय भाषण समाप्त किया कि यह देश की समस्याओं का उचित हल निकालेगा। उन्होंने इसकी सफलता की कामना करते हुए कहा, 'हम पूर्ण विश्वास, आशा और उत्साह के साथ इस मंगलपथ की ओर अग्रसर हो रहे हैं। हमारे कार्यकर्ता बराबर यह ध्यान में रखें कि केवल सेवा और त्याग के बल पर ही वे जनता का विश्वास जीतने में समर्थ हो सकेंगे। हमारे सम्मुख स्वतन्त्र भारत के पुनर्जीवन और इसके पुनर्निर्माण का महान् कार्य है। जननी-जन्मभूमि, वर्ग, जाति और धर्म के भेदभाव को छोड़ अपने सभी बच्चों का आह्वान कर रही है। वर्तमान का चित्र अभी कितना ही कलिमापूर्ण क्यों न हो, आने वाले वर्षों में भारत को अपनी भाग्य-रेखा खींचनी है। ईश्वर करे, आगामी चुनाव में हमारे दल का यह प्रतीक 'दीपक' आशा, एकता, विश्वास और साहस का संचार करता हुआ तमसावृत्त देश का अन्धकार दूर करे। हमारी यात्रा अभी शुरू हुई है। सर्वशक्तिमान् प्रभु, हमें गन्तव्य पथ पर अविश्रान्त चलने की प्रेरणा, शक्ति और धैर्य दे। हम भय और प्रलोभनों के झंझटों से अविचलित रहकर भारत को आध्यात्मिक एवं भौतिक दृष्टि से महान् और शक्तिशाली बनायें ताकि वह विश्व-शान्ति और समृद्धि की रक्षा में आदर्श रूप में सहायक हो सके।'

उस दिन सन्ध्या को गाँधी मैदान में एक विशाल जनसभा में बोलते हुए उन्होंने स्मरण किया कि नेताजी सुभाष बोस ने इसी दिन, 21 अक्टूबर को, आजाद हिन्द फौज का संगठन किया था। उन्होंने आशा प्रकट की कि भारतीय जनसंघ भी आजाद हिन्द फौज के समान मातृभूमि के हेतु संघर्ष करता रहेगा। उसी अवसर पर पं. नेहरू की धमकी—'मैं जनसंघ को कुचल दूँगा—का उल्लेख करते हुए उच्च हास्यध्वनि के बीच डॉ. मुकर्जी ने गर्जना की—'मैं कहता हूँ कि मैं दूसरों को कुचलने वाली इस मनोवृत्ति को ही कुचलकर रख दूँगा।'

14. प्रथम आम चुनाव

अखिल भारतीय जनसंघ के निर्माण के दो मास बाद ही स्वतंत्र भारत के नवीन संविधान के आधार पर प्रथम आम चुनाव शुरू हो गये। डॉ. मुकर्जी ने अपने अध्यक्षीय भाषण में यह स्पष्ट कहा था कि जनसंघ का जन्म केवल चुनाव लड़ने के लिए नहीं हो रहा है वरन् चुनाव के मैदान में कूदने के पहले इसका भली-भाँति संगठन हो जाए, वह वांछनीय है, परन्तु जनसंघ के लिए यह असम्भव था कि वह चुनाव पर ध्यान न दे, क्योंकि उसके परिणाम पर ही आगामी पाँच वर्षों में भारत की राजनीति का स्वरूप बनना था। साथ ही जनता-जनार्दन तक इस नए दल की विचारधारा को पहुँचाने की दृष्टि से भी चुनाव के महत्त्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। इसी विचार से प्रेरित होकर जनसंघ ने अपनी सुविधानुसार चुनाव लड़ने का निश्चय किया।

डॉ. मुकर्जी कांग्रेस की अपरिमित शक्ति और साधन व उसके नेताओं की उचित-अनुचित किसी भी तरीके से पुनः सत्ता प्राप्त करने की लालसा से भली-भाँति परिचित थे। वे इससे भी अनभिज्ञ न थे कि विरोधी-पक्ष के विभिन्न दलों में बँट जाने से कांग्रेस को लाभ होगा। उसी वर्ष अक्टूबर में दिल्ली नगर-पालिका के चुनावों से यही बात सिद्ध हो चुकी थी। अतएव वे उत्सुक थे कि कम-से-कम उन पार्टियों में, जो देश की प्रमुख समस्याओं पर एकमत हैं, चुनाव समझौता हो जाए।

किन्तु उनके पास इसके लिए समय न था कि वे अन्य पार्टियों के अखिल भारतीय नेताओं से उक्त विषय पर पत्र-व्यवहार करें, क्योंकि उन्होंने तो चुनाव-अभियान शुरू भी कर दिया था। अतएव उनके सुझाव के अनुसार जनसंघ के प्रान्तीय संगठनों को यह आदेश दिया गया कि वे सुविधानुसार पारस्परिक आदान-प्रदान के आधार पर अन्य पार्टियों के साथ चुनाव-समझौता कर लें। डॉ. मुकर्जी स्वयं रामराज्य परिषद् के स्वामी करपात्री जी तथा हिन्दू महासभा के नेताओं से इस आशय से मिले कि वे भी अपने प्रान्तीय संगठनों को वैसा ही आदेश दें। उन्होंने सुझाव दिया कि प्रत्याशियों को चुनने में उनकी प्रमाणिकता और लोकप्रियता पर ही अधिक ध्यान दिया जाए और यह प्रत्याशियों पर ही छोड़ दिया जाये कि वे किस दल की ओर से खड़े हों और उनका चुनाव-चिह्न क्या हो। ऐसे प्रत्याशियों को तीनों दलों का पूरा समर्थन और सहयोग मिलना चाहिए।

कुछ प्रान्तों में इस प्रकार की यथेष्ट व्यवस्था हो गई, किन्तु अन्यत्र स्थानीय स्पर्धा और दलीय नेताओं की व्यक्तिगत कुधारणाओं के आधार पर ऐसी व्यवस्था

न हो सकी।

भारतीय जनसंघ के पास सर्वत्र प्रशिक्षित और धुनी कार्यकर्ता पर्याप्त संख्या में थे, किन्तु उन्हें राजनीति में कोई अनुभव न था और उनकी नवजात पार्टी के पैर भी अभी बहुत मजबूत नहीं थे। अधिकांश लोग अभी तक इसके नाम से भी परिचित नहीं थे। इस दो माह के छोटे-से-अरसे में कई लोगों ने तो इसका नाम इसके कार्यकर्ताओं अथवा समर्थकों के मुख से नहीं अपितु पं. जवाहरलाल नेहरू जैसे कटु समीक्षकों से सुना, जिन्हें यह डर सताने लगा था कि इस संगठन और इसके प्रतिभाशाली नेता के कारण कहीं कांग्रेस पदच्युत न हो जाए। डॉ. मुकर्जी को इस नए संगठन के प्रति पं. जवाहरलाल नेहरू द्वारा बिना उसे समझे-बुझे और उसके उद्देश्यों से अवगत हुए, प्रसारित निन्दावाद से घोर दुःख हुआ। किन्तु उन्होंने पं. नेहरू का आभार भी माना कि उन्होंने अपनी उचित और त्वरित विज्ञप्ति कराने में असमर्थ इस सद्योत्पन्न संगठन के 'अवैतनिक प्रचार मंत्री' का कार्य किया।

पं. जवाहरलाल नेहरू के, जिन्होंने अपने सारे चुनाव-भ्रमण में जनसंघ को अपने अकारण कोप का निशाना बनाया, मिथ्या विचार तथा कांग्रेस, समाजवादी और साम्यवादी दलों द्वारा इस नए दल की भूमिका, उद्देश्य और प्रयोजनों के सम्बन्ध में भ्रांतिपूर्ण प्रचार के कारण डॉ. मुकर्जी के लिए यह नितान्त आवश्यक हो गया कि वे दिल्ली-सम्मेलन के तुरन्त बाद ही देश का भ्रमण कर जनता के सामने जनसंघ के कार्यक्रम और नीतियों पर प्रकाश डालें।

यह एक दुष्कर कार्य था। जनसंघ के पास अभी न तो इतने साधन थे और न उसका संगठन ही ऐसा बन चुका था कि उनके लिए कम-से-कम सुविधाजनक परिवहन की व्यवस्था हो। समाचार-पत्र भी, विशेषतः अंग्रेजी के पत्र, प्रधानमंत्री का रुख देखकर इस नए संगठन के प्रायः विरोध में ही थे।

किन्तु इन सब बाधाओं से अविचल रहकर डॉ. मुकर्जी ने जनता को जगाकर उसे वास्तविक परिस्थितियों तथा मातृभूमि के प्रति जनसंघ की कर्त्तव्य-भावना से अवगत कराने के बृहत् कार्य का बीड़ा उठाया। उन्होंने अपना भ्रमण पंजाब से शुरू किया।

लेखक को उनके साथ कुछ दौरों पर जाने का अवसर मिला। किसी-किसी दिन उन्हें दो-तीन सौ मील तक की रेल तथा कार-यात्रा करके दस-बारह सभाओं में भाषण देना पड़ता था। साधारणतया वे रात को रेल-यात्रा करके दिन को मोटर से दो-तीन मुख्य स्थानों पर बोलकर अगले केन्द्र पर जाने के लिए पुनः रात की गाड़ी पकड़ लेते थे। वे चाहे घर में हों, चाहे रेल में, प्रायः पाँच बजे उठ जाते थे और फिर रात के दस बजे तक प्रायः अविराम ही कार्य में संलग्न रहते थे।

किन्तु अब जिस कार्य का दायित्व उन्होंने लिया था वह भिन्न प्रकार का था।

इसमें उन्हें बोलने के अतिरिक्त अत्यधिक शारीरिक परिश्रम भी करना पड़ रहा था। इसका उन्हें अभ्यास नहीं था। वे जहाँ भी गए विशाल जनसमूह उनकी वाणी सुनने आया। सैंकड़ों-सहस्त्रों लोग उनका दर्शन करने के निमित्त राह के छोटे-मोटे स्टेशनों पर भी एकत्र हो जाते थे। ऐसा लगने लगा कि उनकी कीर्ति सब जगह फैल चुकी है। समस्त देश के शिक्षित नर-नारी उन्हें विरोधी दल के उपयुक्त नेता के रूप में प्रतिष्ठा देने लगे।

हिन्दी बोलने का अच्छा अभ्यास न होने पर भी डॉ. साहब ने अपने चुनाव के अधिकांश भाषण हिन्दी में ही दिए थे। इन भाषणों में देश की परिस्थितियों से विक्षुब्ध किन्तु दृढ़-संकल्प हृदय का प्रतिबिम्ब तथा भारत के भाग्योदय में उनका अखण्ड विश्वास मूर्तिमान् था। उन्होंने देश की सभी समस्याओं पर अपने विचार व्यक्त किए। उन्होंने जन-साधारण के भोजन, वस्त्र और आवास की व्यवस्था पर विशेष बल दिया। उनका विश्वास था कि इसमें विफल होने पर 'हमारे समाजिक तथा आर्थिक ढाँचे का आधार हिल जायेगा और क्राँति का सूत्रपात होगा।' उन्होंने बारम्बार यह घोषणा की कि 'भारतीय जनसंघ किसी वाद-विशेष से बँधा हुआ नहीं है, किन्तु इन मौलिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए वह कड़े-से-कड़ा कदम उठाने में भी नहीं हिचकिचाएगा।'

किन्तु साथ ही उन्होंने देशवासियों को सतर्क किया कि वे यह न सोचें कि अर्थ ही जीवन का आमूल उद्देश्य है। वे चाहते थे कि लोगों की आर्थिक उन्नति के साथ ही साथ उनका आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक विकास भी होता जाए। अपनी इन्हीं आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक विशेषताओं के कारण भारत इतिहास के प्रारम्भ से ही संसार के सम्मान का पात्र बना हुआ है, और रहेगा। केवल आर्थिक उन्नति के लिए इसकी अवहेलना करने से लोगों में नैतिकता के लिए निष्ठा, जो शीघ्रता से लुप्त हो रही है, उत्पन्न करना कठिन होगा।

डॉ. साहब ने पं. नेहरू की विदेश तथा गृह नीतियों की, मुख्यतया उनकी पाकिस्तान तथा मुसलमानों के प्रति नीति की, कटु और मार्मिक आलोचना की। उन्होंने बहुत निकट से पं. नेहरू के मस्तिष्क की दौड़ देखी थी। उन्होंने यह देखा था कि भारत ने स्वाधीनता के प्रथम वर्षों में जो कुछ भी प्राप्त किया वह पं. नेहरू के कारण नहीं, अपितु उनके बावजूद किया है। बहुत खेद के साथ वे स्मरण करते थे कि किस तरह विदेशी लोगों में सस्ती लोकप्रियता अर्जित करने के लिए पं. नेहरू ने भारत तथा इनके लाखों व्यक्तियों के हित के प्रश्नों पर कितनी निर्दयता से खिलवाड़ किया था। विभाजन के समय पाकिस्तान के हिन्दुओं के साथ उन्होंने जो वायदे किए थे उन्हें पूरा न कर लोगों के विश्वास की हत्या करना डॉक्टर साहब की दृष्टि में पं. नेहरू के लिए ही नहीं अपितु उनके महान् देश के लिए भी

लज्जास्पद था।

डॉ. मुकर्जी को इस प्रकार से विस्मय होता था कि अपनी तमाम त्रुटियों और विफलताओं के बावजूद भी पं. नेहरू एक सफल विदेश-मंत्री सिद्ध हुए हैं और उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भारत का नाम ऊँचा किया है। उनका यह मत था कि किसी देश की विदेश-नीति की सफलता या विफलता की कसौटी यह है कि उससे देश का कितना भला हुआ। उनका अकाट्य तर्क था कि पंडित नेहरू की विदेश-नीति की बदौलत ही हमारी सौलह सौ मील लम्बी सीमा, जो युगों से सुरक्षित थी, आज असुरक्षित हो गई है, क्योंकि इससे साम्यवादी चीन को तिब्बत पर कब्जा जमाने का प्रोत्साहन मिला और इसके फलस्वरूप ही भारत प्रजातांत्रिक जगत से मानों कट गया है। साम्यवादी जगत से भी इसने कोई लाभ नहीं उठाया, क्योंकि भारत जब तक समूचा ही लाल नहीं हो जाता तब तक कम्युनिस्ट देश इस पर कदापि विश्वास नहीं करेंगे।

इस तथाकथित सफल विदेश-नीति के कारण ही भारत से बाहर बसे हुए भारतीयों की अवस्था शोचनीय होती जा रही है। हालांकि पं. नेहरू दिन-रात उपनिवेशवाद के विरुद्ध बोलते रहते हैं, परन्तु अभी तक वे भारत में से पुर्तगाली उपनिवेशवाद को खत्म करके गोआ को मुक्त नहीं करा सके। इससे भी बढ़कर उनकी विदेश-नीति की सफलता का प्रमाण यह है कि इसके कारण वे जम्मू, कश्मीर रियासत का एक बड़ा भाग, जिसमें सामरिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण गिलगित का इलाका भी शामिल है, पाकिस्तान के अधिकार में चला गया है। पाकिस्तान उस गिलगित का लालच देकर अमरीका से भारत के विरुद्ध कूटनीतिक, आर्थिक तथा सैनिक सहायता प्राप्त करने के लिए सौदेबाजी कर रहा है।

डॉ. मुकर्जी पं. नेहरू की भारत के शत्रुओं, विशेष रूप में ऐसे शत्रुओं के प्रति जो मुस्लिम धर्मावलम्बी हों, भीरुता और अभारतीयता की अनेक बातें जानते थे। वे जब मंत्रिमंडल में थे उस समय ऐसी कई बातें हुई थीं जिन्हें वे प्रकाशित न कर सकते थे। किन्तु बड़ी-बड़ी जनसभाओं में उन्होंने कई बार दु:खभरी आवाज में कहा, 'भारत के इतिहास को आद्योपान्त पढ़ लेने पर मुझे एक भी चरित्र ऐसा नहीं मिला जिसने देश को पं. नेहरू से अधिक नुकसान पहुँचाया हो।'••

उन्हें पं. नेहरू के विषय में यह बात कहने में कोई प्रसन्नता नहीं होती थी। किन्तु वे विवश थे। अपने सहयोगी बन्धुओं की बार-बार चेतावनियों के बावजूद पं. नेहरू की हठपूर्वक गलत अराष्ट्रीय और यथार्थविमुख नीतियों पर दृष्टिपात कर

•• "When I scan the whole course of Indian history, I do not find a single man who has done more harm to this country than Pt. Nehru."

कोई अन्य धारणा बननी ही कठिन थी। वे देश के विभाजन और फलस्वरूप होने वाले भीषण हत्याकाण्ड के लिये मुख्यतया पंडित नेहरू को ही दोषी मानते थे। लाखों हिन्दुओं का अपनी जन्मभूमि को छोड़ देना, जिसके लिए वे शताब्दियों तक विदेशी मुसलमान हमलावरों और शासकों का अन्याय सहते रहे, उनके विचार से एक राष्ट्र के नाते भारत के लिए प्रचण्ड आघात था।

डॉ. मुकर्जी ने पंडित नेहरू द्वारा अपने भाषणों में उन पर लगाए गए कुछ आरोपों के विषय में भी स्पष्टीकरण दिया। एक आरोप यह था कि डॉ. मुकर्जी तथा मास्टर तारासिंह भी भारत-विभाजन के जिम्मेदार हैं क्योंकि उन्होंने बंगाल व पंजाब के विभाजन की माँग की थी।

जनवरी, 1952 में जमशेदपुर में बोलते हुए डॉ. मुकर्जी ने कहा, 'पंडित नेहरू जैसे नेता के लिए बहुत लज्जाजनक है कि वे असत्य या अर्द्धसत्य बातों का प्रचार कर रहे हैं।' 'वस्तुस्थिति' उन्होंने कहा, 'जब मुझे यह स्पष्ट दृष्टिगोचर हुआ कि कांग्रेस ने लीग और ब्रिटिश ने मिलकर देश के टुकड़े कर देने का निश्चय कर लिया है और हम इसे रोकने में असमर्थ हैं, तब मैंने टुकड़े कर देने का निश्चय कर लिया है और हम इसे रोकने में असमर्थ हैं, तब मैंने पंजाब और बंगाल के विभाजन की माँग की। मैंने माँगकी कि इन प्रान्तों का कुछ हिस्सा तो कम-से-कम डूबने से बचाया जाए। मैं जिस बात के पक्ष में था और मैंने जिसके लिए काम भी किया, वह समूचे बंगाल और पंजाब को हड़पने वाले पाकिस्तान के विभाजन की बात थी, न कि भारत के। दोनों राजनीतिक पार्टियों, कांग्रेस और मुस्लिम लीग ने, बिना जनता-जर्नादन की इच्छा अथवा सहमति के इसका निर्णय आप ही कर लिया था और इस तरह जनता को धोखे में रखा था।'

आगे उन्होंने कहा, 'अगर ऐसा करना पाप था तो मैं अपने देशवासियों के सम्मुख अभियोगी बन उनका निर्णय जानने के लिए उपस्थित हूँ।'

पंडित नेहरू का डॉ. मुकर्जी तथा उनके संगठन के प्रति दूसरा मुख्य आरोप साम्प्रदायिकता का था। वे उन्हें तथा जनसंघ को साम्प्रदायिक कहते थे।

डॉ. मुकर्जी इस मिथ्यारोप से बहुत विक्षुब्ध हुए। उनके अनुसार जिस संस्था ने देश में साम्प्रदायिकता के विषांकुर को पल्लवित किया था वह स्वयं कांग्रेस थी। इसने विगत पैंतीस वर्षों में साम्प्रदायिकता के सामने घुटने टेके हैं।' क्या आपने' वे प्रश्न करते थे, 'वे प्रश्न करते थे, 'कम्यूनल एवार्ड का विरोध किया था? मुस्लिम-लीग के साथ समझौता करने के लिए पृथक् मताधिकार का विषैला सिद्धान्त किसने माना था? भारत का विभाजन किसने स्वीकार किया? आपने यह सबकुछ चाहे इस सद्भावना से ही किया हो कि इससे ब्रिटिश सरकार से पिण्ड छुड़ाने में सहायता मिलेगी, किन्तु इस प्रकार साम्प्रदायिक कहते हुए तुम्हें शर्म नहीं

आती?'

'किन्तु अगर अपनी जन्मभूमि से प्रेम करना साम्प्रदायिकता है; दूसरी जातियों को हेय न मानते हुए अपनी जाति से प्रेम करना साम्प्रदायिकता है; अगर हमें भारत में रहने वाले तीस करोड़ हिन्दुओं से, जो सहस्र वर्ष की दासता से मुक्त हुए हैं, सहानुभूति है और हम उन्हें एकता के सूत्र में बाँधने का प्रयास करते हैं; अगर हम अपनी अवलुप्त मर्यादा को उस विधि से प्राप्त करना चाहते हैं जो हिन्दू-धर्म के गतिशील सिद्धान्तों से अनुप्राणित है और जिसके प्रतीक स्वामी विवेकानन्द हैं, तो मुझे गर्व है कि मैं साम्प्रदायवादी हूँ।' न तो पं. नेहरू, न अन्य ही किसी कांग्रेसी भाई ने कभी भी डॉ. मुकर्जी के इन तर्कों का उत्तर देने का साहस किया। वस्तुत: उनके पास कोई तर्क है भी नहीं। अत: इस समाधान के साथ कि डॉ. मुकर्जी के तर्कयुक्त उत्तर तो उनके जी-हुजूरी समाचार-पत्र छापेंगे नहीं, वे उनके विरुद्ध निन्दनीय और कुत्सित प्रचार करने लगे।

डॉ. मुकर्जी की दृष्टि में यह भारत का बहुत बड़ा दुर्भाग्य था कि उनके जीवन के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा रचनात्मक काल में उसकी बागडोर एक ऐसे व्यक्ति के हाथ में आ गई थी जो अभी यह भी नहीं जानता कि भारत वस्तुत: है क्या? पंजाब के प्रमुख नागरिकों के सम्मुख शिमला में बोलते हुए सकरुण होकर उन्होंने कहा, 'पं. नेहरू दावा करते हैं कि उन्होंने भारत को जान लिया है, मगर वस्तुस्थिति यह है कि उन्हें अभी स्वयं अपने मानस को, जिस पर अहिन्दू और अभारतीय संस्कारों का मोटा परदा पड़ा हुआ है, जानना है।'

परिस्थिति इस प्रकार गम्भीर होने पर भी डॉक्टर मुकर्जी हताश नहीं हुए। उन्हें भारत के भाग्य पर पूर्ण आस्था थी। साथ ही उसके एक तुच्छ सेवक के रूप में अटूट आत्मविश्वास था। जब हम शिमला से लौट रहे थे, तब उन्होंने मुझसे कहा, 'अगर मेरे पास लोकसभा के कुल दस सदस्य ही पहुँच पाएँ तो भी मैं इस व्यक्ति को (पं. नेहरू को) औचित्य की ओर ले चलूँगा।'

इस समय हमारी मोटर रमणीक पर्वतीय स्थलों से होती हुई शिमला-कालका सड़क की भयावह उतराइयों में फिसलती जा रही थी। उसी समय अतीत-मनन के एक क्षण में उन्होंने उपयुक्त बात की और मुझसे पूछा, 'क्या हमने मुश्किल से दो मास की इस नई पार्टी के नाम पर चुनाव के क्षेत्र में पदार्पण कर उचित किया है?' और क्षणिक मौन के बाद बिना मेरे उत्तर की प्रतीक्षा के आगे कहा, 'पर अब तो पाँसा फेंक दिया है, इसलिए हमें खेल खेलना ही है।'

चुनाव के दिनों में देश-भर में दौरा करते समय डॉ. मुकर्जी को नगर, जिला और प्रान्तीय स्तर पर जनसंघ के तरुण और वृद्ध कार्यकर्ताओं को बहुत निकट से देखने का अवसर मिला। तरुण लोग प्राय: राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के थे जो अपने

राजनीतिक कार्य की दृष्टि से जनसंघ में आए थे। उनका व्यवहार कोई विरोधात्मक नहीं था। वयस्क होने के नाते मताधिकार रखते हुए वे राजनीति से अलिप्त नहीं रह सकते थे। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने उन्हें इस बात की पूरी स्वतन्त्रता दी थी कि वे अपनी इच्छानुसार किसी भी राजनीतिक दल में सम्मिलित हो सकते हैं। उनमें से बहुतों ने जनसंघ को अपने निकटतम समझा और वे इसमें शामिल हो गए। कुछ लोग पहले ही हिन्दू महासभा में चले गये थे, और उसी में कार्य करते रहे। उनमें कुछ कांग्रेसी सज्जन भी थे, किन्तु कांग्रेस की अभारतीय और हिन्दूविरोधी नीतियों के कारण वे इसे छोड़ना चाह रहे थे। ऐसे कुछ लोग भी अब जनसंघ में शामिल हो गए।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ में से जनसंघ में आने वाले अधिकतर कार्यकर्ता अपेक्षाकृत अल्पवयस्क थे। उन्हें राजनीति का अनुभव नहीं था, किन्तु काम करने की लगन और लोकसंग्रह का ज्ञान था। थोड़े राजनीतिक मार्गदर्शन तथा प्रशिक्षण से वे राजनीति में वयोवृद्धों की अपेक्षा अधिक आगे बढ़ सकते थे।

डॉ. मुकर्जी स्वयं कांग्रेस के नेताओं की अपेक्षा बहुत कम आयु के थे। वे तरुणहृदय थे और तरुणों को आगे बढ़ाना चाहते थे। इसलिए उन्होंने प्रयत्नपूर्वक तरुण कार्यकर्ताओं को राजनीतिक शिक्षा दी। वे हमेशा तरुण कार्यकर्ताओं के विचारों को अधिक महत्त्व देते थे और उन्हें सबसे अधिक उत्तरदायित्व काम सौंपते थे। जनसंघ के अध्यक्ष बनने के बाद उन्होंने तरुण कार्यकर्ताओं के विचारों से अवगत हुए बिना कभी भी कोई महत्त्वपूर्ण निर्णय नहीं लिया। कार्यकारिणी की अनेक सभाओं में वे सबसे महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव लिखने का काम अल्पव्यस्क सदस्यों को सौंपकर उन्हें सोचने और लिखने के लिए प्रोत्साहित करते थे। वे यह कहकर उन्हें बोलने की प्रेरणा भी देते थे कि मेरी वक्तृता के पहले कुछ तरुण कार्यकर्ताओं को अवश्यमेव बोलना है। अल्पवयस्क कार्यकर्ताओं की प्रगति और विकास में उनकी इस रुचि से उत्साहित होकर वे भी उनको आशानुकूल ढालने का प्रयत्न करते थे। परिणामस्वरूप उन्होंने तरुण कार्यकर्ताओं में से ही कुछ में नेतृत्व के गुण और क्षमता उत्पन्न करके उन्हें जनसंघ की बागडोर सँभालने के योग्य बना दिया।

वे स्वयं अपने गृहक्षेत्र दक्षिणी कलकत्ता से लोकसभा के लिए खड़े हुए। यह कोई आसान क्षेत्र नहीं था। यहाँ कुल तीन लाख मतदाताओं में से करीब प्रायः सत्तर हजार मुसलमान थे जो कांग्रेस के मिथ्या-प्रचार के कारण जनसंघ तथा डॉक्टर साहब को अपना शत्रु समझने लगे थे। अतः यह स्पष्ट ही था कि सब-के-सब इनके विरोध में ही मतदान करेंगे। इनके विरुद्ध कांग्रेस ने कलकता का एक अत्यन्त धनाढ्य व्यक्ति खड़ा किया था। साम्यवादियों का प्रत्याशी भी मजबूत था।

डॉ. मुकर्जी के पास साधनों की कमी थी। वे धनवान् नहीं थे। दूसरे, जिन

तरीकों पर कांग्रेस और साम्यवादी उतर आए थे, वे उन्हें अपनाने की कल्पना भी नहीं कर सकते थे, किन्तु उन्होंने बंगाल और भारत की जो सेवा की थी, मतदाता उससे भली-भाँति परिचित थे। वे अपने क्षेत्र में बहुत कम समय लगा सके। इसके बावजूद लोगों ने उन्हें भारी बहुमत से चुनकर लोकसभा में भेजा।

समग्र दृष्टि से जनसंघ का चुनाव-परिणाम उत्साहजनक नहीं था। लोकसभा के डॉ. मुकर्जी सहित त्र्यानबे प्रत्याशियों में से कुल तीन सफल हुए। प्रान्तीय विधानसभाओं का परिणाम भी कुछ बेहतर नहीं हुआ। सात सौ बयालीस प्रत्याशी खड़े किए गए, जिनमें से कुल तैंतीस सफल हुए। पूर्वी पंजाब के सदृश कुछ प्रान्तों में, जहाँ जनसंघ कुछ सशक्त समझा जाता था, वहाँ उसे एक भी सीट नहीं मिली।

इस असफलता के कई कारण थे। सबसे बड़ा कारण तो यह था कि यह संगठन इतना अल्पकालिक था कि देश के अधिकांश देहातों में इसका नाम भी नहीं पहुँच सका था। वास्तव में चुनाव तक इसका जो थोड़ा-बहुत प्रचार हुआ था उसमें मुख्य हाथ इसके आलोचकों का ही था। साधारण जनता जनसंघ के विषय में कुछ जाने-समझे, इसके पहले ही इसके प्रति मिथ्या प्रचार करके लोगों में इसके विषय में कुधारणाएँ उत्पन्न कर दी गई थीं।

दूसरा कारण यह था कि अधिकांश क्षेत्रों में, जहाँ से जनसंघ के प्रत्याशी खड़े थे, इसका संगठन ही अभी नहीं बन सकता था। कई गाँवों में तो जनसंघ के नाम पर कोई बोलने वाला ही नहीं था।

तरुण कार्यकर्ताओं की अनुभवहीनता तथा साधन की कमी भी इस विफलता का प्रमुख कारण रही थी, किन्तु साधारण कार्यकर्ताओं ने अपने अनुभव की कमी अपने अदम्य उत्साह तथा घोर परिश्रम से पूरी कर दी थी। फिर भी कांग्रेस और साम्यवादी दल की बराबरी करना कठिन था, क्योंकि ये दोनों पार्टियाँ देश में सबसे अधिक साधन सम्पन्न थीं।

इन सबके बावजूद जनसंघ के मित्रों तथा आलोचकों ने यह बराबर माना कि जनसंघ का प्रत्याशी जहाँ कहीं भी खड़ा हुआ उसने कांग्रेस का सबसे अधिक डटकर मुकाबला किया।

स्वयं आशावादी होने के नाते डॉ. मुकर्जी ने चुनाव में अपनी सफलता पर ही अधिक बल दिया। वे कहा करते थे, 'हम शून्य से चले थे और अब हमारे पास सब कहीं कुछ-न-कुछ तो है। हमने वास्तव में कुछ पाया है, खोया नहीं।' वे सीटों की गणना के आधार पर विजय का नाप-तोल नहीं करते थे। उनकी दृष्टि में सबसे लाभप्रद बात यह हुई थी कि सर्वत्र लोग जनसंघ का अस्तित्व महसूस करने लगे थे। जिन क्षेत्रों में जनसंघ ने एक भी सीट लड़ी थी वहाँ के दूरस्थ गाँवों में भी लोग इसके नाम तथा विचारधारा से परिचित हो गए थे। इस प्रकार उसने

देश और देशवासियों के हृदय में अपना स्थान बना लिया था।

जनसंघ को चुनाव का सबसे महत्त्वपूर्ण लाभ यह हुआ कि प्राप्त मतों के आधार पर भारत के चुनाव-आयोग ने चार अखिल भारतीय दलों में इसकी गणना भी कर दी। इस तरह जनसंघ अनेक पुराने राजनीतिक दलों को पीछे छोड़कर देश के राजनीतिक आकाश में एक प्रमुख नक्षत्र के रूप में चमकने लगा।

परन्तु जो लोग चुनाव के दिनों में ही जनसंघ में सम्मिलित हुए थे उनमें इस प्रकार का आदर्शवाद, विश्वास और आशावाद न था। उनमें से कई तो इसमें अपना राजनीतिक स्वार्थ पूरा करने के उद्देश्य से ही आए थे। दूसरे, उस विशाल वर्ग के प्राणी थे जो हवा का रुख देखकर ही बात करते हैं। यह सोचकर कि जनसंघ एक नई और बढ़ती हुई शक्ति के रूप में आगे आ रहा है, वे इसमें शामिल हो गए थे, किन्तु जब उन्होंने देखा कि कांग्रेस का सितरा ही अभी बुलन्द है, वे अशोभनीय वेग से वापस दौड़े। स्थिति इतनी गम्भीर हो गई कि पं. मौलिचन्द्र शर्मा जैसे उच्च नेता भी हताश होकर इसके प्रति निराशाजनक कल्पना करने लगे और सोचने लगे कि उनके स्वयं के द्वारा निर्मित जनसंघ नितान्त विफल होगा।

किन्तु ऊपर डॉ. मुकर्जी और नीचे कार्यकर्ताओं का तरुण समूह दृढ़तापूर्वक अविचिल रहा। अधरों में भगवान् कृष्ण की वाणी का गायन 'कर्मण्येवाधिकारसते मा फलेषु कदाचन' लेकर शुद्ध कर्त्तव्य भावना से ही उन्होंने अपने कर्त्तव्य का यथाशक्य पालन किया है। अपने उग्र विश्वास के द्वारा डॉ. मुकर्जी ने अविचलित रहकर मातृभूमि के विशालतर और सुखमय भविष्य-निर्माण की प्रेरणा दी।

यह डॉ. मुकर्जी की मानसिक दृढ़ता और आत्मविश्वास तथा तरुण कार्यकर्ताओं के अभग्न उत्साह एवं कठोर परिश्रम का ही परिणाम था जो चुनाव में असफलता की आँधी में भी शिशु जनसंघ का नन्हा दीपक जलता रहा और कुछ ही महीनों के मौन के बाद जनसंघ फिर सक्रिय हो उठा। लोकसभा में डॉ. मुकर्जी ने विरोधी नेता के रूप में जो कीर्ति पाई और तरुण कार्यकर्ताओं ने प्रान्तों में जनसंघ में पुनर्जीवन लाने का जो जी-तोड़ परिश्रम किया, इससे कुछ महीनों में ही जनसंघ पुनः अपने पैरों पर खड़ा हो गया।

15. विरोधी पक्ष के नेता के रूप में

आम चुनाव के बाद लोकसभा में राजनीतिक दलों की जो स्थिति बनी, वह अलग-अलग तथा सामूहिक रूप से भी विरोधी दलों के लिए कोई बड़ी उत्साहजनक न थी। सब मिलाकर विरोधी दलों को 55% वोट मिले थे और कांग्रेस को कुल 46.63%, किन्तु कांग्रेस ने 364 सीटें जीत लीं और दूसरे सब दलों को मिलाकर कुल 125 सीटें ही मिलीं। जम्मू और कश्मीर रियासत के 6 सदस्य जो जनता द्वारा नहीं, अपितु अब्दुल्ला सरकार द्वारा मनोनीत किए गए थे तथा राष्ट्रपति द्वारा ऐंग्लो-इण्डियन व असम के वनवासियों के प्रतिनिधि के रूप में मनोनीत पाँच सदस्यों ने भी कांग्रेस की शक्ति बढ़ाई।

विरोधी दलों की 125 सीटें बुरी तरह विभाजित थीं। कम्यूनिस्ट और उनके मित्रों के नई लोकसभा में 26 सदस्य थे और उनका ही सबसे बड़ा संगठित विरोधी दल था, किन्तु संसार-व्यापी कम्युनिस्ट परम्परा के अनुसार वे अन्य किसी भी दल या पार्टी के साथ संयुक्त मोर्चा बनाने में असमर्थ थे, क्योंकि उनकी शर्तों के अनुसार उनसे मिलने वाले छोटे दलों का अस्तित्व या तो समाप्त ही हो जाता अथवा कम्युनिस्ट पार्टी में ही पूरी तरह विलीन हो जाता। उन्होंने कुछ स्वतंत्र सदस्यों को अपने साथ लेने का प्रयास अवश्य किया, किन्तु उनमें से कोई भी उनकी गोद में जाने के लिए सहमत न हुआ।

सोशलिस्ट पार्टी तथा आचार्य कृपलानी की किसान-मजदूर प्रजा-पार्टी के क्रमशः 10 और 12 सदस्य थे। इन दोनों ने मिलकर प्रजा सोशलिस्ट पार्टी का निर्माण किया। परिणामस्वरूप इसमें 22 सदस्य हो गए। कम्युनिस्टों ने इनसे गठबन्ध करने का प्रयास किया और इस संयुक्त दल के लिए प्र.स. पार्टी के व्यक्ति का नेतृत्व भी स्वीकार किया, किन्तु सोशलिस्टों को 1935-40 के अरसे में उनके साथ गठबन्धन का कटु अनुभव हो चुका था, इसलिए उन्होंने इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया।

दूसरी अखिल भारतीय पार्टी भारतीय जनसंघ के कुल तीन सदस्य थे। रामराज्य परिषद् के भी तीन और हिन्दू महासभा के चार सदस्य थे। प्रान्तीय पार्टियों में से गणतन्त्र परिषद्, अकालीदल, बिहार के वनवासियों की झारखण्ड पार्टी तथा तमिलनाडु कामगर पार्टी (Tamilnad Toilers Party) के क्रमशः पाँच, चार, तीन और चार सदस्य थे। आजाद सदस्यों की संख्या छत्तीस थी और अपने नामानुकूल ही इनमें संयुक्त कार्यक्रम की क्षमता न थी। इनमें से कुछ तो हृदय से यह महसूस करते थे कि उन्हें पूर्णतः स्वतन्त्र ही रहना चाहिए, बाकी अपनी इच्छा अथवा आत्महित को ध्यान में रख सोद्देश्य किसी ओर झुक सकने के लिए अपनी स्वतन्त्र स्थिति बनाए

रखना चाहते थे।

इस बहुरंगी विरोधी पक्ष की दूसरी विशेषता यह थी कि इसमें प्रतिभा का अभाव था, यद्यपि इतना नहीं जितना कि सत्तारूढ़ पार्टी में था। कम्युनिस्टों, सोशलिस्टों और किसान-मजदूर प्रजापार्टी का एक भी उच्च नेता जीतकर संसद में न पहुँच सका था। डॉ. श्यामाप्रसाद मुकर्जी ही विरोध पक्ष में एकमात्र ऐसे व्यक्ति थे जिनका व्यक्तित्व सब पर ऐसे छा रहा था जैसे पं. नेहरू का कांग्रेस पर। वे पहले से ही विख्यात थे और उनके मित्र तथा विरोधी सभी यह मानते थे कि स्वाधीन भारत की प्रथम निर्वाचित लोकसभा में वे विरोधी दल के प्रमुख प्रवक्ता रहेंगे।

किन्तु नियमानुसार उसी पार्टी को विरोधी पार्टी तथा उसके नेता को विरोधी दल के नेता की मान्यता मिल सकती थी जिसके कम-से-कम 50 सदस्य हों। विरोधी दलों के अनेक प्रमुख सदस्यों की यह धारणा थी कि ऐसा कोई संयुक्त दल डॉ. मुकर्जी के नेतृत्व में ही बन सकता था। कतिपय कांग्रेसी जनों का भी यही विचार था। निदान, पार्टियों की अन्तिम स्थिति से अवगत होते ही ऐसे विरोधी सदस्य डॉ. मुकर्जी की सहमति तथा समर्थन से ऐसे मिले-जुले दल के निर्माण में क्रियाशील हुए। इस उद्देश्य से लोकसभा के उद्घाटन के पूर्व ऐसे संयुक्त दल की पृष्ठभूमि बनाने की दृष्टि से दिल्ली में मिल बैठने के लिए डॉ. मुकर्जी, श्री एन.सी. चटर्जी अध्यक्ष हिन्दू महासभा, गणतन्त्र परिषद् के नेता श्री राजेन्द्र नारायण सिंह, अकाली दल के नेता सरदार हुकुम सिंह, झारखण्ड पार्टी के नेता श्री जयपाल सिंह तथा कतिपय स्वतंत्र सदस्यों के हस्ताक्षरयुक्त निमन्त्रण-पत्र बहुत से गैर-कम्युनिस्ट विरोधी सदस्यों के पास भेजे गये।

28 मार्च, 1952 को कांस्टीट्यूशन क्लब में यह बैठक हुई। इसमें बीस स्वतंत्र सदस्य तथा शेष दलीय नेताओं को मिलाकर विरोधी दल के कोई 45 भद्रजन सम्मिलित हुए। वहाँ यह निश्चय किया गया कि न्यूनतम साँझे कार्यक्रम के आधार पर एक संयुक्त विरोधी संसदीय दल का निर्माण किया जाए।

किन्तु कुछ सदस्य, जिन्होंने पहले कथित पार्टी में सम्मिलित होने में सहमति दी थी, यह सोचकर भयभीत हो गए कि डॉ. मुकर्जी से सम्बन्ध स्थापित होने से कहीं पंडित नेहरू अप्रसन्न न हो जाएँ। उन्होंने अपना एक अलग स्वतन्त्र दल बना लिया। फलस्वरूप लोकसभा में डॉ. मुकर्जी की कथित विरोधी पार्टी में कुल तीस सदस्य ही रहे और इसका नाम 'नेशनल डेमोक्रेटिक पार्टी' रखा गया। इसमें श्री एन.सी. चटर्जी, सरदार हुकुम सिंह, यू.एम. त्रिवेदी, श्री बी. रामचन्द्र रेड्डी जैसे कुछ मेधावी सांसद-शिष्टजन शामिल थे।

इस तरह किसी मान्यता-प्राप्त विरोधी दल के बिना ही नई लोकसभा का उद्घाटन हुआ। अध्यक्ष महोदय ने उन विरोधी पार्टियों और संयोजनों को, जिनमें 25

से अधिक सदस्य थे, 'संसदीय गुट' (च्तसपंउमदजंतल तवनचे) कहकर मान्यता दी।

किन्तु कुछ अरसे बाद ही प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के नेताओं ने मुकर्जी को परामर्श दिया कि लोकसभा में प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के सदस्य उनकी नेशनल डेमॉक्रेटिक पार्टी के साथ मिलकर संयुक्त विरोधी दल बनाने और उन्हें अपना नेता मानने को प्रस्तुत हैं, बशर्ते कि वे अपने कथित संयोजन से हिन्दू महासभा के सदस्यों को निकाल दें।

यह एक लुभावना प्रस्ताव था, इसमें लाभ-ही-लाभ थे। इसे स्वीकार कर डॉ. मुकर्जी देश में सरकार की ओर से मान्यता प्राप्त विरोधी नेता के रूप में प्रतिष्ठित होते और इस मान्यता के आधार पर मिलने वाली सब सुविधाएँ तथा लाभ उन्हें प्राप्त होते। साथ ही प्रधानमंत्री के प्रबल बहुमत का मुकाबला करने के लिए अपनी अकाट्य तार्किकता को बल देने के लिए उन्हें अधिक शक्ति भी मिल जाती।

किन्तु उनके जनतांत्रिक हृदय को महासभाई सदस्यों को संयोजन से निकालने का प्रस्ताव नहीं जँचा। उन्होंने प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के नेताओं से वार्त्ता करते हुए कहा कि इसमें उनके हृदय की संकीर्णता झलकती है जो साम्प्रदायिकता से भी, जिसका आरोप वे हिन्दू महासभा पर लगाते हैं, बुरी है। उन्होंने याद कराया कि प्रजा सोशलिस्ट पार्टी उन्हें तथा उनके जनसंघ को भी चुनाव के दिनों में साम्प्रदायिक तथा प्रतिक्रियावादी कहकर मिथ्या प्रचार करती रही है, परन्तु अब वे उन्हें तथा उनकी पार्टी को राष्ट्रीय तथा प्रगतिशील मानने के लिए तैयार हैं। यही हिन्दू महासभा के विषय में भी हो सकता था। उन्होंने सुझाव दिया कि न्यूनतम कार्यक्रम बनाया जाए। जो सांसद उस कार्यक्रम को स्वीकार करें वे संयोजन में लिए जाएँ, दूसरे अपने आप ही निकल जायेंगे।

किन्तु प्रजा सो. पार्टी के नेता अपनी पार्टी के अन्दर ही हिन्दू महासभा के साथ किसी भी रूप में सम्बद्ध होने की संभावित प्रक्रिया से आशंकित थे। अत: उन्होंने हिन्दू महासभा के बहिष्करण का ही आग्रह किया। संभवत: वे डॉ. मुकर्जी को समझे नहीं थे। वे व्यक्तिगत गौरव की अपेक्षा सिद्धान्त को अधिक मूल्य देते थे। उन्होंने प्र. सो. पा. के प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया।

डॉ. श्यामाप्रसाद के निर्णय से कई लोगों को बहुत दु:ख हुआ। वे सोचते थे कि लोकसभा में जनसंघ तथा प्र. सो. पा. के मिलने का परिणाम यह होता कि बाहर भी इन दोनों पार्टियों का मेल हो जाता और ये एक-दूसरे की आदर्श-पूरक होतीं। उनके विचार से देश की चिरयुगीन संस्कृति के प्रति निष्ठा पर आधारित जनसंघ की शुद्ध राष्ट्रीय तथा प्र. सो. पा. के आर्थिक कार्यक्रम के यथोचित तालमेल से देश में सचमुच एक लोकप्रिय तथा प्रभावी विरोधी दल बन जाता। वे यह नहीं सोचते थे कि प्र. सो. पा. एक खिचड़ी पार्टी है जिसमें सीमान्ती मार्क्सवादी वामपन्थियों के साथ-ही-साथ

श्री जयप्रकाश नारायण जैसे गम्भीर राष्ट्रवादी भी थे जो देश के जीवन में उनकी संस्कृति तथा आध्यात्मिक तत्त्वों की उपादेयता महसूस करने लगे थे। अतएव इस पार्टी के साथ तब तक कोई स्थायी सम्बन्ध बनने की सम्भावना नहीं थी जब तक कि इसकी अपनी रूपरेखा संशोधित नहीं हो जाती और कांग्रेस तथा साम्यवादी दल से पृथक् इसकी कोई विचारधारा नहीं बन पाती।

नई लोकसभा के पहले ही सत्र में, जो 11 मई, 1953 को प्रारम्भ हुआ था, यह स्पष्ट हो गया कि डॉक्टर मुकर्जी अपनी पार्टी की सदस्य-संख्या से निरपेक्ष संसद में विरोधी पक्ष के सर्वप्रमुख नेता हैं। साम्यवादी दल सहित सभी विरोधी पक्षों के लोग डॉक्टर साहब से मार्गदर्शन की अपेक्षा रखते थे। वे सब उन्हें अपना प्रमुख प्रतिनिधि मानते और उन्होंने एक तरह से उन्हें विरोधी दल की ओर से सभी प्रमुख प्रश्नों सम्बन्धी विवादों में विरोधी पक्ष की ओर से बोलने का अधिकार दे दिया था। केवल विरोधी ही नहीं, अपितु सत्तारूढ़ दल भी उन्हें गैर-सरकारी विरोधी नेता मानने लगा था। अपनी संसदीय योग्यता, धारा-प्रवाह वाग्मिता, देश की सभी समस्याओं पर गहन सूझबूझ तथा निर्माणात्मक दृष्टिकोण और लोकसभा के बाहर जनमत पर प्रभाव के कारण सच्चे अर्थ में वे सरकार के प्रजातान्त्रिक विपक्षी नेता बन गए थे। बहुत-से कांग्रेसी सदस्य भी हृदय से देश की समस्याओं के प्रति उनके विचारों को मानते थे।

डॉ. मुकर्जी जिस योग्यता से अपनी नीतियों का प्रतिपादन करते थे, साथ ही जिन नीतियों को वे देश के लिए घातक और त्रुटिपूर्ण समझते थे, उनकी जिस निर्भीकता के साथ स्पष्ट तथा तीक्ष्ण आलोचना करते थे, इसके कारण कई कांग्रेसी सदस्य भी हृदय से उनका आदर करते थे, मन्त्रिमण्डल के लोग भी उनके गहन अध्ययन तथा लोकसभा में समस्याओं पर प्रकाश डालने की विलक्षण पद्धति के कारण उनके प्रति यथेष्ट आदरभाव रखते थे। वे अनजाने में ही व्यक्तित्व तथा राजनीतिपटुता की दृष्टि से उन्हें अपने से उच्चतर समझने लगे थे। कई मन्त्री मंत्रिमण्डल में उनके कार्य तथा योग्यता से परिचित थे। जिस सरलता और तत्परता से वे उनकी युक्तियों का खण्डन करते थे, इससे वे उनसे भय भी खाते थे।

प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू ही एकमात्र ऐसे व्यक्ति थे जो उन्हें अपना समतुल्य समझते थे। उन्होंने मंत्रिमंडल के अन्दर और बाहर उनकी कार्यपटुता को देखा था। वे उनकी निर्दोषता, अदम्य स्वाधीन चेतना, हृदय की महत्ता, सौजन्यपूर्ण व्यवहार और इसमें भी बढ़कर उनके उच्च मनस्तत्त्व तथा संसदीय क्षमता से पर्याप्त प्रभावित थे, किन्तु पंडित जी ने राष्ट्रीय समस्याओं पर उनके नव्य यथार्थवादी तथा व्यावहारिकता-सम्मत विचारों को कभी पसन्द नहीं किया, क्योंकि वे स्वयं घोर काल्पनिक तथा अयथार्थपूर्ण दृष्टिकोण के थे।

अपने तारुण्य-काल में पंडितजी ऐसे वातावरण में पले थे जहाँ बड़े और छोटे,

सभी जन उनकी सनक और इच्छा-अनिच्छा के सम्मुख मूक भाव से झुक जाया करते थे। इसी कारण उनमें आलोचना के प्रति असहिष्णुता तथा तीव्र व्यक्तिगत औचित्य (मसतिपहीजमवनेदमे) की भावना पनप गई थी। सरदार पटेल की मृत्यु के बाद उनकी यह प्रवृत्ति और बलवती हो गई थी। इस विचार से कि आम चुनाव में मुख्यतया उनके कारण ही कांग्रेस को सफलता मिली है, वे मन-ही-मन और फूल गये थे। मंत्रिमंडल अथवा कांग्रेस पार्टी में कोई भी ऐसा व्यक्ति न था जो उनसे समानता का दावा कर सकता। यथार्थ तो यह है कि वे एक प्रकार से सर्वेसर्वा ही बन गये थे।

लोकसभा में डॉ. मुकर्जी ही ऐसे व्यक्ति थे जो उनके मुख पर ही न केवल उनकी गलती बताते वरन् उनके तर्कों की धज्जियाँ उड़ाकर उनकी आन्तरिक व बाह्य नीतियों के अकाट्य तथ्य तथा आँकड़े प्रस्तुत करके ऐसे अदम्य साहस के साथ आलोचना करते कि पण्डित नेहरू अपने अंधानुयायियों के समक्ष मानो सिर के बल गिर पड़ते। इसकी पंडितजी पर बड़ी कटु प्रतिक्रिया हुई। डॉ. मुकर्जी द्वारा प्रस्तुत तथ्यों और युक्तियों का खण्डन करने के लिए तथ्य व युक्तियाँ ढूँढने में असमर्थ पं. नेहरू का पारा चढ़ जाता, जिसके फलस्वरूप उनमें और डॉ. मुकर्जी में बार-बार संसदीय झड़पें होतीं जिनमें हमेशा पं. नेहरू को नीचा देखना पड़ता। अपने व्यवहार से पंडित जी ने डॉ. मुकर्जी को सहज ही लोकसभा में अपना प्रमुख विपक्षी तथा देश के सामने अपना पूरक मान लिया था।

पं. नेहरू प्रत्येक आलोचना को द्वेषजन्य समझते थे। उनकी यह क्षोभजनक प्रवृत्ति डॉ. मुकर्जी से छिपी नहीं थी। वे जानते थे कि विरोधी दल के प्रति यह प्रवृत्ति प्रजातन्त्र के लिए हानिकारक और देश के लिए विपत्तिजनक है। अतएव 21 मई, 1952 को अध्यक्षीय भाषण पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने नई लोकसभा में अपने पहले वक्तव्य में संवेदन और भावपूर्ण शब्दों में विरोधी पक्ष के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण अपनाने का आग्रह किया। उन्होंने कहा-

'पिछले दो दिनों से मैं इस सदन को देख रहा हूँ और मैंने यह महसूस किया, जैसा सदन के अन्य सदस्यों ने भी किया होगा, कि हम यहाँ स्वाधीन भारत के मनस्तत्त्वों का दर्शन कर रहे हैं। हम वयस्क मताधिकार द्वारा भारत के विभिन्न अंचलों से चुने गए प्रतिनिधि नर-नारी हैं और हम विभिन्न विचारधारा तथा विभिन्न दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करते हैं, किन्तु मैं जानता हूँ, सबके हृदयों में एकमात्र यही भावना है कि हम अपनी स्वतन्त्रता को किस तरह सार्थक बनाएँ और भारत के लाखों प्राणियों के कल्याणार्थ क्रियाशील हों। हम इतिहास का एक महानतम प्रयोग करने जा रहे हैं। हममें से प्रत्येक जन को, चाहे वह किसी भी दल अथवा पार्टी का हो, चाहे वह स्वाधीन या पराश्रित हो, देश की समस्याओं के प्रति, पारस्परिक मतवैषम्य को सहन करते हुए एक विशाल दृष्टिकोण लेकर, कठिनाइयों को दूर करने के लिए कटिबद्ध

होकर ऐसे निर्णय करने चाहिएं जो देश के हित में हों। अगर हम अपने विचार-वैषम्य में कोई सामंजस्य न ला सके, अगर यह महान् प्रयोग असफल हुआ, अगर हम पुरानी प्रथा के अनुसार बहुसंख्या की अत्याचारी-वृत्ति को अथवा आत्म-केन्द्रित तानाशाही को लेकर चले, अगर हम यह न समझे कि प्रजातान्त्रिक सरकार को सफलतापूर्वक चलाने के लिए विभिन्न दृष्टिकोणों का सांमजस्य एक अत्यावश्यक माध्यम है, अगर ऐसा न हुआ तो इसका परिणाम घोर अव्यवस्था के रूप में होगा। लोग विवशता तथा निराशा की भावनाओं से कुण्ठित होंगे और स्थिति किसी के भी सँभाले न सँभलेगी।'

अगर सत्तारूढ़ पार्टी ने डॉ. मुकर्जी के दूसरों के विचारों के प्रति सहनशील होने के व्यग्र अनुरोध पर लेशमात्र भी ध्यान दिया होता, तो कई उत्पीड़नमयी घटनाएँ हर्गिज़ न घटतीं और सम्भवत: डॉ. मुकर्जी भी अनेक वर्षों तक मातृभूमि की सेवा करने के लिए काल के ग्रास न बना दिए जाते।

इस प्रथम भाषण में डॉ. मुकर्जी ने देश की सभी तत्कालीन ज्वलन्त समस्याओं और प्रश्नों पर संक्षिप्त विचार प्रकट करते हुए कहा कि इन समस्याओं तथा प्रश्नों को महज़ दलगत बनाकर नहीं, अपितु राष्ट्रीय प्रश्न मानकर सबके सहयोग से सुलझाने का उपक्रम करना चाहिए। उनके विचार से खाद्यान्न की समस्या देश की प्रमुख समस्या है। उन्होंने सरकार से आग्रह किया कि वे इस प्रश्न को प्राथमिकता दें ताकि कोई भी भुखमरी से काल-कवलित न हो। उन्होंने सरकार को यह चेतावनी दी कि इस समस्या को सुलझाने में अगर वह असफल रहेगी तो परिणाम विपज्जनक होगा, क्योंकि जनता में राजनीतिक चेतना पनप चुकी है और वह किसी भी ऐसी सरकार को कदापि सहन न करेगी जो उनके लिए भोजन, वस्त्र व आवास की आधारभूत आवश्यकताएँ पूरी न कर सके।

जनता के प्रति डॉ. मुकर्जी की सहानुभूति शाब्दिक ही न थी। उनके हृदय में उत्पीड़न को, चाहे वह कहीं भी हो, नष्ट करने की व्यग्रता थी। उन्होंने एक व्यावहारिक सुझाव दिया जो अगर मान लिया जाता तो लोकसभा के पाँच सौ सदस्य पीड़ित देशवासियों के दु:ख व कठिनाइयों में सचमुच हाथ बँटाते। उन्होंने कहा,'अभी हमें चालीस रुपये दैनिक मिलते हैं। इसमें हम स्वेच्छा से दस रुपये दैनिक की कटौती करा लें और इस रकम को अकालपीड़ित स्त्रियों और बच्चों के लिए ऐसे घर खोलने के निमित्त व्यय किया जाए जहाँ उन्हें आश्रय व भोजन मिले।'

बढ़ते हुए जातिवाद, प्रान्तीयवाद तथा साम्प्रदायिकता से उत्पन्न खतरों को उन्होंने राष्ट्रीय-एकता के लिए अत्यन्त घातक बनाते हुए संसद का ध्यान उनकी ओर विशेष रूप से आकर्षित किया। उन्होंने इस बात का आग्रह किया कि इनके कारणों की जाँचकर उन्हें दूर करने का प्रयत्न किया जाए। उन्होंने जोर देकर कहा कि 'अध्यक्षीय भाषण में जिस साम्प्रदायिकता, जातिवाद तथा प्रान्तीयतावाद की निन्दा की गई है,

कांग्रेस पार्टी ने स्वयं चुनाव जीतने के लिए प्रत्येक सुविधाजनक स्थान पर उसी को बढ़ावा दिया है। यह अत्यन्त क्षोभजनक तथ्य है।' उन्होंने सत्ताधीश व्यक्तियों से अनुरोध किया कि वे इस ओर अपने व्यवहार से उदाहरण उपस्थित करें।'

उन्होंने जम्मू और कश्मीर की समस्या का भी, जो भारत की एकता और अखण्डता को चुनौती दे रही थी, जिक्र किया।

उन्होंने प्रधानमंत्री से कश्मीर में पनपने वाली भारत-विरोधी शक्तियों पर जो शेख अब्दुल्ला की इस घोषणा से प्रकाश में आईं कि 'भारतीय लोकसभा का कश्मीर रियासत पर कोई अधिकार नही है', गम्भीरता से विचार करने का अनुरोध किया। इस अपील पर ठंडे दिल से विचार करने की बजाय पं. नेहरू ने यह कहकर कि 'मैं कश्मीर के सम्बन्ध में डॉक्टर मुकर्जी से अधिक जानता हूँ', अपनी अहंकारी वृत्ति का परिचय दिया।

डॉ. मुकर्जी ने इसके प्रत्युत्तर में जो कहा उससे उनकी मानसिक दृढ़ता और पंडित नेहरू के पृष्ठपोषण से कश्मीर में शेख अब्दुल्ला की नीतियों के भयप्रद निरावरण के साथ-साथ दाँव पर लगाए जाने वाले देश के हितों की रक्षा में कटिबद्ध रहने का उनका ध्रुव निश्चय झलकता था।

डॉ. मुकर्जी ने कहा, 'मुश्किल तो यह है कि प्रधानमंत्री संसार-भर में किसी भी वस्तु के विषय में किसी से भी अधिक जानते हैं और इसीलिए वे किसी का सत्परामर्श कभी स्वीकार नहीं करेंगे। इस रवैये के साथ कहीं भी संसदीय काम कैसे चल सकता है? अगर मैं कोई सुझाव दूँ, तो वे कहते हैं कि मैं तुमसे अधिक जानता हूँ। निश्चय ही वे ज्यादा जानते हैं, किन्तु मैं कुछ सुझाव दूँगा, उनके सम्मुख कुछ दृष्टिकोण रखूँगा जिन पर उन्हें विचार करना ही होगा।'

'मैं जानना चाहूँगा', वे कहते गए, 'कि कश्मीरी भारतीय पहले हैं और कश्मीरी बाद में, अथवा वे कश्मीरी पहले हैं और भारतीय बाद में, या वे पहले, पीछे और सर्वदा कश्मीरी ही हैं और भारतीय बिल्कुल नहीं? यह एक बहुत महत्त्वपूर्ण बात है जिसका हमें फैसला करना ही होगा।' इस तरह उन्होंने कश्मीर की समस्या प्रधानमंत्री और लोकसभा के समक्ष इस ढंग से रखी कि उनके लिए इस पर विचार करना अनिवार्य हो गया।

उन्होंने पूर्वी बंगाल के हिन्दुओं की समस्या का भी जिक्र किया जो पुनः गम्भीर हो गई थी। डॉ. मुकर्जी को इसकी हमेशा चिन्ता रहती थी। उनकी सूचना के अनुसार हिन्दू बड़ी संख्या में पूर्वी बंगाल से निकल रहे थे। इसके एक दिन पहले पंडित नेहरू ने अपने भाषण में कहा था कि यद्यपि समाचार-पत्रों में यह खबर है कि हिन्दू निकल रहे हैं तथापि उनकी संख्या विशेष अधिक नहीं है। डॉ. मुकर्जी को इस पर आश्चर्य होना स्वाभाविक ही था। उन्होंने कहा कि नाजुक मौकों पर स्थिति की गम्भीरता और

तत्कालिकता (Urgency) को महसूस न करने के कारण ही उस क्षेत्र के अनेक लोगों को जीवन-प्रतिष्ठा और सुरक्षा से हाथ धोना पड़ा है। उन्होंने अनुरोध किया कि उस गलती को फिर न दुहराया जाए।

इस कथन से पंडित नेहरू क्रोध में आ गए और दोनों में ऐसा वाद-प्रतिवाद चला जो डॉ. मुकर्जी के जीते-जी भारतीय लोकसभा का एक नियमित व आकर्षक प्रसंग बना रहा। इसमें इन दोनों के व्यक्तित्व, स्वभाव तथा दृष्टिकोण का सुन्दर परिचय मिलता है।

पं. नेहरू—'क्या मेरा कथन गलत था?'

डॉ. मुकर्जी—'गलत है। प्रधानमंत्री दूसरों की रिपोर्टों के भरोसे रहने के बजाय...'

पं. नेहरू—'अगर मैं अभी तथ्य और आँकड़े प्रस्तुत कर दूँ तो?'

डॉ. मुकर्जी—'प्रधानमंत्री का वक्तव्य और दृष्टिकोण बिल्कुल गलत है। यह तो वस्तुतथ्य को प्रमाणित करने की बात है। मैं कहता हूँ कि यह प्रमाण प्रस्तुत करने की बात है? उन्हें सरकारी सूत्रों से कुछ आँकड़े अवश्य प्राप्त हुए होंगे। इसके लिए मैं उन्हें दोष नहीं दे सकता, परन्तु यदि एक सदस्य कहता है कि मुझे यह सूचना मिली है कि लोगों का निकास जारी है, तो एक उत्तरदायी प्रधानमंत्री का यह कर्त्तव्य है कि उठकर कहे, 'हम उस पर विचार करेंगे और देखेंगे कि यह कैसे रोका जा सकता है।'

पं. नेहरू—'माननीय सदस्य मेरे वक्तव्य को चुनौती दे रहे हैं।'

डॉ. मुकर्जी—'मैं ऐसा नहीं कर रहा हूँ।'

पं. नेहरू—'मैं उन्हें उनके कथन को साबित करने की चुनौती देता हूँ और मैं अपना कथन साबित करूँगा।'

डॉ. मुकर्जी—'यह चुनौती और प्रति-चुनौती का क्रम सत्र भर चलता ही रहेगा।'

और यह डॉक्टर मुकर्जी के शेष जीवन-पर्यन्त चलता ही रहा।

26 मई, 1952 को रेलवे बजट पर डॉक्टर साहब का भाषण विशेष महत्त्वपूर्ण था। जिस तरह रेलवे का, विशेषकर ईस्ट इण्डिया रेलवे के कुछ हिस्सों का, पुनर्गठन किया गया और जिसके पूर्व योजना के विपरीत इसके मुख्यालय को कलकत्ते से हटाने की बात थी, वे इसके पक्ष में नहीं थे। इस प्रश्न पर पूर्ण बंगाल क्षुब्ध हो गया था। डॉ. मुकर्जी के आदेश पर इस निर्णय के विरुद्ध अपना विरोध प्रदर्शन करने के लिए कलकत्ता में एक दिन की हड़ताल भी हुई थी। अपनी युक्ति-युक्त और न्यायपूर्ण वक्तृता में डॉ. मुकर्जी ने दर्शाया कि किस तरह प्रान्तीय स्तरों पर कांग्रेस उच्च-पदस्थ लोगों के आग्रह-प्रत्याग्रह (Pulls & Counter Pulls) के फलस्वरूप दक्ष लोगों द्वारा बनाई मौलिक योजना में उलट-फेर किया गया है। सरकार से उनका अनुरोध

था कि कृपा कर दक्ष लोगों के कमीशन द्वारा वस्तुस्थिति की जाँच करवाइए। ऐसा करने में वे कोई संकीर्ण प्रान्तीयता की भावना से अनुप्रेरित नहीं थी वरन् वे चाहते थे कि शासन योग्यतापूर्वक सम्पादित हो और निम्न वेतन-भोगी कर्मचारी यथासम्भव स्थानान्तर के कष्ट से बचाए जाएँ।

वे सत्ताधीश लोगों में बढ़ते हुए आत्मपरितोष से भी दु:खी थे। इन लोगों को इस बात की परवाह नहीं थी कि उनके देशवासी उनकी नीतियों के प्रति क्या सोचते हैं, वे तो विदेश से आने वाले व्यक्तियों द्वारा अपनी स्वार्थ-सिद्धि की दृष्टि से दिए गए पत्रों को ही अधिक महत्त्व देने लग पड़े थे।

देश की खाद्यान्न समस्या की उन्हें विशेष चिन्ता थी। उन्होंने 4 जून को आम बजट पर बोलते हुए अपने भाषण में जन-साधारण की आवश्यकताओं पर दृष्टिपात करने का करुण अनुरोध किया। यह भाषण लोकसभा में उनके सर्वोत्तम भाषणों में से है। उन्होंने कहा—

'कल ही प्रधानमंत्री ने कहा था कि भारत में आने वाले विदेशी, हमारी सरकार ने जो कुछ किया है उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा कर रहे हैं। सरकार ने निस्सन्देह कुछ कार्य किया है और इसका श्रेय भी है, किन्तु हमें केवल यह नहीं देखना है कि श्रीमती रूज़वेल्ट, श्री बर्ट्रेण्ड रसेल या अन्य किसी भद्र महिला ने हमारे प्रति क्या कहा है हमें यह देखना है कि हमारे अपने लोगों की हमारे प्रति क्या धारणा है। अगर आप लोगों को किसी उचित दर पर खाद्यान्न देने में असमर्थ हैं, अगर हमारी वसुन्धरा रोग और दरिद्रता से आक्रान्त है, तब सरकार के रूप में आपके अस्तित्व का विलोप हो जाएगा। यह कोई धमकी की बात नहीं है, अपितु यह एक ऐसा प्रश्न है जिस पर दलगत राजनीति से ऊपर उठकर ही विचार करना चाहिए। यदि आप खाद्यान्न समस्या को सुलझाने और जन-साधारण के लिए आर्थिक स्थिरता लाने में असमर्थ रहे तो हमारी सभी बड़ी-बड़ी योजनाएँ धरी-की-धरी रह जाएंगी और कोई उनको याद भी न करेगा। आपको अपनी योजनाओं को फलीभूत बनाने के लिए जनता का पर्याप्त समर्थन प्राप्त न हो सकेगा। अतएव मैं कहता हूँ कि जहाँ तक वर्तमान बजट का प्रश्न है, इससे हमारे कुशल वित्तमंत्री की क्षमता का परितोष चाहे होता हो, किन्तु यदि आप किसी ऐसे बजट की कल्पना करते हैं जो आशा और आह्लाद का सन्देश देता हो, जिसमें सभी वर्गों के लोगों को समान रूप में त्याग करने की प्रेरणा हो, जिसमें प्राथमिक आवश्यकताओं और अभावों को दूर करने की सुनिश्चित योजना हो, तब यह बजट बुरी तरह फेल हो जाता है।'

डॉ. मुकर्जी देश तथा जनहित के प्रमुख प्रश्नों पर तत्परतापूर्वक व्यावहारिक निर्णय कर उन्हें क्रियान्वित करने के पक्ष में थे। भाषा के आधार पर राज्यों के पुनर्गठन पर उनके विचार उनके इस मनस्तत्व का सुन्दर उदाहरण है। 7 जुलाई, 1952 को

लोकसभा में भाषावार राज्यों के प्रस्ताव पर बोलते हुए उन्होंने प्रधानमंत्री से आग्रह किया था कि वे वस्तुस्थिति को स्वयं चालित होने की अपेक्षा उसे अपने हाथों में लें। उन्होंने कहा—

'वस्तुस्थिति के बदतर होने के पहले मैं इस सदन से याचना करता हूँ कि इस प्रश्न पर विचार होना चाहिए। शुतुमुर्ग जैसी आँखें मूँद लेने की नीति रखकर यह सोचने में कि सब ठीक चल रहा है, कोई लाभ नहीं है। अगर आप कहते हैं कि किसी भी कारण हम प्रान्तीय सीमाओं पर पुनर्विचार नहीं करेंगे और अगर यह सरकार की नीति है तो इसकी घोषणा कर प्रतिक्रिया का सामना कीजिए। यदि आपने कांग्रेस की पिछले 35 वर्षों से लगातार की जाने वाली घोषणा के अनुसार प्रान्तों का पुनर्गठन करना हो तो इस कार्य को विभिन्न पार्टियों के हाथ में छोड़ने के बजाय स्वयं अपने हाथों में लीजिए। मेरी पं. जवाहरलाल नेहरू से यह प्रार्थना है कि वे मामले को अपने हाथों में लें, एक कमीशन तथा परामर्शदाता नियुक्त करें अथवा सम्बन्धित अंचलों में प्रमुख प्रतिनिधियों की गैर-सरकारी सभा बुलाकर समस्या को हल करने के लिए ऐसा निर्णय करें जो सभी को सहज ही मान्य हो। यह कोई कांग्रेस के पक्ष या विपक्ष की ओर से वाद-विवाद का प्रश्न तो है नहीं। यह तो एक सर्वप्रथम सुलझाने योग्य राष्ट्रीय प्रश्न है, जिसका पार्टी के स्तर पर नहीं अपितु राष्ट्रीय स्तर पर ही समाधान होना चाहिए।'

डॉ. मुकर्जी के व्यावहारिक विवेक से परिपूर्ण ये शब्द बहरे कानों में न पड़े। सत्तारूढ़ों ने परिस्थिति को अपनी चाल ही चलने दिया जब तक कि पोट्टी श्री रोमुलु की आहुति तथा अनुशासनहीनता तथा विनाश की बढ़ती हुई लहर ने उन्हें विवश न कर दिया। सरकार ने आखिरकार समस्त देश में राज्यों के पुनर्गठन पर विचार करने के उद्देश्य से जो उच्च-शक्ति-सम्पन्न कमीशन नियुक्त किया वह डॉ. मुकर्जी की यथार्थवादिता एवं राजनीतिचातुर्य का ज्वलन्त प्रमाण है।

2 अगस्त को उन्होंने निवारक नज़रबन्दी विधेयक पर जो भाषण दिया वह उनके सत्र-भर के भाषणों में सर्वश्रेष्ठ था। इससे साम्यवादियों सहित सभी विरोधी दल उनकी छत्रछाया में आ गए और गृहमन्त्री डॉ. काटजू जो उस विधेयक के सूत्रधार थे, को चारों खाने चित होना पड़ा।

डॉ. मुकर्जी के हृदय में प्रजातन्त्र और स्वतन्त्रता के लिए जन्मजात प्रेम था, इसलिए बिना अभियोग के ही किसी को बन्दी बनाने के सिद्धान्त के वे कट्टर विरोधी थे। तरुणावस्था से ही डॉ. मुकर्जी ने अपने सम्मुख तीन महान् उद्देश्य रखे थे जिनमें से पहला अपने देशवासियों की नागरिक स्वाधीनता की रक्षा करना था; दूसरा कलकत्ता विश्वविद्यालय में बी.ए. के बाद की शिक्षा की पुनर्व्यवस्था करना था, जिसे सर आशुतोष अधूरा ही छोड़ गए थे, और तीसरा था—अपने स्मरणीय पिता की जीवनी

लिखना। इसे उन्होंने कश्मीर में बन्दी-अवस्था में लिखना शुरू किया था, किन्तु क्रूर काल ने उसे पूरा न करने दिया।

मंत्रीकक्ष (Treasury Benches) को इस बात पर बहुत आश्चर्य और क्रोध होता था कि डॉ. मुकर्जी बिल में सन्निहित सिद्धान्त की भर्त्सना करने के लिए उनके तथा पण्डित मोतीलाल नेहरू के वक्तव्यों और लेखों के समयानुकूल उद्धरण खोज निकालते थे।

उन्होंने बड़ी मार्मिकता से गृहमंत्री काटजू के अपने शब्द, 'अज्ञात और प्रायः निराधार सन्देह के कारण बिना दोषारोपण अथवा अभियोग के बन्दी बनाना प्राकृतिक न्याय तथा सभ्य शासन के सभी नियमों के प्रतिकूल है', दुहराकर उनसे विधेयक वापस लेने का आग्रह किया, किन्तु अपनी पार्टी की बहुसंख्या के मद में सुरक्षित डॉ. काटजू ने उनके सभी तर्कों तथा आग्रहों के प्रत्युत्तर में अपना सिर ही हिला दिया और इस तरह डॉ. मुकर्जी को अपना यह ऐतिहासिक मन्तव्य प्रकट करने का अवसर मिला कि 'वे (डॉ. काटजू) न तो कभी कुछ सीखेंगे, न कुछ स्मरण ही रखेंगे अपितु सबका घोटाला कर देंगे।'

पाँच दिन बाद उन्होंने दूसरा महत्त्वपूर्ण भाषण दिया जो कश्मीर पर था। वह एक अद्भुत भाषण था जिसे भरे हुए सदन तथा अधिकतम संख्या में आए दर्शकों ने 'दत्तचित्त होकर' सुना। उस दिन के दर्शकों में से एक सी.एस.आर. शास्त्री ने पीछे 'मार्डन रिव्यू' (नवम्बर 1952) में लिखा—

'लोकसभा के अन्दर या बाहर मुझे जिन अत्यन्त प्रज्ञापूर्ण भाषणों को सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, वह उनमें से एक था।'

अगस्त, 1952 तक जब कि स्वाधीन भारत की प्रथम निर्वाचित लोकसभा का प्रथम सत्र समाप्त हुआ, डॉ. मुकर्जी को गैर-सरकारी विरोधी नेता के रूप में मान्यता मिल चुकी थी। सत्तारूढ़ पार्टी के ही अधिक नियन्त्रण में रहने वाले समाचारपत्रों ने भी, जो साधारणतया डॉ. मुकर्जी के विरोध में ही थे, इस तथ्य को स्वीकार किया और कई पत्रों ने अग्रलेखों द्वारा इसकी समीक्षा भी की। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण प्रशंसा प्रसिद्ध अंग्रेजी दैनिक टाइम्ज़ ऑफ इण्डिया (Times of India) ने यह लिखकर प्रकट की कि 'सरदार पटेल का कार्यभार अब डॉ. श्यामाप्रसाद मुकर्जी पर आ पड़ा है।' डॉ. मुकर्जी की यह बहुत उपयुक्त स्तुति थी, क्योंकि उनका नेहरू सरकार पर वही नियन्त्रक प्रभाव पड़ रहा था जो सरदार पटेल का आजीवन रहा। अनेक राष्ट्रीय समस्याओं पर डॉ. मुकर्जी के विचार सरदार पटेल से बिल्कुल मिलते थे। 26 जून को कश्मीर पर बोलते हुए उन्होंने सरदार पटेल को श्रद्धांजलि देते हुए कहा, 'वे निर्भीक, यथार्थवादी और साहसी थे और परिस्थिति के अनुसार काम करना चाहते थे।'

दोनों ही व्यावहारिक प्रकृति के थे, भारत की धरती से दोनों को वास्तविक अनुराग था और दोनों ने देश के हितों के पीछे यश व अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति को हेय माना मंत्रिमंडल से डॉ. मुकर्जी के त्यागपत्र देने के बाद भी सरदार पटेल पं. नेहरू के साथ काम करते रहे, क्योंकि वे जानते थे कि उनके छोड़ने का अर्थ होगा कांग्रेस का विनाश। जिस संस्थावल्लरी को उन्होंने आजीवन अपने रक्त से सींचा, उसके प्रेम वे कारण ही अपनी प्रकृति के विरुद्ध होकर भी वे पण्डित नेहरू से सम्बद्ध रहे।

दूसरी स्मरणीय श्रद्धाभावना राजधानी से निकलने वाले कांग्रेसी हिन्दी दैनिक 'वीर अर्जुन' के सम्पादक प्रो. इन्द्र विद्यावाचस्पति संसद सदस्य ने व्यक्त की थी। किंचित् विनोदपूर्ण शैली में इन्होंने लिखा कि लोकसभा की इमारतों में विद्यमान सभी जलपान-गृहों के संचालक केवल एक व्यक्ति डॉ. श्यामाप्रसाद से चिढ़ते हैं, क्योंकि जब वे बोलते हैं, तब उनके पास एक भी ग्राहक नहीं रह जाता।

लोकसभा के दूसरे सत्र में, जो उसी वर्ष नवम्बर के प्रारम्भ में शुरू हुआ, डॉ. मुकर्जी की ख्याति और भी बढ़ गई। उन्होंने एस्टेट ड्यूटी बिल, पंचवर्षीय योजना और पूर्वी बंगाल पर तीन महत्त्वपूर्ण भाषण दिए।

उन्होंने एस्टेट ड्यूटी बिल के सिद्धान्त का तो समर्थन किया, किन्तु उन्होंने सरकार से यह माँग की कि वह लोकसभा तथा देश को यह बताए कि वह इससे होने वाली आय को किस तरह खर्च करेगी। उन्होंने कहा, 'हमें सरकार से यह पूछना है कि देश में व्याप्त आर्थिक असन्तोष की खाई भरने के लिए उनके पास कौन से प्रस्ताव हैं?'

16 दिसम्बर, 1952 को पंचवर्षीय योजना पर उनका भाषण इस महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय प्रश्न पर उनकी रचनात्मक समीक्षा का अत्युत्तम उदाहरण है। योजना के सूत्रधारों की हार्दिक सराहना करते हुए उन्होंने तथ्यों और आँकड़ों की सहायता से उसकी त्रुटियों की ओर ध्यान खींचा। उन्होंने कहा कि योजना का आधार अनिश्चित है और इसमें शिक्षा, स्वास्थ्य तथा औद्योगिक आत्मनिर्भरता जैसे मूलभूत 26 प्रश्नों की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया।

उन्होंने योजना के प्रति वांछित उत्साह तथा सहयोग प्राप्ति के प्रश्न की ओर भी सरकार का ध्यान आकर्षित किया, क्योंकि इसके बिना उन्हें योजना की सफलता में सन्देह था। उन्होंने जोर देकर कहा कि जनता का सहयोग केवल तभी मिल सकता है। जब सत्तारूढ़ पार्टी, पार्टी के स्तर पर नहीं, अपितु राष्ट्रीय स्तर पर योजना को हाथ में ले। उन्होंने तीव्र स्वर में कहा, 'यह न कहो कि हमें जनता का सहयोग चाहिए, कि हमने भारत सेवक समाज बनाया है। वास्तव में आप इसे 'बेनामी' कांग्रेस शो के रूप में बढ़ाते चले आ रहे हैं। इसे दलगत आधार पर बढ़ने देना गलत है।'

उन्होंने आगे कहा, 'जनता का सहयोग पाने के लिए कुछ आवश्यक शर्तें पूरी

करनी होंगी। अगर आप यह निश्छल आह्वावान करते हुए आयेंगे कि आप सचमुच ऐसी अर्थनीति बनाना चाहते हैं जिससे केवल कुछ ही लोगों को लाभ पहुँचे या कृपा-पात्रों के हित की न होकर अभाव ग्रस्त-दलित लाखों लोगों के हित की होगी, जो कागज पर ही नहीं वरन् व्यवहार में होगी, अगर आप जनता के पास ऐसा कोई सन्देश ले जायेंगे तो जनता स्वयं आपको सहयोग देगी।'

उन्होंने आगे कहा, 'हम आपको सहयोग देने के इच्छुक हैं। हम कोई आमने-सामने बैठे हुए एक-दूसरे के शत्रु नहीं हैं। अगर आप देश की हित-कामना करते हैं तो हमारी भावनाएँ भी उमड़ती हैं। हम जानते हैं कि देश का विकास होना चाहिए। हम जानते हैं कि बिना आर्थिक स्वाधीनता और सामाजिक समता के राजनीतिक स्वाधीनता निरर्थक और विफल होगी, किन्तु हम पार्टी के आधार पर आगे न बढ़ें। हममें सहिष्णुता तथा दूसरे के दृष्टिकोण को सराहने की क्षमता होनी चाहिए। यदि हममें से कोई आपसे सहमत नहीं है तो तत्काल ही यह न सोच लीजिए कि हम गद्दार हैं, देश के दुश्मन हैं। हम यहाँ देश की सेवा करने के निमित्त ही एकत्र हैं और इसी भावना से मैं यह सब कह रहा हूँ।'

दुर्भाग्य से देश-कल्याण के उपयुक्त इस उच्च आदर्शवाद और समर्पण की भावना को आदर्शवादी प्रधानमंत्री पं. नेहरू का सहयोग न मिला, जो या तो व्यक्तिगत या पार्टीगत रूप से ही कुछ सोचते और व्यवहार करते थे या अन्तर्राष्ट्रीय रूप से। उन्होंने विशुद्ध राष्ट्रवादी रूप से शायद ही कभी कुछ सोचा है।

1953 में लोकसभा के बजट-सत्र के समय इस महान् संसद-शिष्ट के संसदीय जीवन का अन्तिम कार्य पूरा हुआ। इस समय उनका मस्तिष्क जम्मू और कश्मीर की समस्या में ही पूरी तरह उलझा हुआ था। उनका हृदय भर आया था और प्रताड़ित जम्मूवासियों की यातना की खबरों से वे अत्यन्त व्यथित हो उठे थे। वे इस प्रश्न का न्यायोचित तथा प्रतिष्ठापूर्ण समाधान ढूँढ निकालना चाहते थे और इस उद्देश्य को लेकर वे पंडित नेहरू से पत्र-व्यवहार भी कर रहे थे। अतएव 14 फरवरी, 1953 को बजट पर बोलते हुए उन्होंने अवसर निकालकर सत्ताधीश व्यक्तियों से इस प्रश्न की ओर 'निरपेक्ष होकर' सोचने के लिए प्रभावपूर्ण आग्रह किया और इस बात का अनुरोध किया कि हम परस्पर एक-दूसरे पर कीचड़ न उछालें। ऐसा करने के और अवसर भी हो सकते हैं। यदि हम एक बार एक-दूसरे की प्रामाणिकता पर सन्देह न करने का इरादा कर लेते हैं, यदि हम एक बार यह मानकर चलते हैं कि सभी पक्ष शुद्ध भाव से चलते हुए भी एक-दूसरे से सहमत नहीं हैं, केवल तभी एक उचित और न्यायपूर्ण निष्कर्ष पर पहुँचना सम्भव हो सकेगा।'

पं. नेहरू द्वारा उन पर, उनकी पार्टी तथा प्रजा-परिषद् पर किए गए साम्प्रदायिकता के दोषारोपण का जिक्र करते हुए उन्होंने प्रधानमंत्री से निवेदन किया कि भ्रामक

दोषारोपण करने की अपेक्षा वे सप्रमाण यह बतलाएँ कि उनमें और उनकी पार्टी के दृष्टिकोण में कौन-सा साम्प्रदायिक तत्त्व है?

'मैं जानता हूँ', उन्होंने जोश से कहा, 'प्रधानमंत्री हम सब पर साम्प्रदायिकता का अपराध लगाते हैं। वे जब किसी युक्ति का उत्तर नहीं दे पाते तो उनके पास एक यही चारा रहता है। इस निराधार दोषान्वेषण में मैं अधीर हो रहा हूँ और मैं इस बात के लिए बिल्कुल तैयार हूँ कि एक दिन नियत करके इस विषय पर विवाद कर लिया जाए कि देश में साम्प्रदायिकता है या नहीं और यदि है तो इसे कौन-सा राजनीतिक दल बढ़ावा दे रहा है। सरकार अपने इलजाम सामने रखे और हमें उसका उत्तर देने का अवसर मिले। हम इस देश में साम्प्रदायिकता को बिल्कुल पसन्द नहीं करते। हम धर्म अथवा जाति किसी की भी आड़ में यह पसन्द नहीं करते कि भारतवासियों का एक फिरका दूसरे फिरकों से घृणा करे। हम ऐसे समाज का निर्माण करना चाहते हैं जहाँ विभिन्न धर्मों के लोग बराबर के नागरिक बनकर रहें और बराबरी के अधिकारों से सम्पन्न हों।

'अगर ऐसा कोई विचार हो कि हम जो कुछ कहते हैं, उसके विपरीत कार्य करते हैं, तो इसे परोक्षतया कहने की अपेक्षा आपकी इच्छा हो तो हम सब, जिनके विरुद्ध ऐसे आरोप लगाए गए हैं, निजी रूप में मिलकर निर्णय कर लें। हम इस देश के शत्रु नहीं है। आपसे सहमत न होने के कारण मात्र से हम देशद्रोही नहीं बन गए। कोई व्यक्ति किस पार्टी-विशेष से सम्बन्धित है, यह कोई बड़े महत्त्व की बात नहीं हैं हममें से एक जन भी यहाँ राज्य को जान-बूझकर नुकसान पहुँचाने के लिए नहीं बैठा है। इसलिए सरकार यदि कोई आरोप-पत्र लेकर सामने आती है तो यह आवश्यक है कि वह सचमुच का आरोप-पत्र हो और हम एक-दूसरे का दृष्टिकोण समझने की कोशिश कर सकें। हममें मतभेद हो सकता है पर हम परस्पर कीचड़ उछालना छोड़कर सौजन्यतापूर्वक मतभेद को स्वीकार करें। केवल कीचड़ उछालना हमें कहीं नहीं ले जा सकता।'

उन्होंने डोगरा लोगों को दबाने और उनकी मिथ्या निन्दा करने की निरर्थकता पर भी सदन का ध्यान आकर्षित किया।

उन्होंने कहा, 'आप डोगरा लोगों का नाश करने में समर्थ नहीं होंगे। मैंने उनमें कुछ को देखा है। वे उत्तम लोग हैं। उन्हें देखकर मेरी आँखें भर आईं। वे अब तक हिंसा के समर्थक नहीं बने हैं। मैंने उन्हें यह परामर्श दिया है कि वे अगर कोई भी आन्दोलन या विरोधात्मक प्रदर्शन करना चाहते हैं तो उसे अहिंसा के आधार पर ही करें, और इस तरह आप जनता की सहानुभूति तथा सहयोग भी खो बैठेंगे। यह तो एक नागरिक अधिकार का प्रश्न है, उनके जीवन और मरण का, उनके अस्तित्व का प्रश्न है। उन पर विश्वास कीजिए। मैंने पं. प्रेमनाथ डोगरा को देखा है और मुझे यह मानने

में संकोच नहीं है कि मैं हृदय से उनका आदर करता हूँ। मुझे जीवन में कई लोगों का सम्पर्क मिला है। कई ऐसे लोग हो सकते हैं जो प्रेमनाथ डोगरा से अच्छे या बुरे या महत्तर हों, परन्तु वे एक देशभक्त नागरिक और चुपचाप दुःख सहने वाले हैं। वे एक ऐसे नेता हैं जो अपना सन्तुलन नहीं खोते।'

अपनी इस स्मरणीय वक्तृता की समाप्ति के समय उन्होंने प्रश्न को शान्तिपूर्वक सुलझाने का पुनः निवेदन किया। वे बोले, 'अभी भी प्रधानमंत्री से मेरी प्रार्थना है कि वे बीती बातों को भूलकर बात करें। मैं एक क्षण के लिए भी सरकार को नीचा दिखाने की बात नहीं सोचता, क्योंकि सरकार तो मेरी अपनी ही है जिसे मेरे देशवासियों ने चुना है। यह न तो कोई पारस्परिक हीन भाव जतलाने का प्रश्न है और न ही एक-दूसरे को मात देने की बात है। यह तो एक राष्ट्रीय महत्त्व के प्रश्न को सुलझाने की बात है जिससे गम्भीर समस्याएँ उत्पन्न हो सकती हैं और भारत के कई भागों की शान्ति और प्रसन्नता का नाश हो सकता है। मैं प्रधानमंत्री से प्रार्थना करता हूँ कि वे समय रहते स्थिति को सँभालने का यत्न करें, कहीं ऐसा न हो कि फिर अवसर न आए।'

जम्मू की वास्तविक परिस्थिति से अनभिज्ञ होने तथा कई भ्रामक धारणाओं के कारण पं. नेहरू को ऐसे तर्क और अनुनय सुनकर रोष हो आता था। वे श्यामाप्रसाद के तर्कों और तथ्यों का प्रतिवाद करने में असमर्थ होकर लाल-पीले हो जाते थे।

अपने भाषण के अन्त में जब डॉ. मुकर्जी ने हाल ही में हुए दिल्ली विधानसभा के चार उपचुनावों का, जिनमें कांग्रेस जनसंघ के हाथों बुरी तरह परास्त हुई थी, उल्लेख किया तब पं. नेहरू गरम हो गए और लोकसभा में उनके और डॉ. मुकर्जी के बीच अन्तिम वाग्युद्ध हो पड़ा।

'प्रधानमंत्री हम पर चाहे कितना ही अविश्वास क्यों न करें और हमारी जन-प्रतिष्ठा के विनाश का प्रयास क्यों न करें, 'डॉ. मुकर्जी बोले, 'मैं उन्हें बतला दूँ कि इस देश पर हमारा भी कुछ प्रभाव है। कुछ दिन पहले ही चुनाव हुए हैं। ये एक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। मैंने स्वयं देखा है कि इन चुनावों में सफलता पाने के लिए सरकारी साधनों का मनमाना उपयोग होता रहा है। प्रधानमंत्री शायद इस बात से अनभिज्ञ हैं कि कितने ही क्षेत्रों में रुपये और शराब का प्रयोग भी किया गया। आप गाँधीवाद की चर्चा तो करते हैं...।'

पं. नेहरू – 'बड़े अशोभनीय तरीके से यह आरोप लगाया गया है।'

डॉ. मुकर्जी – 'मुझे हर्ष है कि प्रधानमंत्री ने इसे अशोभनीय कहा है। ऐसी बातें घटित हों, यह सचमुच अशोभनीय है।'

पं. नेहरू – 'क्या यह उचित है कि इस वादविवाद के बीच माननीय सदस्य ऐसे आरोप लगाएँ? इस तरह की जंगली, अनुत्तरदायित्वपूर्ण तथा निराधार आरोप लगाना माननीय सदस्य के लिए एकदम अशोभनीय

है। इससे उनकी पूरी वक्तृता की भावना प्रकट होती है।'

डॉ. मुकर्जी – 'ठीक, बहुत ठीक।'

पं. नेहरू – 'और उनके पीछे जो मनोवृत्ति और अनुत्तरदायित्वपूर्ण है, वह भी प्रकट है।'

डॉ. मुकर्जी – 'उनके मिजाज से देश में शासन करने की इनकी अक्षमता का ही पता चलता है। हम सत्य पर पर्दा डालने का यत्न न करें।'

पं. नेहरू – 'मैं माननीय सदस्य से पूछता हूँ, उन्हें चुनौती देता हूँ कि पैसे और स्त्रियों के विषय में अपने मंतव्य को सिद्ध करें अन्यथा अपने शब्द वापस लें।'

डॉ. मुकर्जी – 'मैंने रुपये और शराब का नाम लिया है। मैं नहीं जानता, स्त्रियों का उपयोग किया गया या नहीं, किन्तु मैंने स्त्रियों शब्द का प्रयोग कभी नहीं किया।'

पं. नेहरू – 'मैं माननीय सदस्य को इस अनुत्तरदायित्वपूर्ण कथन को सिद्ध करने की चुनौती देता हूँ।'

डॉ. मुकर्जी – 'संतुलन खो बैठने में कोई लाभ नहीं है।'

पं. नेहरू – 'मेरे विचार से तो यह केवल माननीय सदस्य को जैसे अधिकार है कि वह संतुलन खोकर ऐसी बातें कहें।'

डॉ. मुकर्जी – 'यह श्री जवाहरलाल नेहरू का शाश्वत अधिकार है कि वे हमेशा पारा चढ़ा लिया करें और हमारा शाश्वत कर्त्तव्य है कि हम उनके सम्मुख झुक जाया करें।'

जिन्होंने इस ओजस्वी बहस को चुना है वे जानते हैं कि पंडित नेहरू गलती पर थे और वे बुरी तरह हतप्रभ हुए।

परन्तु डॉ. मुकर्जी को इससे प्रसन्नता नहीं हुई। जम्मू की दिनों-दिन बिगड़ती हुई स्थिति को सुधारने के लिए वे पूरे सदन, विशेषकर पं. नेहरू को, मनाने का सतत प्रयत्न कर रहे थे। उनके हृदय में देशहित की भावना ही सर्वोपरि थी। अतएव भारतीय लोकसभा में अपने श्रेष्ठ भाषणों में से इस अन्तिम भाषण में उन्होंने सरकार को यह आश्वासन दिया कि किसी भी आकस्मिक आवश्यकता के समय वे अपना पूर्ण सहयोग देने को तत्पर हैं। उन्होंने कहा, 'हमारे विरुद्ध चाहे जो भी कहा जाए, चाहे हमारे साथ कुछ भी भ्रामक बातें जोड़ दी जायें, फिर भी जिस पार्टी का मैं प्रतिनिधित्व करता हूँ, उसकी ओर से प्रधानमंत्री को मैं यह विश्वास दिलाता हूँ कि आवश्यकता पड़ने पर बिना किसी शर्त के सरकार को हमारा पूर्ण सहयोग और समर्थन प्राप्त होगा।

अपने इस ऐतिहासिक भाषण के कुछ दिनों के बाद डॉ. मुकर्जी जम्मू में पुलिस के अत्याचार से मरे हुए कुछ लोगों की अस्थियों के जुलूस के सम्बन्ध में दिल्ली

में दफा 144 में गिरफ्तार कर लिए गए। इस बीच उन्हें 26 अप्रैल, 1953 को लोकसभा में बोलने का अन्तिम अवसर मिला। इस अन्तिम भाषण में उन्होंने सरकार को यह आश्वासन दिया कि किसी भी आकस्मिक आवश्यकता के समय वे अपना पूरा सहयोग देने को तत्पर हैं। उन्होंने कहा, 'हमारे विरुद्ध चाहे जो भी कहा जाए, चाहे हमारे साथ कुछ भी भ्रामक बातें जोड़ दी जाएँ, फिर भी जिस पार्टी का मैं प्रतिनिधित्व करता हूँ उसकी ओर से प्रधानमंत्री को मैं यह विश्वास दिलाता हूँ कि आवश्यकता पड़ने पर बिना किसी शर्त के सरकार को हमारा पूर्ण सहयोग और समर्थन प्राप्त होगा।'

अपने इस ऐतिहासिक भाषण के कुछ दिन के बाद डॉ. मुकर्जी जम्मू में पुलिस के अत्याचार से मरे हुए कुछ लोगों की अस्थियों के जुलूस के सम्बन्ध में दिल्ली में दफा 144 में गिरफ्तार कर लिए गए। इस बीच उन्हें 26 अप्रैल, 1953 को लोकसभा में बोलने का अन्तिम अवसर मिला। इस अन्तिम भाषण में उन्होंने एक बार फिर जम्मूवासियों के लिए न्याय की माँग की तथा काशमीर-नीति पर पुनर्विचार का आग्रह किया।

किन्तु उनके सब प्रयास विफल हुए। प्रतीत होता था मानो पंडित नेहरू ने उनकी विवेक-सम्मत वाणी को न सुनने की ही सौगन्ध खाई हो, और वे इसे व्यक्तिगत-मान-अपमान का प्रश्न बना बैठे हों। इससे वे अपनी पार्टी के कई सदस्यों तथा ऐसे अनेक लोगों की आँखों में गिर गए जो हृदय से यह महसूस कर रहे थे कि वे गलती पर हैं और डॉ. मुकर्जी का दृष्टिकोण ही उचित है। किन्तु किसी में भी इतना साहस न था कि वे पंडित नेहरू के समक्ष यह कह सके। यह कांग्रेस पार्टी के नैतिक पतन और साहसहीनता का मानो एक प्रमाण था। इससे यह स्पष्ट था कि देश में किसी दूसरे वैकल्पिक नेतृत्व की घोर आवश्यकता है।

यह दूसरा नेतृत्व, जैसा कि लोकसभा के अन्दर और बाहर अब माना जा रहा था, डॉ. श्यामाप्रसाद मुकर्जी का ही हो सकता था। भारत जैसे विशाल और रुचिबहुल देश का नेतृत्व करने के लिए जिस योग्यता और देशव्यापी प्रभाव की आवश्यकता थी, डॉ. मुकर्जी में वह जन्मजात था। वे संसदीय जीवन की सर्वोत्तम परम्परानुसार विरोधी दल का नेतृत्व कर रहे थे, केवल विरोध करने के लिए नहीं अपितु देश का सुधार करने के लिए। भारत का हित उनकी एकमात्र कसौटी था और वे अवसर आने पर सरकार की सराहना करने और उसे अपना सहयोग पेश करने में भी नहीं चूकते थे।

इससे उनमें और साम्यवादियों में अन्तर प्रकट होता था। उनके और कम्युनिस्टों के व्यवहार में जो भिन्नता थी वह उनके और कम्युनिस्ट दल के उपनेता मिस्टर एच. एन. मुकर्जी के बीच हुए निम्न उत्तर-प्रत्युत्तर से भली-भाँति प्रकट होती है। डॉ. मुकर्जी 25 फरवरी, 1953 को रेलवे बजट पर बोलते हुए चितरंजन लोकोमोटिव

फैक्टरी की प्रशंसा कर रहे थे कि वहाँ लोकोमोटिव के सत्तर प्रतिशत हिस्से तैयार हो सकते हैं कि एच.एन. मुकर्जी बोल पड़े--'वहाँ इंजन तैयार नहीं हो रहे हैं।'

डॉ. मुकर्जी—'शायद मेरे माननीय मित्र यह नहीं जानते। अभी तक कोई भी देश ऐसा नहीं है जहाँ इंजन के सौ प्रतिशत हिस्से बनाए जाते हों।'

एच.एन. मुकर्जी—'ऐसे देश हैं'

डॉ. मुकर्जी—'वह रूस हो सकता है जिसके विषय में मेरे माननीय मित्र मुझसे अधिक जानते हैं। वास्तव में हमें वस्तुस्थिति की ओर एक रूसी के नहीं, अपितु एक भारतीय के नाते देखना चाहिए।'

इस निर्माणात्मक राष्ट्रीय दृष्टिकोण के साथ-साथ, सत्तारूढ़ व्यक्तियों की सभी राष्ट्रघातक और विध्वसंक नीतियों के प्रति डॉ. मुकर्जी में विरोध की जो दृढ़ और सुविवेकपूर्ण भावना थी उसने उन्हें देश में स्वतन्त्रता और प्रजातन्त्र का प्रहरी बना दिया। जनसाधारण के लिए वे ऐसे व्यक्ति थे जो उनके हितों के लिए संघर्ष से जूझने के लिए हमेशा तत्पर थे और पंडित नेहरू को भी सबक सिखा सकते थे। लोकसभा और सचिवालय के पदाधिकारियों ने जो उनकी कार्यशक्ति से भली-भाँति परिचित हो चुके थे, उन्हें 'लोकसभा के सिंह' की उपाधि दी थी। वे कहा करते थे कि 'पं. नेहरू चाहे देश का शासन करें, किन्तु लोकसभा का शासन डॉ. मुकर्जी करते हैं।' देश में प्रजातन्त्र के विकास में रुचि लेने वाले सभी व्यक्ति एक उदीयमान नक्षत्र, भावी प्रधानमंत्री और लक्षावधि लोकतन्त्री भारतीयों की आशा के रूप में उनकी कल्पना करने लगे थे।

16. कश्मीर का आह्वान

संसद के बाहर जिन कामों और समस्याओं की ओर 1952 में डॉ. मुकर्जी का विशेष ध्यान रहा उनमें पूर्वी बंगाल की दिनोंदिन बिगड़ती हुई स्थिति और वहाँ से हिन्दुओं का बढ़ता हुआ निकास, महाबोधि सोसाइटी के रूप में बौद्ध देशों का भ्रमण और जम्मू-कश्मीर रियासत का शेष भारत के साथ सम्बन्ध प्रमुख हैं।

26 अक्टूबर, 1947 को कश्मीर में भारतीय सेना भेजने के निर्णय में उनका बड़ा हाथ था, परन्तु उसके बाद पं. नेहरू ने कश्मीर का पूरा अधिकार अपने हाथ में कर लिया और दूसरों से तद्विषयक नीतियों, विशेषकर उसकी आन्तरिक गतिविधि-सम्बन्धी नीतियों पर विचार-विमर्श करना भी अनावश्यक समझा गया। दूसरे मंत्री, जिनमें सरदार पटेल भी थे, प्रधानमंत्री को इस विषय में बिना माँगे अपनी राय देना रुचिकर नहीं समझते थे, क्योंकि वे जानते थे कि प्रधानमंत्री कश्मीर-समस्या को अपना निजी मामला समझते हैं और उसे सुलझाने का समस्त श्रेय स्वयं ही लेना चाहते हैं। दूसरे, उनमें से बहुत-से कश्मीर के विषय में सिवाय पं. नेहरू व शेख अब्दुल्ला के द्वारा मिली जानकारी के अतिरिक्त और कुछ जानते भी नहीं थे।

लेकिन शेख अब्दुल्ला की गड़बड़ नीतियों की रिपोर्टें इधर-उधर से नवम्बर व दिसम्बर, 1947 से ही दिल्ली में पहुँचनी शुरू हो गई थीं। जस्टिस कुँवर दिलीपसिंह ने, जो नवम्बर, 1947 में जम्मू कश्मीर में भारत सरकार के एजेण्ट जनरल बनाकर भेजे गए थे, यह स्पष्ट देखा कि शेख अब्दुल्ला भारत सरकार द्वारा प्रस्तुत नीतियों और योजनाओं की उपेक्षा कर जान-बूझकर मनमानी करने पर तुला है। उन्होंने दिल्ली में इसकी खबर दी, किन्तु कोई सुनवाई न होने के कारण इस्तीफा दे दिया।

इसके कुछ समय बाद ही रियासत के प्रधानमंत्री जस्टिस मेहरचन्द महाजन को, जिनकी उपस्थिति शेख अब्दुल्ला को खटक रही थी, बहुत अपमानपूर्ण ढंग से निकाला गया। यह कश्मीर के भावी घटनाचक्र का द्योतक था जिसे सरदार पटेल जैसे अत्यन्त अनुभवी व्यक्तियों ने भाँप लिया। इसके पश्चात् जम्मू के लोकप्रिय नेता पंडित प्रेमनाथ डोगरा तथा प्रजा-परिषद् के अनेक कार्यकर्ताओं को बिना किसी अभियोग और आरोप के बन्दी बना लिया गया। इससे पूरे जम्मू में विक्षोभ की लहर दौड़ पड़ी। प्रजा-परिषद् ने कई माह तक शेख अब्दुल्ला की सभी जम्मूवासियों और विशेषकर डोगरा लोगों के प्रति भेद तथा नागरिक स्वतन्त्रता को कुचलने की नीतियों की ओर भारत सरकार का ध्यान खींचने का भरसक प्रयत्न

किया और निराश होकर शान्ति तथा अहिंसामय सत्याग्रह आरम्भ किया। इसकी मुख्य माँगे यह थीं कि पंडित प्रेमनाथ डोगरा को मुक्त किया जाए और जम्मू के प्रति प्रभेदकारी नीतियाँ त्यागी जायें।

इस सत्याग्रह में जम्मू के सभी अंचलों से आए हुए सैंकड़ों नर-नारी, जिनमें कुछ मुसलमान डोगरा भी सम्मिलित थे गिरफ्तार कर लिए गए। अब्दुल्ला सरकार ने निर्दयतापूर्वक आन्दोलन को दबाने की नीति अपनाई। स्त्रियों का भी विचार न किया गया। अनेक स्त्रियों का अपमान किया गया और उन पर लाठी चलाई गई। इस पर कुछ सम्भ्रान्त महिलाओं का एक शिष्टमण्डल दिल्ली आया और उसने कुछ संसत्सदस्यों और मंत्रियों से मिलकर उन्हें जम्मू की वास्तविक स्थिति से परिचित कराने का यत्न किया। ये अक्टूबर, 1948 में डॉक्टर श्यामाप्रसाद मुकर्जी से भी मिलीं। वे वस्तुस्थिति को जानकर बहुत द्रवित हुए, किन्तु उन्होंने इसमें कुछ भी कर सकने में अपनी विवशता प्रकट की और उन्हें यह सम्मति दी कि वे प्रधानमंत्री से, जिन्होंने कश्मीर-समस्या सीधे अपने हाथ में रखी थी, मिलें।

1948 के अन्त में भारत सरकार की मध्यस्थता पर कश्मीर सरकार ने पंडित प्रेमनाथ डोगरा को मुक्त कर दिया और प्रजा-परिषद् को यह आश्वासन दिया गया कि उनकी साधारण वैधानिक गतिविधि पर कोई रोक नहीं लगाई जा सकती।

कुछ महीनों के बाद रियासत के लिए निर्वाचित संविधान-सभा बनाने की घोषणा की गई जिसका उद्देश्य 'भारत में रियासत के विलयन' का अनुमोदन करना बताया गया। प्रजा-परिषद् ने चुनाव लड़ने का निश्चय किया और इसके लिए तैयारी शुरू कर दी।

किन्तु चुनाव-अधिकारियों द्वारा बहुत ही तुच्छ कारणों से 59 से 42 प्रत्याशियों के पत्रों की अस्वीकृति से प्रजा-परिषद् के नेता कुछ सोच में पड़ गए। वे वह सोचने लगे नेशनल कान्फ्रेंस के प्रति इस प्रत्यक्ष पक्षपात के सामने चुनाव लड़ना क्या उचित होगा? पंडित प्रेमनाथ डोगरा भारत सरकार को इस नई स्थिति से अवगत कराने और भारत के जन-नेताओं से इस विषय में परामर्श लेने के लिए नई दिल्ली आए। उन्हें भारत सरकार का रवैया अत्यन्त उत्साहभंजक प्रतीत हुआ। सरकार से बाहर कई नेताओं ने, जिनमें कांग्रेस के भी कुछ भूतपूर्व पदाध्यक्ष शामिल थे, उन्हें यह सम्मति दी कि वे चुनाव न लड़ें। डॉक्टर साहब तब तक त्यागपत्र देकर सरकार से बाहर निकल आए थे और उस समय दिल्ली में ही थे। इस कारण उनसे परामर्श लेने का दायित्व लेखक को सौंपा गया।

मैं डॉक्टर मुकर्जी से मिलने के लिए वैस्टर्न कोर्ट गया, जहाँ वे मंत्रिमंडल से निकलने के बाद रहा करते थे, पूरी वस्तुस्थिति उनके सामने रखी। इस पर डॉक्टर साहब ने यह राय दी कि सभी कठिनाइयों के बावजूद भी चुनाव लड़ने

चाहियें। उनका विचार था कि सरकारी नीतियों के प्रति विभिन्न दृष्टिकोण उपस्थित करने के लिए विधान-सभाएँ हीं एक प्रभावकारी साधन हैं। अतएव यदि प्रजा-परिषद् असेम्बली में अपना एक प्रतिनिधि भी भेज सकी तो भी उसका चुनाव कार्य सफल समझना चाहिये।

किन्तु अब तक प्रजा-परिषद् के नेताओं ने चुनाव न लड़ने का निश्चय कर लिया। परिणामस्वरूप राज्य की विधानसभा में शेख अब्दुल्ला को अपने मनोनीत व्यक्ति भेजना सरल हो गया, जिनमें से अनेक ख्यात कम्युनिस्ट और पाकिस्तानी भी थे।

इस साम्यवाद तथा सम्प्रदायवादी-प्रधान एकदलीय संविधान सभा में आशा ने नितान्त विपरीत शेष भारत से जम्मू और कश्मीर की पूर्व श्रृंखलाओं को सुदृढ़ करने की अपेक्षा और दुर्बल बनाना शुरू कर दिया। साम्यवादियों से प्रेरणा पाकर शेष अब्दुल्ला ने जम्मू और कश्मीर की विशेष स्थिति के सम्बन्ध में भारतीय संविधान में डाले गये अस्थायी अनुच्छेद नं. 370 का पूरा-पूरा लाभ उठाना शुरू किया। यह अनुच्छेद कांस्टीट्यूएण्ट एसेम्बली की ड्राफ्टिंग कमेटी के अध्यक्ष डॉ. अम्बेडकर के विरोध के बावजूद शेख अब्दुल्ला के आग्रह पर भारतीय संविधान में रखा गया था। डॉ. अम्बेडकर उसके अन्तर्निहित उद्देश्य को भली-भाँति भाँप गये थे। स्वर्गीय गोपालस्वामी आयंगर ने जब वह अनुच्छेद संविधान सभा के सम्मुख रखा तो अधिकांश सदस्यों ने इस पर आपत्ति प्रकट की थी। इस पर गोपालस्वामी ने यह कहकर उनके भय और संशय निवारण करने की कोशिश की थी कि उक्त अनुच्छेद में कश्मीर पूर्ण विलयन की स्थिति में नहीं है, परन्तु उन्होंने यह भी कहा था, 'यहाँ प्रत्येक व्यक्ति यह आशा करता है कि समय पाकर जम्मू और कश्मीर भी उसी तरह विलय हो जायेंगे जैसे अन्य रियासतें हुई हैं।'

तदनन्तर शेख अब्दुल्ला इस आधार पर चलने लगा कि कश्मीर एक स्वतंत्र रियासत है जो केवल, रक्षा, विदेशी मामलों, डाक-तार तथा यातायात की सीमित आवश्कताओं की पूर्ति के लिए ही भारत में शमिल हुई है। इन तीनों मामलों में भी शेख का दिल साफ नहीं था। 'सुरक्षा' केन्द्रीय विषय होने के बावजूद उसने कई सहस्त्र सैनिकों की मिलिशिया सेना, जिसे अस्त्र-शस्त्र भारत सरकार दे, जिस पर नियंत्रण सौंपने में भी आनाकारी की। विदेशी मामलों में भी उसने दिल्ली और बम्बई में विदेशी दूतों से सम्पर्क बनाने के लिए 'डिप्लोमेटिक मिशन' के बतौर अपने 'ट्रेड एजेण्ट' भेजकर भारत सरकार को धोखा दिया। वह इतना सब केवल इसलिए कर सका कि उसकी पीठ पर पं. नेहरू का हाथ था।

जम्मूवासियों को शेख की इस नीति के प्रति आक्रोश हुआ, क्योंकि वे चाहते थे कि उनकी रियासत भी अन्य रियासतों के समान भारत में विलय हो। उन्होंने

इसका भी प्रतिरोध किया कि राज्य में सार्वजनिक स्थानों और समारोहों में नेशनल कान्फ्रेंस का झण्डा भारत के राष्ट्रीय तिरंगे ध्वज का स्थानापन्न हो। शेख अब्दुल्ला ने डोगरा महाराजा के प्रति जिन्होंने अपने विचार के प्रतिकूल पं. नेहरू के कहने पर शेख को सत्ता प्रदान की थी, अपमानजनक रुख अपनाकर जम्मूवासियों को और भी उद्विग्न कर दिया। शैक्षिक पाठ्यक्रम और शासन से हिन्दी को विधिवत् पद्च्युत करा, कश्मीर को भारत देश से पृथक् मानकर चर्चा करना, जम्मू से रियासत के सभी बहुमूल्य पदार्थ, ग्रन्थ तथा कुछ संस्थाओं को श्रीनगर ले जाना, नए मुस्लिम-बहुल जिले बनाने के लिए कश्मीर की घाटी से मिले हुए जम्मू के हिस्सों को खंडित करना और अब्दुल्ला सरकार के कुछ उच्च तथा विश्वस्त पदाधिकारियों द्वारा पाकिस्तान के लिए खुला प्रचार करना आदि से जम्मू के राष्ट्रवादियों के हृदय कश्मीर के भविष्य के सम्बन्ध में आशंकित और भयभीत हो उठे, क्योंकि उनका अपना भविष्य कश्मीर के साथ ही बँधा हुआ था।

यह बवण्डर फरवरी, 1952 में, जब गवर्नमेंट गाँधी मेमोरियल कॉलेज जम्मू के विद्यार्थियों ने एक सरकारी समारोह में नेशनल कान्फ्रेंस के झण्डे को प्रणाम करने की बाध्यता का विरोध किया, तब फूटा। उनके साथ क्रूर व्यवहार किया गया। परिणामस्वरूप कॉलेज के विद्यार्थियों ने हड़ताल कर दी। जनसाधारण की सहानुभूति उनके साथ थी ही। फलतः यह विद्यार्थी-आन्दोलन जन-आन्दोलन के रूप में बदल गया। जम्मू शहर पर 82 घण्टे का कर्फ्यू लगाने के बाद कश्मीर सरकार ने पं. प्रेमनाथ डोगरा और उनके अन्य कई कार्यकर्ताओं को किसी अभियोग के बिना ही बन्दी बना लिया।

इन घटनाओं से पहली बार पूरे देश का ध्यान रियासत की आन्तरिक स्थिति की ओर गया और यह अनुभव किया जाने लगा कि अब्दुल्ला की आन्तरिक नीतियों में अवश्य कोई त्रुटि है। समस्त देश में रियासत की वास्तविक आन्तरिक स्थिति को जानने व समझने की जिज्ञासा दौड़ गई।

इसके बाद कश्मीर की विधानसभा के अन्दर और बाहर शेख अब्दुल्ला तथा उसके पिछलग्गुओं ने अनेक अशुभ वक्तव्य दिये। 24 मार्च, 1952 को अब्दुल्ला मंत्रिमंडल के माल-मंत्री मिर्जा अफजल बेग ने राज्य की विधानसभा में घोषणा की, 'जम्मू और कश्मीर रियासत भारतीय संघ के अन्तर्गत गणराज्य होगा। जहाँ तक राज्य के विधान का प्रश्न है हम उसकी ऐसी रूपरेखा बनाना चाहते हैं कि कश्मीर रियासत अन्य गणराज्यों के समान ही एक गणराज्य हो। हमारी योजना के अनुसार रियासत का अपना राष्ट्रपति होगा, पृथक् नेशनल एसेम्बली होगी और पृथक् ही न्यायकारिणी होगी।'

इसके बाद 29 मार्च को राज्य की विधानसभा में शेख अब्दुल्ला ने, जो भारत

सरकार की ओर से प्रतिनिधि बनाकर पेरिस भेजे गये थे और अभी थोड़े ही दिन पहले वापस आये थे, बड़े जोर-जोर से यह घोषणा की कि 'हम शत-प्रतिशत सर्वसत्तासम्पन्न हैं और कोई भी देश हमारे प्रगतिचक्र में बाधा नहीं डाल सकता। तो भारतीय संसद और न ही कोई और संसद हम पर अधिकार रखती है।' इसके बाद शेख अब्दुल्ला ने 10 अप्रैल को रणवीर सिंहपुरा में इससे भी बढ़कर शंकाजनक एक और वक्तव्य दिया और कहा, 'जब तक भारत की धरती में साम्प्रदायिकता के पाँव जमे हैं तब तक भारत में कश्मीर का विलय एक सीमित प्रकृति का रहेगा।' उन्होंने पूर्ण विलय की युक्तियों को 'बचपनाभरी, अवास्तविक और उन्माद-ग्रस्त उद्‌गार' तक कह डाला। पश्चात् भारत पर कटाक्ष करते हुए कहा, 'बहुत-से कश्मीरी यह सोचते हैं कि अगर पंडित नेहरू को कुछ हो गया तो उनका और उनकी पद-मर्यादा का क्या बनेगा। हम नहीं जानते, किन्तु यथार्थवादी होने के नाते हमें काश्मीरियों की सभी आकांक्षाओं के लिये तैयार रहना है।'

शेख अब्दुल्ला के इन वक्तव्यों और जम्मू की घटनाओं से भारत में कश्मीर के विषय में सनसनी पैदा हो गई। कश्मीर के शेर को दूध पिलाने वाले को ही डसने की वृत्ति की जनता व समाचार-पत्रों में तत्काल ही घोर प्रतिक्रिया हुई। केवल पंडित नेहरू ने स्थिति की गम्भीरता को कम करते हुए अपने अविवेकपूर्ण मित्र की इस तमाम बौखलाहट के लिए प्रजा-परिषद् को दोषी ठहराया।

डॉ. मुकर्जी इस स्थिति से घोर दु:ख का अनुभव कर रहे थे। यू.एन.ओ. में कश्मीर के विषय में जो हवा चल रही थी, वे उससे सन्तुष्ट न थे। उन्हें जम्मू-कश्मीर के तिहाई भाग पर पाकिस्तान के अविराम अधिकार से चोट पहुँची थी और वे इसे खंडित भारत की एकता के लिए बड़ा सांघातिक समझते थे। यह नया घटनाचक्र इस बात का द्योतक था कि राज्य का वह हिस्सा थी, जो अभी तक भारत का ही एक भाग था, अब हाथ से निकल रहा था। उन्होंने अपने एक वक्तव्य में शेख अब्दुल्ला की स्वर्गीय मिस्टर जिन्ना से तुलना करते हुए उनके इस तरह पैंतरे बदलने की घोर निन्दा की और कहा कि यह तो 'मुँह में राम, बगल में छुरी' के समान ऊपर से तो भारत में विलय की चर्चा और अंदर से इससे एकदम अलग होने का षडयंत्र है।

किन्तु जहाँ भारत की अखण्डता और प्रतिष्ठा की बाजी लग रही हो वहाँ वे केवल एक वक्तव्य देकर समाधान मानने वाले व्यक्ति नहीं थे। वे परिस्थिति के पूरे वस्तुतथ्य से अवगत होने के लिए उत्सुक हो उठे ताकि वे जनता तथा लोकसभा को समय पर वास्तविकता से परिचित करा सकें जिसके प्रति सरकार तथा 'प्रेस' ने उन्हें अब तक अन्धकार में ही रखा था। इस नाते उन्हें पं. प्रेमनाथ डोगरा से मिलने की इच्छा हुई जो भारत सरकार के आदेश पर तभी जेल से मुक्त हुए थे।

इसके लिए उन्हें अधिक नहीं ठहरना पड़ा। भारत में जनसाधारण के नेताओं के सम्मुख अपना पक्ष रखने के लिए पंडित जी अप्रैल, 1952 के अन्त में नई दिल्ली में आए। वे डॉक्टर मुकर्जी से मई के प्रारम्भ में ही उनके वेस्टर्न कोर्ट के कमरे में मिले।

भावी परिणामों को देखते हुए यह भेंट इन दोनों महान् व्यक्तियों के जीवन की एक प्रमुख घटना सिद्ध हुई। पंडित प्रेमनाथ डोगरा, जिनका सत्तरवाँ वर्ष चल रहा था, विनय और शालीनता के जीवन चित्र थे। उनका उत्साह अक्षय्य था। उन्होंने डॉक्टर मुकर्जी के सम्मुख शेख अब्दुल्ला के सत्तारूढ़ होने तक जो घटनाचक्र चला, उस पर प्रकाश डाला। उन्होंने बताया कि कैसे वह उनकी सहायता के आश्वासन के बिना जम्मू नहीं आ सकता था, कैसे उसने जनसभा में यह स्वीकार किया था कि अक्टूबर, 1947 में जम्मू में जो कुछ हुआ उसका दायित्व पाकिस्तान और उसके एजेण्टों पर है जिन्होंने जम्मू के लोगों को आत्मरक्षा के हेतु लड़ने पर विवश किया है, और कैसे शेख ने उन्हें यह प्रलोभन देकर आग्रह किया कि वे यदि नेशनल कान्फ्रेंस में सम्मिलित हो जायें तो मंत्रिमंडल में ले लिए जायेंगे और कैसे चाँदी के टुकड़ों पर अपनी आत्मा को बेचने से इंकार कर शेख को उन्होंने शत्रु बना लिया। उन्होंने यह भी बतलाया कि राज्य की बेहतरी और रक्षा के लिए प्रजा-परिषद् के सहयोग को शेख अब्दुल्ला ने किस प्रकार ठुकराया और कैसे उसने सैक्यूलरवाद के नाम पर राज्य का मुस्लिमीकरण तथा जनतंत्र के नाम पर एकदलीय शासन की स्थापना शुरू की। प्रजा परिषद् इस सब उत्पात को इस विचार से सहन कर रही थी कि भारत सरकार ने कश्मीर-समस्या को सुलझाने में उसकी सहायता पाने के निमित्त ही उसे खुली छूट दे रखी है। किन्तु उन सबको यह आशा थी कि अन्य रियासतों के समान भारत में जम्मू-कश्मीर का पूर्ण विलय होने पर और फलस्वरूप यहाँ भारतीय संविधान के लागू होने पर यह सब उत्पात समाप्त हो जायेगा। 'किन्तु ये सब आशायें' उन्होंने अवरुद्ध कण्ठ से कहा, 'राज्य के नए घटनाचक्र से मिट्टी में मिल रही हैं। शेख अब्दुल्ला तथा उनके साम्यवादी तथा सम्प्रदायवादी साथी विभिन्न कारणों से जम्मू और कश्मीर को भारत से अलग करने पर तुले हैं। कम्युनिस्ट कश्मीर में अपना पक्का अड्डा जमाना चाहते हैं कि जहाँ से वे अवसर मिलते ही शेष भारत में लाल क्रान्ति की भूमिका बाँध सकें। इसलिए वे चाहते हैं कि राज्य के मामलों में भारत का नियंत्रण कम-से-कम हो। इसी विचार से वे राज्य में स्वतंत्र-राज्य की साजसज्जा प्रस्तुत कर रहे हैं। शेख अब्दुल्ला के सम्प्रदायवादी तथा पाक-समर्थक हिमायती भी उसे इस नीति पर चलने का प्रोत्साहन दे रहे हैं, क्योंकि वे जानते हैं, कि एक बार भी यदि भारत और कश्मीर की कड़ियाँ ढीली हुईं कि पाकिस्तान के लिए कश्मीर को हड़पना सरल हो जायेगा।'

अपने कथन को जारी रखते हुए उन्होंने आगे कहा, 'राज्य की जनसंख्या के सभी राष्ट्रवादी तत्त्व, जिनमें लद्दाख के बौद्ध, जम्मू के डोगरे और कश्मीरी भी पर्याप्त संख्या में शामिल हैं, इस नीति के विरुद्ध हैं। वे लोग महसूस करते हैं कि शेख अब्दुल्ला जम्मू और कश्मीर को दूसरा पाकिस्तान बना रहा है। जम्मू के लोग तो विशेषकर भयभीत हैं, उनके लिए तो वह जीवन और मृत्यु का प्रश्न है। उनका निश्चय है कि वे शेष भारत से जम्मू व कश्मीर को विच्छिन्न कर देने वाली नीति का विरोध करेंगे। उनकी एक अकांक्षा है कि वे भारतीय तिरंगे की छाया में भारत के संविधान से ही प्रशासित हों और भारत के राष्ट्रपति के अतिरिक्त अन्य किसी के प्रति निष्ठा न रखें।' पंडित जी ने डॉक्टर मुकर्जी को बड़े उत्साह से बतलाया कि इस विषय में जम्मू के लोग एकमत हैं और अपनी मातृभूमि भारत से मिलने के स्वाधिकार की रक्षा के लिए बड़े-से-बड़ा त्याग करने के लिए प्रस्तुत हैं।

डॉक्टर मुकर्जी इन सब अज्ञात बातों को बड़े ध्यान से सुनते रहे। वे शेख अब्दुल्ला के कथनों के पीछे के उद्देश्य पर मनन करने लगे। उन्होंने समग्र भारत की एकता और अखण्डता के लिए प्रजा-परिषद् के रवैये और इसके विस्तृत अनुमान को न्यायोचित पाया। वे इस वयोवृद्ध व्यक्ति की ईमानदारी से बहुत प्रभावित हुए, जिसके अन्दर अपनी वय के विपरीत एक युवकोचित हृदय और उत्साह था। प्रजा-परिषद् जिस उद्देश्य को लेकर संघर्ष कर रही थी उसमें सहयोग देने की पं. प्रेमनाथ की प्रभावपूर्ण अपील का उन पर बहुत प्रभाव हुआ।

किन्तु डॉक्टर साहब बिना अच्छी तरह सोचे-विचारे कोई भी निर्णय नहीं करते थे। पंडित जी ने जो वस्तुस्थिति उनके समक्ष रखी थी व उसके प्रमाण चाहे थे और इस बात की पुष्टि भी कर लेना चाहते थे कि प्रजा-परिषद् को लोगों की यथेष्ट सहायता मिलेगी, क्योंकि एक जनतंत्री होने के नाते वे जनता की इच्छाओं के विपरीत जाना पसंद नहीं करते थे।

पंडित डोगरा ने प्रधानमंत्री से मिलने का बहुत प्रयत्न किया पर पंडित नेहरू ने उनसे मिलना अस्वीकार कर दिया। प्रतीत होता है कि शेख अब्दुल्ला की असत्य और विषमकारी रिपोर्टों से पंडित नेहरू पंडित डोगरा के प्रति अत्यन्त भ्रान्त धारणाएँ बना चुके थे।

डॉक्टर मुकर्जी को यह जानकर बहुत दुःख हुआ कि जनतंत्री प्रधानमंत्री ने देश के उस भाग के एक जननायक से मिलना अस्वीकार किया है जो इस समय पूरे देश का ध्यान-बिन्दु था। उन्हें यह स्पष्ट प्रतिभासित हुआ कि पंडित नेहरू अपनी कश्मीर-विषयक नीति को बदलने के लिए राज्य के लोगों की अनुनय-विनय पर बिल्कुल ध्यान नहीं देंगे। हाँ, शेष भारत भी इस दिशा में उन पर दबाव डाले तो बात और हो सकती है। इस दृष्टि से उन्होंने 18 जून, 1953 को भारतीय जनसंघ

की कार्यकारिणी द्वारा एक प्रस्ताव पारित करा देश का मार्गदर्शन किया। प्रस्ताव में इस बात पर बल दिया था कि रियासत जम्मू व कश्मीर भारत का एक अविभाज्य अंग है। इसमें आगे कहा गया था कि निर्वाचित प्रधान और पृथक् ध्वज के सम्बन्ध में यह निर्णय कि कश्मीर एक स्वशासित गणराज्य होगा, भारतीय एकाधिपत्य और संविधान पर आघात है।

'यह कमेटी इस घटनाचक्र पर चिन्ता प्रकट करती है और जनता तथा भारत सरकार को यह स्मरण कराना चाहती है कि 1945 की कैबिनेट मिशन स्कीम का, जिसमें केवल तीन विषयों को लेकर एक निर्बल केन्द्र की विवेचना थी, कांग्रेस तथा भारत की अधिकांश जनता द्वारा इसलिए विरोध किया गया था कि वह भारत की एकता और हितों के प्रति पराङ्मुख थी। मुस्लिम लीग की पृथक्तावादी प्रवृत्तियाँ, देश का विभाजन और भयानक परिणामों का कारण बनीं। अब जम्मू और कश्मीर रियासत को उसी मार्ग पर चलने की अनुमति देना इतिहास की पुनरावृत्ति करना है। इसका तात्पर्य विराट् मूल्य देकर अर्जित हुई भारत की एकता और अखण्डता को नष्ट करने के लिए विध्वंसक तत्त्वों का पुनः आह्वान करना है।'

प्रस्ताव में भारतीय जनता से भारतीय जनसंघ के समर्थन में 29 जून को 'कश्मीर दिवस' मनाने और जनसभाएँ तथा प्रदर्शन करने की प्रेरणा भी दी गई।

कश्मीर-दिवस के तीन दिन पहले 26 जून को डॉ. मुकर्जी ने लोकसभा में कश्मीर पर अपना प्रथम श्रेष्ठतम भाषण दिया। उसी दिन, इसके पहले दिलली के नागरिक लोकसभा के समाने शेख अब्दुल्ला की नीति के विरुद्ध विराट् प्रदर्शन कर चुके थे।

अपने भाषण में डॉ. मुकर्जी ने क्रमशः पृथक् ध्वज, वंशानुगत महाराजा की बजाय राज्य में निर्वाचित प्रधान और धारा 370, जिसके बल पर शेख अब्दुल्ला पृथक् संविधान चाहता था आदि पर अपने विचार व्यक्त किए जिससे शेख अब्दुल्ला और उसके भारतीय समर्थकों का केस बिलकुल नष्ट हो गया।

ध्वज के विषय में बोलते हुए उन्होंने कहा—'देशभक्ति विभाजित नहीं की जा सकती। शेख अब्दुल्ला ने कहा है कि हम दोनों ध्वजों को समान प्रतिष्ठा देंगे, किन्तु यह हो नहीं सकता। यह कोई अर्द्धांश या बराबरी का प्रश्न नहीं है। यह भारत-भर में, जिसमें कश्मीर भी सम्मिलित है, एक ही झंडा लहराने का प्रश्न है। कश्मीर अलग झंडा लेकर एक स्वतंत्र गणराज्य बने, इसका कोई प्रश्न ही नहीं उठता।'

महाराजा के स्थान पर राज्य में निर्वाचित प्रधान बनाने के लिए आन्दोलन पर उन्होंने कहा, 'महाराजा चले गये हैं। अब उनका यथेच्छाचारी शासन जारी रखने का सवाल नहीं है। महाराजा संवैधानिक दृष्टि से राज्य के प्रधान की हैसियत से काम

करते हैं, किन्तु उनके हाथ अब बिल्कुल बँधे हुए हैं। अगर आप चाहते हैं कि भारत के किसी भी क्षेत्र में या किसी इकाई-विशेष के वैधानिक प्रमुख के रूप में भी कोई महाराज न रहे, तो आप इस प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक उचित रीति से और संवैधानिक दृष्टि से विचार करें। अगर भारतीय लोकसभा यह चाहती है कि भारत के संविधान में ऐसा संशोधन हो कि भारत-भर में कहीं भी कोई महाराजा या राजप्रमुख न रहे तो हमें ऐसे प्रमुख प्रस्ताव पर विचार कर लेना चाहिए।'

उन्होंने अनुच्छेद 370 की ओर कांग्रेसी रवैये के असामंजस्य की ओर भी ध्यान आकर्षित किया। जब यह स्व. गोपालस्वामी आयंगर द्वारा संविधान में रखा गया था तब कांग्रेस का रवैया और ही था और उसका वर्तमान रुख, जब वह उसी अनुच्छेद के आधार पर शेख अब्दुल्ला का पक्ष ले रही थी, भिन्न ही था। उन्होंने तथ्य और प्रमाण उपस्थित कर विस्तार में नागरिक आधारों पर कुठाराघात, हिन्दू का बहिष्कार, साम्प्रदायिक आधार पर जम्मू का विभाजन, धर्मार्थ विभाग की सम्पत्ति और कोष का मनमाना अपव्यय, नौकरियों में साम्प्रदायिकता, जम्मू के प्रति भेदभाव और शेख अब्दुल्ला का प्रेस तथा भारतीय जनता के सामने अपने भाषणों को काट-छाँटकर पेश करना और वस्तुस्थिति को छिपाने के लिए रियासत के इर्द-गिर्द लौहावरण डालना इत्यादि बातों पर प्रकाश डाला।

डॉ. मुकर्जी ने अनुनयपूर्वक यह आग्रह भी किया कि 'हमें अपने मन में बिल्कुल स्पष्ट रहना चाहिए कि हम क्या चाहते हैं' और उन्होंने भविष्यवक्ता के रूप में कहा, 'अगर हम केवल हवा के रुख के अनुसार चलना चाहते हैं और यह कहते हैं कि हम विवश हैं, शेख अब्दुल्ला जो चाहे कर ले, तो कश्मीर हाथ से जाता रहेगा।'

29 जून को समस्त देश में अपूर्व उत्साह से 'कश्मीर-दिवस' मनाया गया। डॉ. मुकर्जी ने स्वयं दिल्ली की एक विशाल जनसभा में भाषण दिया।

प्रेस तथा सभी विचारों के लोगों में शेख अब्दुल्ला के वक्तव्यों की जो तीव्र प्रतिक्रिया हुई तथा कश्मीर-दिवस मनाने के लिए जनसंघ को जो प्रचुर सहयोग मिला, उससे पंडित नेहरू का हृदय भी अशान्त हो उठा। उन्होंने शेख अब्दुल्ला को दिल्ली आने के लिए कहा ताकि वे उसे अपनी मनमानी बन्द करने के लिए समझा सकें। किन्तु शेख अब्दुल्ला ने कोई-न-कोई बहाना कर पंडित जी की प्रार्थना अनसुनी कर दी। दूसरी ओर उसने भारत सरकार से इस आशय का वार्त्तालाप करने के लिये अपने संवैधानिक परामर्शदाताओं की एक मंडली भेजी कि भारत सरकार उसकी रियासत के लिए पृथक् ध्वज और संविधान के निर्णयों को मान्यता दे। 16 जुलाई को वह स्वयं दिल्ली आया ताकि उसके एजेण्टों ने जो सौदा किया था उसमें कुछ और रियासत हो जाए तथा वह अंतिम रूप ले सके। यह समझौता 24 जुलाई

को स्वयं पं. नेहरू द्वारा भारतीय लोकसभा में प्रस्तुत किया गया और तब से 'जुलाई-समझौते' के नाम से ख्यात है।

यह समझौता शेख अब्दुल्ला के पृथक्तावाद की विजय थी। इसके अनुसार उसे पृथक् नागरिकता, पृथक् झंडे, परम्परागत महाराजा के स्थान पर राज्य के निर्वाचित प्रधान और पृथक् संविधान का अधिकार मिल गया। उसने भारतीय दृष्टिकोण के साथ जो रियासतें की थीं उनमें इतने किन्तु-परन्तु साथ लगे थे कि किसी भी बेईमान व्यक्ति के लिए उन पर से फिर जाना कठिन न था।

डॉ. मुकर्जी इस समझौते के विपरीत थे। ऐसे समझौते का विचारमात्र ही, जिसका लक्ष्य भारतीय संविधान की अवहेलना करना और भारत के एक अंचल में उसके प्रभुत्व को कम करना था, उन्हें दु:खदायी लगता था, क्योंकि वे महसूस करते थे कि यह भारत के वैधानिक विघटन की पहली कड़ी है जिससे अन्यत्र विध्वंसक शक्तियाँ अनुचित लाभ उठायेंगी।

7 अगस्त, 1952 को उन्हें लोकसभा में इस समझौते पर अपनी भावनाएँ और विचार व्यक्त करने का अवसर मिला। उन्होंने पं. नेहरू से दो सीधे प्रश्न किए, पहला—राज्य के पाकिस्तान-अधिकृत क्षेत्रों के विषय में था और दूसरा—शेख अब्दुल्ला द्वारा प्रशासित भाग के विषय में था। पहले प्रश्न के विषय में उन्होंने पूछा, 'क्या ऐसी सम्भावना है कि हम यह क्षेत्र पुन: प्राप्त कर सकेंगे?'

'यू.एन.ओ. के प्रयत्नों से तो वह नहीं मिलेगा। हम पाकिस्तान के साथ पत्र-व्यवहार कर शान्तिमय ढंग से भी उसे पा नहीं सकते। तात्पर्य यह है कि अगर हम बल-प्रयोग न करेंगे, तो कश्मीर से हाथ धो बैठेंगे, परन्तु ऐसा हम करेंगे नहीं, क्योंकि हमारे प्रधानमंत्री इसे पसन्द नहीं करते। यह वस्तुस्थिति है। क्या हम इसके लिए तैयार है।'

दूसरे प्रश्न के विषय में उन्होंने कहा, 'क्या मैं पूछ सकता हूँ कि क्या शेख अब्दुल्ला का भारत के संविधान के बनाने में हाथ नहीं है? वह कांस्टियूएण्ट असेम्बली का सदस्य था, किन्तु आज वही विशेष व्यवहार की माँग कर रहा है। क्या वह इस संविधान को सारे भारत पर जिसमें 497 अन्य रियासतें भी शामिल हो चुकी हैं, लागू करने में सहमत नहीं था? यदि यह संविधान उन सबके लिये ठीक है तो कश्मीर के लिये क्यों नहीं?'

पं. नेहरू के पास इन प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं था। उन्होंने उन्हें टालकर जम्मू और कश्मीर की विशेष स्थिति के विषय में चर्चा की। इससे किसी का भी, यहाँ तक कि उनकी पार्टी के लोगों का भी, समाधान न हुआ, किन्तु बहुत-से लोग जम्मू और कश्मीर के विषय में सिवाय उसके, जो कश्मीर सरकार व पंडित नेहरू द्वारा भारतीय प्रेस को बतलाया जाता था और कुछ भी नहीं जानते थे। उन पर पंडित

नेहरू द्वारा प्रजा-परिषद् पर की गई इस कटु आलोचना का कि वह ऐसी संस्था है जिसे जनसहयोग बिल्कुल अप्रयाप्त हैं, पर्याप्त प्रभाव पड़ा।

इसी समय प्रजा परिषद् ने यह घोषणा कर दी कि वह जम्मू में नौ और दस अगस्त को एक सम्मेलन करेगी जिसमें वह 'जुलाई-समझौते' पर अपने अधिकृत विचार प्रकट करेगी और अपना भावी कार्यक्रम निश्चित करेगी। उसने कई संसत्सदस्यों तथा अन्य उक्त नेताओं को भी सभा में सम्मिलित होने का निमंत्रण दिया ताकि वे प्रजा-परिषद् की विचारधारा और जनता की भावनाओं को समझकर स्वतंत्र निर्णय कर सकें। डॉ. मुकर्जी ने निमंत्रण स्वीकार कर लिया और उसी दिन उन्होंने लोकसभा में अपने जम्मू जाकर परिस्थिति का अध्ययन करने के निर्णय की घोषणा भी कर दी।

इससे कतिपय कांग्रेसी नेता तथा संसत्सदस्य, जो वस्तुस्थिति से अवगत थे, घबरा गये। उन्होंने डॉ. मुकर्जी को अपने निर्णय से विचलित करने का बहुत प्रयत्न किया। कुछ ने उन्हें कहा, 'डॉक्टर साहब आप अपनी हेठी क्यों करवाना चाहते हैं? वहाँ आपका स्वागत करने के लिए पाँच सौ व्यक्ति भी न मिलें। प्रजा-परिषद् का कोई अनुयायी नहीं है।'

एक अपरिचित ज्योतिषी ने भी उनके निवास स्थान पर जाकर उन्हें जम्मू न जाने का बहुत आग्रह किया। उसने उन्हें चेतावनी दी कि वहाँ किसी दुर्घटनावश उनकी प्राणहानि का भी भय है, किन्तु डॉ. मुकर्जी विचलित होने वाले नहीं थे। उन्होंने 8 ता. की रात्रि को कश्मीर मेल से रवाना होने का कार्यक्रम बना लिया। संसत्सदस्य श्री यू.एम. त्रिवेदी और बाबू रामनारायणसिंह, अनेक प्रेस-प्रतिनिधि तथा लेखक उनके साथ जाने वाले थे, किन्तु घोर निराशापूर्वक उन्हें सुनना पड़ा कि सायं छह बजे तक प्रतिरक्षा मंत्रालय ने डॉक्टर साहब तथा उनकी पार्टी को रियासत में जाने का अनुमति-पत्र नहीं दिया है। उन्होंने तत्काल गृहमंत्री तथा प्रतिरक्षा मंत्री को टेलीफोन किया और फलस्वरूप स्टेशन जाने के समय पर ही उन्हें अनुमति-पत्र मिले।

रेलवे स्टेशन पहुँचकर प्रेस-प्रतिनिधियों को यह देखकर अत्यन्त आश्चर्य हुआ कि डॉ. मुकर्जी अपने अन्य लोगों के साथ तीसरे दर्जे में बैठे हैं। एक तो आश्चर्य से पूछ बैठा, 'आप जीवन में पहली बार ही थर्ड क्लास में सफर कर रहे होंगे?' डॉक्टर साहब ने अविलम्ब उत्तर दिया, 'नहीं, मैं प्रायः इसी में यात्रा किया करता हूँ। आप जानते हैं कि हमारा दल निर्धन है, इस तरह बचाए हुए पैसे किसी अन्य आवश्यक मद में उपयोगी हो सकते हैं।'

सामान में डॉ. साहब के पास केवल एक सूटकेस था जिसमें एक छोटा तकिया, दो चादरें और कुछ कपड़े थे। उन्होंने डिब्बे की लकड़ी की बेंच पर अपनी

एक चादर बिछा ली और दूसरी ओढ़ ली। वे सफर में प्राय: इतना ही सामान ले जाया करते थे—हाँ, शीतकाल में ओढ़ने की सूती चादर के स्थान पर कम्बल ले लिया करते थे। उनसे पूछा गया कि आपने बिस्तर क्यों नहीं लिया तो हँसकर बोले—'मैं सफर में कम सामान ही पसन्द करता हूँ!' '(I believe in travelling light) सचमुच वे भारतीय आदर्श—'सादा जीवन और उच्च विचार' —के जीवन प्रतीक थे।

दिल्ली से जम्मू की यात्रा उनके जीवन की एक विस्मरणीय घटना थी। जालन्धर-पठानकोट लाइन में डसूया तक, जहाँ रेल सवेरे छह बजे पहुँचती थी, केन्द्रीय जनसंघ के आदेशानुसार कहीं स्वागतार्थ उनका विश्राम भंग नहीं किया गया, किन्तु इससे आगे प्रत्येक स्टेशन पर भारी संख्या में लोग उनका अभिनन्दन करने के लिए उपस्थित थे। उन्होंने उनसे दो-चार शब्द कहने का अनुरोध भी किया। डॉ. मुकर्जी उनकी भावनाओं को ठेस पहुँचाने वाले व्यक्ति नहीं थे, अत: उस दिन उनका प्रथम भाषण प्रात: छह बजे हुआ। गाड़ी प्राय: नौ बजे पठानकोट पहुँची, जहाँ विशाल जनसमूह उनका स्वागत करने के लिए उपस्थित था। इनमें पण्डित प्रेमनाथ डोगरा की श्रद्धा-भावना और तत्परता से अत्यन्त प्रभावित हुए जो सत्तर वर्ष की आयु में भी नवयुवकों-सा उत्साह रखते थे।

डॉ. मुकर्जी को अपने आतिथेय (मेजबान) जस्टिस मेहरचन्द महाजन के सुपुत्र श्री गोपालकृष्ण महाजन के यहाँ पहुँचने के पहले पठानकोट के रेलवे स्टेशन के बाहर ही विशाल जनसभा में भाषण देना था। वे पठानकोट कुल तीन घण्टे ठहरे और इस अल्पकाल में उन्हें प्रेस वालों से तथा एक शिष्टमंडल से वार्ता करनी थी और भोजन भी करना था। एक बजे के लगभग वे अपने दल के साथ जीप में बैठकर रवाना हुए। प्रेस-प्रतिनिधि उनके पीछे स्टेशन-वैगन में थे।

कोई तीन बजे उन्होंने रावी का माधोपुर पुल पार किया। जैसे ही उन्होंने जम्मू और कश्मीर रियासत की सीमा में प्रवेश किया, उनका अभिनन्दन निम्नोक्त गुञ्जायमान नारों से किया गया—

भारत की जय,
कश्मीर भारत का अंग है।
एक देश में दो विधान,
एक देश में दो निशान,
एक देश में दो प्रधान।
नहीं चलेंगे, नहीं चलेंगे।

ये नारे अन्तिम क्षण तक उनके कर्णकुहरों में गूँजते रहे।

रियासत का प्रथम शहर, इसका प्रवेश-द्वार, कठुआ—जहाँ वे पहले-पहल ले

जाये गये—इसी नाम के जिले का केन्द्र स्थान है। यह रावी के पुल से कोई चार मील के फासले पर ही स्थित है और इसकी जनसंख्या उस समय कुल तीन हजार थी। किन्तु दशसहस्र से भी अधिक नर-नारी डॉक्टर साहब का स्वागत करने के लिये वहाँ उपस्थित थे।

परिश्रमी डोगराओं के मुख पर डॉक्टर साहब को जिस उत्साह, तत्परता और दृढ़ निश्चय की झलक मिली, उसने उनके सभी सन्देह दूर कर दिए, जो जम्मू और कश्मीर की उनकी अपेक्षा अधिक जानने का दावा करने वाले उनके कांग्रेसी मित्रों ने उनके हृदय में उत्पन्न कर दिये थे। सबसे अधिक वे इस बात से प्रभावित हुए कि एक-एक व्यक्ति पंडित प्रेमनाथ डोगरा का हृदय से आदर करता था और प्रजा-परिषद् का जनता में अच्छा प्रभाव था। उन्होंने वहाँ अपने छोटे-से भाषण में अपनी मनोभावनायें व्यक्त कीं। उन्होंने बतलाया कि मुझे जम्मू नहीं जाना चाहिए क्योंकि वहाँ प्रजा-परिषद् की रंचमात्र भी मान्यता नहीं है। मैं उनसे कहूँगा कि वे स्वयं यहाँ आकर देखें कि प्रजा-परिषद् का प्रभाव है या नहीं।'

रास्ते तथा सभास्थल में गूँजने वाले गगनभेदी नारों के विषय में उन्होंने कहा, 'आप भारतीय संविधान और भारतीय झण्डा चाहते हैं। आप चाहते हैं कि भारत का प्रधान ही आपका प्रधान हो। ये न्यायोचित तथा देशभक्तिपूर्ण माँगे हैं जिन्हें पूरा करना होगा। जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, मैं आपको केवल यह विश्वास दिला सकता हूँ कि मैं यथाशक्ति प्रयत्न करूँगा।' तत्पश्चात् उन्होंने यह भविष्यवाणी की—

'हम विधान लेंगे या बलिदान देंगे—मैं आपके लिए भारतीय संविधान लूँगा अन्यथा इसके लिए अपने जीवन की बाजी लगा दूँगा।'

कठुआ से जम्मू तक की सत्तर मील की यात्रा एक अविराम जुलूस के रूप में ही हुई। रास्ते भर दूरस्थ ग्रामों में आए हुए दृढ़-संकल्प नर-नारी इस भारतीय नेता का अभिनन्दन करने के लिए खड़े थे, जिसका हृदय उनकी प्रार्थना से द्रवित हो गया था और जो उनकी भावनाओं, कष्टों और समस्याओं को समझने के लिए आया था। लोगों ने स्थान-स्थान पर शोभाद्वार बनाकर वहाँ 'जम्मू केसरी' पंडित प्रेमनाथ डोगरा की फोटो लगाई थी। प्रत्येक मील-दो-मील पर डॉक्टर मुकर्जी को ठहराकर उनसे कुछ कहना आवश्यक हो गया। हीरानगर और साँबा में, जो तहसीलें हैं, डॉक्टर साहब को विराट जनसभाओं में भाषण देना पड़ा।

कार्यक्रम के अनुसार उन्हें कोई छह बजे जम्मू पहुँचना था, किन्तु जम्मू से पच्चीस मील दूर साँबा में उन्हें सात बज गये। डॉक्टर साहब के दर्शनार्थी लोगों के, जो कितनी ही दूर से उनका दर्शन करने आये थे, अप्रत्यांशित उत्साह से ही यह विलम्ब हुआ।

साँबा और जम्मू के मध्यवर्ती ग्रामों के लोग कई घण्टों से उनकी प्रतीक्षा कर

रहे थे। रात्रि होने पर कई लोग निराश होकर घर वापस चले गए, बाकी अपनी-अपनी टार्च व मशाल लेकर वहीं खड़े रहे। वह एक अभूतपूर्व दृश्य था। सुन्दर तोरणों और द्वारों के पास फूल-मालायें फिर आबाल-वृद्ध जनता सूचीभेद्य अन्धकार में अपने प्रिय नेता का स्वागत करने के लिए खड़ी थी। इस बीच वे एक दुर्घटना से बाल-बल बचे। एक चक्करदार मोड़ पर उनकी जीप खाई में गिरते-गिरते बची। इस अवसर पर डॉक्टर साहब को उस ब्राह्मण के शब्द याद आए जिसने जम्मू न जाने की सम्मति दी थी और उन्होंने हँस कर कहा, 'चलो ग्रह टल गये।'

जैसे ही डॉक्टर मुकर्जी की पुष्प-सज्जित जीप जम्मू नगर की सीमा 'तवी पुल' पर पहुँची, गगनभेदी स्वर से जयजयकार करता हुआ मानो मानवता का समुद्र उनके स्वागतार्थ उमड़ पड़ा। लोग पाँच बजे से उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। तवी पुल से पंडित प्रेमनाथ डोगरा की कोठी तक के ढाई मील के रास्ते में अपूर्व सजावट की गई थी और पूरा नगर ही अपने नेता की एक झलक पाने की लालसा से निकल आया था।

दिनभर की लम्बी शान्तिपूर्ण यात्रा के बाद, जिसके बीच डॉक्टर साहब ने कम-से-कम बीस भाषण दिये थे, जब तक वे प्राय: 11 बजे अपने ठिकाने पर पहुँचे, तब तक उन्हें पंडित प्रेमनाथ डोगरा तथा उनकी प्रजा-परिषद् की लोकप्रियता तथा शक्ति का पूर्ण परिचय मिल चुका था। वे यह भी भली-भाँति जान चुके थे कि शेख अब्दुल्ला की कश्मीर से अलग झण्डा और अलग संविधान रखने की चाल के प्रति लोगों की क्या भावनाएँ हैं।

जम्मू पहुँचने के कुछ मिनट बाद ही दूसरे दिन श्रीनगर जाकर शेख अब्दुल्ला से वार्ता करने के लिए जम्मू का डिप्टी कमिश्नर उन्हें शेख की ओर से निमंत्रण देने आया। ऐसा प्रतीत होता था कि शेख अब्दुल्ला के पास जम्मू के वातावरण की सूचना पहुँच चुकी थी और डॉक्टर मुकर्जी सभा में प्रजा-परिषद् का मार्गदर्शन करें, इसके पहले ही वह उनके सम्मुख अपना दृष्टिकोण रखना चाहता था।

डॉक्टर मुकर्जी इस निमंत्रण के लिए तैयार नहीं थे। उनके आतिथेय और जम्मू के लोग यह नहीं चाहते थे कि एक घण्टे के लिए भी उनसे बिछुड़ें किन्तु उन्होंने यह अपना कर्त्तव्य समझा कि वे अपना मत व्यक्त करने के पहले दूसरे पक्ष की सुन लें। उन्होंने इस शर्त पर यह निमंत्रण स्वीकार किया कि वे उसी दिन जम्मू वापस भेज दिये जायें ताकि वे वहाँ निर्दिष्ट समय पर अपना कार्य कर सकें।

वे दस अगस्त को प्रात: 11 बजे हवाई जहाज द्वारा श्रीनगर चले। एयरोड्रोम से वे सीधे शेख अब्दुल्ला के निवास स्थान पर ले जाये गये जहाँ शेख अब्दुल्ला तथा उसके डिप्टी बख्शी गुलाम मोहम्मद से उनकी छह घण्टे तक वार्ता हुई। हवाई जहाज उसी संध्या को दिल्ली के लिए चलने आया था, किन्तु वार्त्तालाप अप्रत्याशित

रूप से लम्बा हुआ। निदान शेख अब्दुल्ला ने उन्हें रात्रि के समय कर्ण में भेजने का प्रस्ताव किया। श्रीनगर छोड़ने के पूर्व डॉक्टर मुकर्जी युवराज कर्णसिंह से, जिन पर उनकी इच्छा के विरुद्ध सदर-ए-रियासत बनाने पर जोर दिया जा रहा था, भी मिले।

डॉ. मुकर्जी कोई आठ बजे कार द्वारा श्रीनगर से रवाना हुए। प्राय: दो बजे बटोट पहुँचकर वे कुछ घण्टे सोए और फिर प्रात:काल यात्रा पर चल पड़े ताकि जम्मू नौ बजे तक पहुँच जाएँ, क्योंकि उन्हें उसी दिन दोपहर को जम्मू से प्रस्थान करना था।

उनके जम्मू पहुँचने के तत्काल बाद ही पंडित प्रेमनाथ डोगरा और प्रजा-परिषद् के अन्य उच्च नेता उनके पास एकत्र हो गए, जिन्हें उन्होंने शेख अब्दुल्ला के साथ हुई अपनी वार्त्ता का सारांश सुनाया और उन्हें कुछ समय तक और धीरज रखने की सम्मति दी। पंडित प्रेमनाथ डोगरा ने उन्हें उनके देखे हुए जनोत्साह का स्मरण कराया और बतलाया कि परिषद् के सभी प्रतिनिधि किसी 'सीधी कार्यवाही' की माँग कर रहे हैं। शान्तिप्रिय डॉ. मुकर्जी का उत्तर उनके अनुरूप ही था। उन्होंने कहा कि सत्याग्रह एक अन्तिम कदम है और यह तभी उठाना चाहिए जब और सभी प्रयत्न विफल हो गये हों। उन्होंने बतलाया कि वे पंडित नेहरू से मिलकर उनके सामने सही स्थिति रखेंगे। तब तक राज्य के अन्दर अपना संगठन बनाना और लोगों को शिक्षित करने का काम जारी रखना चाहिए। उन्होंने आशा प्रकट की कि हो सकता है कि शेख अब्दुल्ला को सद्बुद्धि आ जाए; परन्तु यदि वह अपनी बात पर अड़े रहे तो उन्होंने आश्वासन दिया कि वे प्रजा-परिषद् का हर प्रकार से सहयोग देंगे।

डॉ. मुकर्जी ने कोई आधा लाख लोगों को, जो कड़कड़ाती धूप में परेड ग्राउण्ड में एकत्र हुए थे, उसी लहजे में अपने विचार बतलाए। गम्भीर लोगों ने उनके रुख को पसंद किया, परन्तु कुछ लोग उनकी शान्तिप्रियता को देख बहुत निराश भी हुए।

'स्टेट्समैन' और 'हिन्दुस्तान स्टैण्डर्ड' के विशेष प्रतिनिधियों ने, जो स्थिति को स्वयं देखने के लिये उनके साथ आए थे, अपने पत्रों में लिखा कि डॉ. मुकर्जी ने उन सभी लोगों को शान्त कर दिया जिनका धैर्य निराशा के बिन्दु तक पहुँच चुका था। इस तरह उन्होंने इस प्रश्न का शान्तिपूर्ण समाधान व पारस्परिक सामंजस्य बनाने की दृष्टि से सराहनीय प्रयत्न किया।

दिल्ली आने के तत्काल बाद ही डॉ. मुकर्जी ने पं. नेहरू से लम्बी वार्त्ता की। उन्होंने पं. जी को बतलाया कि स्थिति की गम्भीरता को कम करके बताने में कोई लाभ नहीं है। आगे उन्होंने कहा कि प्रजा-परिषद् किन्हीं असन्तुष्ट और स्वत्वहारा

जमींदारों का संगठन नहीं है। वह योग्य नेतृत्व तथा जनप्रियतासम्पन्न एक प्रजातान्त्रिक राजनीतिक संगठन है। वह जम्मू और कश्मीर में एक शक्ति है, अत: इस पर ऐसे निर्णय लादना, जो देश की एकता और अखण्डता में बाधक होने के कारण इसे मान्य नहीं हैं, अराजनीतिक और भयावह होगा। उन्होंने नेहरू जी को सलाह दी कि वे पं. प्रेमनाथ डोगरा को, जिनकी ईमानदारी और देशानुराग असन्दिग्ध है, अपना विश्वासपात्र बनायें ताकि डोगरों की शक्ति को, जो कश्मीर की स्थिति में एकमात्र विश्वसनीय शक्ति है, जम्मू-कश्मीर रियासत की बाकी भारत के साथ एकता को सुदृढ़ बनाने के लिये काम में लाया जा सके।

शेख अब्दुल्ला और पं. नेहरू, दोनों ने डॉक्टर मुकर्जी के परामर्श की उपेक्षा की। सत्तामद में भूल ये दोनों जम्मू में अपनी दुर्नीतियों के विरुद्ध जनता की भावनाओं की शक्ति और शेष भारत में इसके प्रति जन-साधारण को समझ न सके।

शेख अब्दुल्ला ने 'जुलाई-समझौते' द्वारा स्वीकृत महाराजा के स्थान पर निर्वाचित राज्यप्रमुख और अलग झण्डे-सम्बन्धी बातें तो अपनी मनोनीत एसेम्बली से झट पास करवा लीं, परन्तु नागरिकता के विस्तार, मूलभूत अधिकार और राज्य में भारतीय सुप्रीम कोर्ट के दखल के प्रश्न को स्थगित कर दिया। इस बीच इसके द्वारा नियुक्त की हुई 'कास्टीट्यूशन ड्राफ्टिंग कमेटी' ने ऐसे संविधान की रूपरेखा तैयार की जिसके अनुसार अपनी राष्ट्रीय सभा (National Assembly), सुप्रीम कोर्ट और ध्वजा से युक्त जम्मू व कश्मीर रियासत प्राय: स्वतंत्र राज्य बन जाता। प्रजा-परिषद् के नेताओं को इस ड्राफ्ट कांस्टीट्यूशन की प्रति मिल चुकी थी, जिसे पढ़कर वे राज्य के भविष्य के प्रति और भी चिन्तित हो उठे थे। पंडित प्रेमनाथ डोगरा ने इस ड्राफ्ट संविधान की ओर भारतीय अधिकारियों का ध्यान खींचने के लिए राष्ट्रपति के पास एक स्मृति-पत्र तथा प्रधानमंत्री के पास शिष्टमंडल भेजा। किन्तु उनके सभी प्रयास बुरी तरह विफल हुए। इस पर जम्मू में यह भावना बढ़ने लगी कि नेताओं तथा भारतीय जनता की चेतना का उद्रेक करने के लिए जम्मूवासियों को अपनी शोचनीय दशा को, जिसका समस्त भारत से सम्बन्ध है, बतलाने के लिए बलिवेदी पर चढ़ना होगा। उन्होंने अन्तिम निर्णय करने के लिए पहले पुन: डॉक्टर मुकर्जी से सलाह करने का निश्चय किया।

उक्त निश्चयानुसार पंडित प्रेमनाथ डोगरा डॉ. मुकर्जी से आठ नवम्बर को जालन्धर में मिले जहाँ वे पंजाब प्रान्तीय जनसंघ सम्मेलन के सिलसिले में आए हुए थे। पं. डोगरा ने उनके सम्मुख इस बिगड़ती हुई अवस्था का पूर्ण चित्रण करते हुए बतलाया कि लोगों में यह भावना पनप रही है कि संघर्ष के बिना उनकी समस्या हल नहीं होगी।

दिल्ली में अधिकारीवर्ग को यथार्थता की ओर ध्यान दिलाने में स्वयं डॉ. मुकर्जी को विफलता का अनुभव करना पड़ा था। उन्हें यह विश्वास हो चला था कि पं. नेहरू जनतांत्रिक दबाव की उपेक्षा करते हैं और उनके सम्मुख तर्क, युक्तियों व जनमत का कोई मूल्य नहीं है। जीवन-भर आन्दोलनकारी (Agitator) रहने के कारण पं. नेहरू आन्दोलनात्मक तरीकों से भिन्न किसी और तरीके से कोई बात समझने में शायद असमर्थ थे। इसलिए डॉ. मुकर्जी महसूस करने लगे थे कि वे (प्रधानमंत्री) शक्ति और आन्दोलन के सम्मुख झुकने को तैयार होंगे, किन्तु उस न्याय और तर्क के सामने नहीं झुकेंगे जिसके पीछे शक्ति न हो। वे इसे बहुत दुर्भाग्यजनक समझते थे क्योंकि इससे प्रजातांत्रिक तरीकों में से लोगों की आस्था उड़ जाने की सम्भावना थी, किन्तु उन्हें तो वस्तुस्थिति देखनी थी। अत: उन्होंने पं. डोगरा को बतलाया कि मैंने आपकी न्याय की माँग के लिए भरसक प्रयत्न किया है, किन्तु मुझे उसमें सफलता नहीं मिली है। अतएव मुझे कोई अधिकार नहीं कि मैं आपके हाथ और बाँधे रखूँ। अब अपनी शक्ति और साधनों को देखते हुए प्रजा-परिषद् को स्वयं ही उचित कर्त्तव्य का निर्णय करना चाहिए। उन्होंने आश्वासन दिलाया कि जनसंघ उनकी सहायता करेगा और भारत में जनमत बनाने का प्रयत्न करेगा, क्योंकि उसे (जनसंघ को) यह विश्वास हो गया है कि प्रजा-परिषद् का कार्य समस्त देश का कार्य है।

पं. प्रेमनाथ डोगरा भारी हृदय से जालन्धर लौटे। वे जानते थे कि उन्हें संघर्ष में जम्मूवासियों का नेतृत्व करना होगा और इसके लिए वे बड़े-से-बड़े दुर्भाग्य से टक्कर लेने के लिये तैयार थे। डॉक्टर मुकर्जी इस वयोवृद्ध के आचरण की उच्चता, दृढ़ आस्था और शालीन व्यवहार पर मुग्ध थे। उनके हृदय में इनके प्रति अगाध सम्मान हो गया था।

पं. डोगरा के जम्मू लौटने के बाद शीघ्र ही कश्मीर सरकार ने अपने इस निर्णय की घोषणा की कि 17 नवम्बर को पूरी धूमधाम के साथ जम्मू के सचिवालय पर नेशनल कान्फ्रेंस दल का झण्डा, जिसे किंचित परिवर्तन के साथ राज्य के झण्डे के रूप में स्वीकृति दी जा चुकी थी, लहराया जाएगा। यह जम्मूवासियों को एक खुली चुनौती थी जिसे उन्होंने स्वीकार किया। पं. प्रेमनाथ डोगरा ने घोषणा की कि केवल भारत का राष्ट्रीय झण्डा ही जम्मू पर लहराएगा और उन्होंने लोगों का आह्वान किया कि भारतमाता के अविच्छिन्न अंग होने के अपने अधिकार की रक्षा हेतु बलिदान के लिये तैयार हो जायें।

नेशनल कांफ्रेंस का झण्डा वहाँ नियत दिन नहीं लहराया गया। सरकार अपनी स्थिति की कमजोरी भाँप गई थी। उसने बल-प्रयोग के द्वारा उसे मजबूर करने का प्रयत्न किया। उदारमना पं. नेहरू ने उन्हें सेंट्रल आर्म्ड रिजर्व्ड पुलिस के दस्ते भेज

दिए और उनके पंजाब के प्रतिनिधि ने अश्रुगैसवाहक दस्ते भेजकर उनके पदचिह्नों की वन्दना की। इस प्रकार भली-भाँति सुसज्जित होकर शेख अब्दुल्ला की सरकार ने आतंकनीति शुरू कर दी जिसके लिए जम्मू के लोग पहले ही तैयार थे। पं. प्रेमनाथ डोगरा और प्रजा-परिषद् के संगठन-मंत्री श्री श्यामलाल शर्मा ने जम्मू शहर के मुख्य चौक में भारतीय तिरंगे का आरोहण कर सार्वजनिक सभा में भाषण दिया और दोनों ही गिरफ्तार कर लिये गये। इस प्रकार प्रजा-परिषद् के सत्याग्रह का श्रीगणेश हुआ।

डॉ. मुकर्जी ने भी इसे जम्मूवासियों के प्रति यथाशक्य न्याय प्रस्तुत कर भारत को दूसरे विभाजन से बचाने के लिए अपने कर्त्तव्यों का निर्देशक माना।

17. पूर्वी बंगाल पर साँझा मोर्चा

पूर्वी बंगाल के अल्पसंख्यक हिन्दुओं की करुण दशा और उसके प्रति भारत सरकार के उपेक्षापूर्ण व्यवहार, जिसके कारण डॉ. श्यामाप्रसाद मुकर्जी ने सन् 1950 में मंत्रिमंडल को भी त्याग दिया था, उनके लिए आजीवन चिन्ता का विषय बना रहा। उनके हृदय में पूर्वी बंगाल के उन देशभक्त हिन्दुओं के कल्याण एवं सुरक्षा के प्रति, जो अपनी इच्छा के नितान्त प्रतिकूल पाकिस्तान की कृपा पर छोड़ दिये गये थे, उत्पन्न चिन्ता की भावना उनके उच्च देशानुराग तथा मानवीयतापूर्ण विचारों का प्रतीक थी, उनके मूल में कोई संकीर्ण स्वार्थ अथवा साम्प्रदायिक भाव नहीं था। उनके विचार से पाकिस्तान में हिन्दुओं की अवस्था ही उसके अस्तित्व की कसौटी थी। देश का विभाजन इस स्पष्ट समझौते के आधार पर हुआ था कि इन दोनों नए राज्यों में अल्प-संख्यक जातियाँ जीवन तथा सम्पत्ति की दृष्टि से सुरक्षित रहेंगी और कानून के समान अधिकार दिए जायेंगे तथा उनसे समान व्यवहार ही किया जायेगा। कांग्रेस के बड़े-बड़े नेताओं—महात्मा गाँधी, पंडित नेहरू और सरदार पटेल के पास एक यही तर्क था जिसे वे पूर्वी बंगाल के हिन्दू-प्रतिनिधियों तथा डॉक्टर अम्बेडकर द्वारा प्रस्तुत किए आबादी की अदला-बदली के विरुद्ध प्रयोग में लाते थे। डॉ. मुकर्जी के हृदय में भी पाकिस्तान के हिन्दुओं की दशा पर अनेक शंकाएँ उठा करती थीं जिसके कारण उन्होंने आबादी की सुनियोजित अदला-बदली का समर्थन किया था, किन्तु कांग्रेसी नेताओं ने आश्वासन पाकर उन्होंने स्वयं भी पूर्वी बंगाल के हिन्दुओं को यही आश्वासन दिए थे।

उत्तरोत्तर घटनाचक्र से यह सिद्ध हो गया था कि पाकिस्तान अपने अल्पसंख्यक लोगों के प्रति व्यवहार में खरा नहीं उतर रहा है। भारत सरकार ने उसे यह स्मरण दिलाने की कोशिश की कि विभाजन-समझौते के अनुसार उसका अल्प-संख्यकों के प्रति कुछ उत्तरदायित्व है और उसे पूरा कराने के लिए अनेक छोटे-मोटे समझौते भी किए गए। पं. नेहरू और मि. लियाकत अली का अप्रैल, 1950 का समझौता दोनों राज्यों में अल्पसंख्यक जातियों के प्रति व्यवहार के विषय में इस तरह का तीसरा समझौता था।

पाकिस्तान के साथ किए गए इन सभी समझौतों के प्रति डॉक्टर साहब का विश्वास उड़ गया था, क्योंकि पाकिस्तान उन्हें तोड़ने पर ही तुला था। उन्होंने नेहरू-लियाकत समझौते का विरोध किया था, क्योंकि वे जानते थे कि पहले के दो समझौतों की भाँति यह निरर्थक ही सिद्ध होगा। अपने त्यागपत्र के वक्तव्य में उन्होंने अकाट्य तथ्यों पर आधारित सात युक्तियाँ देकर बतलाया था कि क्यों

पाकिस्तान इस समझौते का आदर नहीं करेगा और हिन्दुओं को खदेड़ने की वृत्ति जारी रहेगी।

दिल्ली समझौते के बाद पाकिस्तान की वास्तविक घटनाओं ने उनकी शंकाओं को सिद्ध कर दिया। लियाकतअली अप्रैल, 1950 में दिल्ली में केवल पाकिस्तान को उस प्रतिकार की अग्नि से, जो भारत में प्रज्ज्वलित हो रही थी, बचाने के लिए ही आया। वह पं. नेहरू को झूठे आश्वासनों से तुष्ट करके स्वर्गीय सरदार पटेल द्वारा बनाई गई पाकिस्तान की समस्या को मूलत: समाप्त करने की योजना को नष्ट करने में सफल हुआ और फिर वापस जाकर पूर्ववत् हिन्दुओं को पाकिस्तान से खदेड़ने के काम में लग गया। इस दृष्टि से पूर्वी बंगाल के सभी थाना-अधिकारियों को गुप्त पत्र भेजा गया, जिसमें उनसे कहा गया, कि सभी प्रमुख हिन्दुओं के शक्ति और प्रभाव-क्षेत्रों का पता लगाओ और पता करो कि उन्हें कैसे समाप्त किया जा सकता है।

इसके कुछ कालोपरान्त ही पूर्वी पाकिस्तान की सभी व्यापारिक संस्थाओं के प्रधानों के पास यह परिपत्र भेजा गया कि वे किसी गैर-मुस्लिम को नियुक्त करने से पहले जिलाधीश की अनुमति लें। यह स्पष्ट ही था कि कोई भी व्यापारिक संस्था किसी हिन्दू को नियुक्ति देकर सरकार को नाराज करना नहीं चाहेगी और न जिलाधीश से स्वीकृति-झंझट मोल लेना ही उसे इष्ट होगा।

इसके कुछ समय बाद ही सभी जिलाधीशों के पास चौदह पृष्ठ का एक गुप्त परिपत्र भेजा गया जिसमें आदेश था कि वे वापस आने वाले हिन्दुओं को उनकी जमीन-जायदाद न देकर उसे मुसलमान शरणार्थियों में वितरित कर दें। यह परिपत्र पाकिस्तान संविधान-सभा के एक सदस्य श्री भूपेन्द्रकुमार दत्त ने संविधान-सभा के सामने पेश कर इस षड्यंत्र का भंडा-फोड़ कर दिया। इस परिपत्र में जिलाधीशों को यह भी आदेश था कि इनसे इतर बातों में वे 'अल्पसंख्यकों और उनके प्रतिनिधियों के साथ हासयुक्त मधुरसम्भाषण किया करें।' अन्तिम सत्परामर्श यह था कि 'इस आदेश को गुप्त रखो, दूसरे आफसरों पर विश्वास न करो, वे कभी-कभी काम बिगाड़ देते हैं।'

इसके फलस्वरूप दिल्ली में इतनी धूमधाम से हस्ताक्षर किये गये 'नेहरू-लियाकत समझौता' जन्म के कुछ समय बाद ही मृतप्राय: हो गया। पाकिस्तान ने हिन्दुओं के निष्कासन की नीति जारी रखी, किन्तु अब उन्होंने इस बात का ध्यान रखा कि हिन्दुओं को एकदम अधिक संख्या में न निकाला जाए, क्योंकि उससे उनके मित्र पं. नेहरू की स्थिति खराब होने और भारतीय जनता की प्रतिक्रिया का उग्र रूप लेने का खतरा बढ़ सकता था।

परिणामस्वरूप पूरे वर्ष 1950 और 1951 में पूर्वी बंगाल के हिन्दुओं का

अविराम, परन्तु थोड़ा-थोड़ा आगमन बना रहा। किन्तु 1951 के अंत में रावलपिण्डी में लियाकतअली खाँ की हत्या के बाद, जिसे पाकिस्तानी शत्रुओं का कार्य कहा गया—संकेत भारत और हिन्दुओं की ओर ही था—फरवरी व मार्च, 1950 की घटनाओं की पुनरावृत्ति करने की कोशिशें की जाने लगीं। पूर्वी बंगाल के विभिन्न क्षेत्रों में हिन्दुओं की हत्या व लूट के काण्ड तथा स्त्रियों का मनमाना अपमान होने लगा। फलतः पूर्वी बंगाल के हिन्दुओं में अपनी असुरक्षा की भावना, जिसे दिल्ली पैक्ट दूर करने में असमर्थ था, और भी दृढ़ हो गई। परिणाम यह हुआ कि वे अपनी मान-मर्यादा बचाने के लिए बृहत् संख्या में अपना चूल्हा-चक्की व घर-घाट छोड़कर निकलने लगे।

मई, 1952 में नवनिर्वाचित लोकसभा के उद्घाटन-सत्र में राष्ट्रपति के भाषण पर बोलते हुए डॉ. मुकर्जी ने पूर्वी बंगाल से आने वाली भारी जनसंख्या की ओर विशेष रूप से प्रधानमंत्री का ध्यान आकर्षित किया, किन्तु पं. नेहरू ने इसका कोई उत्तर नहीं दिया बल्कि इससे भी बढ़कर बात यह हुई कि दोनों में गरमागरमी हो गई। वाद-विवाद का उत्तर देते समय पंडित नेहरू ने स्थिति की न केवल गम्भीरता ही कम की अपितु यह कहकर भारत के विरुद्ध पाकिस्तान को प्रचार करने के लिए शह भी दी कि यहाँ भी अल्पसंख्यकों के साथ वैसा ही बुरा व्यवहार हो रहा है।

पाकिस्तान ने भारत के प्रधानमंत्री के इस रवैये का पूरा लाभ उठाया। हिन्दुओं को आतंकित कर उन्हें मुसलमान बनाने अथवा पाकिस्तान से खदेड़ने का आन्दोलन तेज कर दिया गया। इससे पाकिस्तान के शासकों को पूर्वी बंगाल के बंगाली मुसलमानों की स्वायत्तशासन की माँग की ओर से ध्यान हटाने में भी बड़ी सहायता मिली। हिन्दुओं का अपमान अभी शायद अधूरा था, उसे पूरा करने के लिए अपनी मर्यादा की रक्षा के लिए पश्चिमी बंगाल जाने वाली युवा हिन्दू कन्याओं को रोकने के लिए उन पर 'गर्ल्स रिलीज ड्यूटी' लगा दी गई। लड़कियों के अभिभावक या तो यह टैक्स दें, नहीं तो अपनी बहन-बेटियों को पाकिस्तानी गुण्डों के हवाले करें।

इससे बढ़कर भारत तथा पाकिस्तान में आवागमन के लिए पासपोर्ट तथा विसा चालू करने की तैयारियाँ की जाने लगीं। ऐसा करने में पाकिस्तान का यह प्रयोजन था कि एक बार ही बृहत् संख्या में हिन्दुओं का जाना रोका जा सके ताकि भारत में इसकी कोई तीव्र प्रतिक्रिया न हो। अतः अब उसकी यह सुनियोजित नीति थी कि हिन्दुओं को अब थोड़ी-थोड़ी संख्या में निकाला जाए, बाढ़ के रूप में नहीं। साथ ही पाकिस्तान निम्न वर्ग के हिन्दुओं में, जिनमें अधिकतर शिल्पी थे, इस्लाम को स्वीकार करने के लिए एक तरह की विवशता पैदा करना चाहता था, क्योंकि

इन लोगों का वहाँ बने रहना पूर्वी बंगाल की उखड़ी अर्थव्यवस्था को बनाने के लिए आवश्यक था।

किन्तु प्रारम्भ में इसका उल्टा ही परिणाम रहा। पूर्वी बंगाल के हिन्दू यह सोचने लगे कि शायद उन्हें यहीं बन्द रखने के लिए यह प्रणाली बनाई गई है, ताकि वे भारत जाकर अपने प्राण और प्रतिष्ठा की रक्षा न कर सकें। यह सोचकर कई हिन्दुओं ने पासपोर्ट प्रणाली शुरू होने से पहले ही भारत आने का निश्चय कर लिया। अंसार तथा अन्य पाकिस्तानियों के बढ़ते हुए अत्याचारों एवं पाकिस्तान सरकार की सक्रिय उपेक्षा से परिस्थिति और भी गम्भीर हो गई। परिणामस्वरूप लाखों हिन्दू अपने घरबार छोड़कर भारत-पाक सीमा स्थल की ओर आने लगे। परिस्थिति वैसी ही हो गई जैसी 'नेहरू-लियाकत समझौते' के पहले सुनियोजित हत्याकाण्ड के समय थी।

जैसे-जैसे ये शरणार्थी विपुल संख्या में कलकत्ता पहुँचे और अपनी दु:ख-गाथा सुनाने लगे, वैसे ही वैसे पश्चिमी बंगाल तथा शेष भारत में एक तहलका-सा मच गया। डॉ. श्यामाप्रसाद मुकर्जी इस स्थिति से बहुत आतुर हो उठे। उन्होंने तत्काल ही भारत सरकार से इस विषय में बातचीत की और सरकार से आग्रह किया कि वह पासपोर्ट प्रणाली का विरोध करे और पाकिस्तान के प्रति एक दृढ़ और निश्चित नीति रखकर उस पर अल्पसंख्यक हिन्दुओं के प्रति शिष्ट सरकारोचित व्यवहार रखने लिए दबाव डाले। उन्होंने पं. जवाहरलाल नेहरू से प्रार्थना की कि वे पूर्वी पाकिस्तान से आने वाले लोगों के कारण पश्चिमी बंगाल में उत्पन्न हुई दशा को अपनी आँखों देखें।

प्रारम्भ में इनकी प्रार्थनाओं पर कोई ध्यान नहीं दिया गया और 15 अक्टूबर, 1952 को पासपोर्ट प्रणाली चालू कर दी गई। इससे एक नई समस्या उत्पन्न हो गई। लाखों हिन्दू, जो पूर्वी बंगाल के विभिन्न क्षेत्रों में स्थित अपने घर-घाट छोड़कर अब सीमान्त के रेलवे स्टेशनों तथा नौकाघाटों पर विवश व किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर पड़े थे। वे न केवल वर्षा तथा आतप से त्रस्त थे वरन उन्हें पाकिस्तानी गुण्डों से अपनी थोड़ी-बहुत जोखों की कमाई की लूटखसोट व महिला-वर्ग की मानहानि का भी भय था। पासपोर्ट के नियम इतने कठिन और उलझे हुए थे कि एक साधारण व्यक्ति के लिए यह समस्या बन गई थी। पासपोर्ट के निवेदन-पत्र पर लगाने के लिए पोस्टकार्ड के आधार की फोटो की दर चालीस रुपये प्रति फोटो हो गई थी।

इस परिस्थिति से पश्चिमी बंगाल की सरकार भी पंडित नेहरू से डॉ. मुकर्जी जैसे जन-नेताओं के आग्रह पर ध्यान देने और वहाँ स्वयं आकर पाकिस्तान के विरुद्ध कोई प्रभावात्मक कार्यवाई करने का अनुरोध करने पर विवश हो गई।

फलत: असम जाते हुए पं. जवाहरलाल नेहरू 12 और 19 नवम्बर, 1952

को कलकत्ता ठहरे। डॉ. मुकर्जी ने उन्हें एक स्मृतिपत्र दिया जिसमें उन्होंने इस समस्या का विस्तृत विश्लेषण कर यह परामर्श दिया था कि अगर पूर्वी बंगाल के हिन्दुओं की समस्या सुलझानी है तो अवश्य ही पाकिस्तान पर कोई प्रभावकारी दबाव डालना चाहिए। परिस्थिति की गम्भीरता का अनुमान केवल आने वाले शरणार्थियों की संख्या से ही—वह संख्या भी कोई कम नहीं-नहीं लगाना चाहिए, अपितु उन हालात को देखना चाहिए जो इतने लोगों को अपना घरबार छोड़कर शरणार्थी बनने के लिए विवश कर रहे हैं। उन्होंने सुझाव दिया कि पहली बात यह करनी चाहिए कि पाकिस्तान के ऊपर आर्थिक दबाव डाला जाए और इसका वांछित परिणाम न निकलने पर सरदार पटेल तथा स्वयं पं. नेहरू द्वारा सोचे गये 'अन्य तरीके' अपनाये जायें। किन्तु पं. नेहरू के सम्मुख इनकी सभी अपीलें और तार्किकता व्यर्थ हुईं।

किन्तु वे निराश होने वाले नहीं थे। उन्होंने फौरन ही देश में जागरण कर, उसे स्थिति की गम्भीरता से अवगत करा अपनी न्यायोचित बात के समर्थन में जनमत बनाने का निश्चय कर लिया। उन्होंने इस समस्या को प्रान्तीय या साम्प्रदायिक समस्या न समझकर हमेशा देशव्यापी महत्त्व की राजनीतिक समस्या माना था। एतदर्थ उनकी यह कोशिश थी कि राष्ट्रीय समस्या मानकर उसे सुलझाने में सभी पार्टियों को सहयोग देना चाहिए। इसी विचार से वे बारम्बार पं. नेहरू से आग्रह कर रहे थे कि वे प्रधानमंत्री तथा देश की सबसे बड़ी राजनीतिक संस्था के अध्यक्ष होने के नाते आगे बढ़कर इस मामले को हाथ में लें।

किन्तु इतनी अनुनय-विनय के प्रति पंडित नेहरू के रवैये से उन्हें यह स्पष्ट प्रतीत होने लगा कि या तो उन पर आग्रह और तर्क का कोई प्रभाव नहीं पड़ता या वे ऐसा दायित्व लेने में असमर्थ हैं। तब उन्होंने स्वयं ही इस विषय में कुछ करने का निश्चय किया।

उन्होंने पश्चिमी बंगाल की समस्त गैर-कांग्रेसी तथा गैर-कम्युनिस्ट पार्टियों के नेताओं से परामर्श कर पूर्वी बंगाल के हिन्दुओं के विषय में संयुक्त मोर्चा बनाने के उद्देश्य से इन सभी पार्टियों की एक कान्फ्रेंस बुलाई। यह तो स्पष्ट ही था कि पार्टी के रूप में कांग्रेस इस संयुक्त मोर्चे में सम्मिलित न होगी। कम्युनिस्टों ने, जिनका इतिहास राष्ट्रघातक कार्यवाइयों से भरा है, अपनी प्रकृति के अनुरूप ही पाकिस्तान की नीतियों का पक्ष लिया। उन्होंने सुझाव दिया कि पाकिस्तान में एक सद्भावना-मण्डल भेजा जाना चाहिए और साथ ही उन्होंने डॉक्टर मुकर्जी तथा उनके सहयोगियों की निन्दा करनी आरम्भ कर दी।

किन्तु इन सब बातों के बावजूद डॉ. मुकर्जी अन्य सभी पार्टियों का एक संयुक्त मंच बनाने में सफल हो गए। गैर-कांग्रेसी और गैर-कम्युनिस्ट पार्टियों की

16 अक्टूबर को कलकत्ता मैदान में और 26 अक्टूबर को गाँधी मैदान, दिल्ली में विराट् सार्वजनिक सभाएँ हुईं, जिनमें पाकिस्तान के प्रति भारत सरकार की नीति और पाक-स्थित अल्प-संख्यक हिन्दुओं के प्रति उपेक्षाभाव की प्रजासोशलिस्ट पार्टी के अध्यक्ष आचार्य जे.बी. कृपलानी, श्री एन.सी. चटर्जी तथा डॉक्टर मुकर्जी आदि नेताओं ने कड़ी आलोचना की।

कलकत्ता की सभा में अध्यक्षपद से भाषण देते हुए डॉ. मुकर्जी ने पाकिस्तान में अल्पसंख्यकों के प्रति दुर्व्यवहार से सम्बद्ध आधारभूत बातों पर प्रकाश डाला। उन्होंने कहा कि भारत का विभाजन कोई महायुद्ध के परिणामस्वरूप नहीं था। वह तो साम्प्रदायिक मनोमालिन्य को दूर करने की आकांक्षावश किया गया एक समझौता था, जिसकी मूल शक्ति यह थी कि सभी जातियों के लोग दोनों देशों में अपनी-अपनी सरकार द्वारा पूर्ण सुरक्षा के साथ रहेंगे।

उन्होंने घोषणा की कि 'अल्पसंख्यक लोगों की सुरक्षा की जिम्मेदारी निभाने में पाक सरकार की स्वेच्छित स्थायी विफलता के कारण भारत इस विभाजन की पूरी समस्या का पुनः परीक्षण करे और तदनुसार किसी भी आत्माभिमानी देश के समान कार्यशील हो। यह केवल उन दुःखी प्रयाणकर्ता लोगों की ही निवारणीय मुसीबत नहीं है। अगर यह निष्क्रमण न रोका गया तो इससे केवल उत्तर-पश्चिमी भारत की ही नहीं, अपितु समस्त देश की सुरक्षा खतरे में पड़ जायेगी।'

इसके आगे उन्होंने कहा, 'हमारी अपनी सरकार की कमजोरी और अस्थिरता के कारण ही इस तरह अशिष्ट व्यवहार करने में पाकिस्तान की हिम्मत बढ़ती जा रही है। अगर भारत सरकार दृढ़ता की नीति अपनाती और पाक सरकार यह समझती कि उसके अपने देश के कुकृत्यों का उसकी आर्थिक-राजनीतिक दशा पर आघातकारी प्रभाव पड़ेगा, तब वह ऐसा कभी न करती।'

उन्होंने घोषणा की, 'दिल्ली-पैक्ट तो मृत होकर, समाप्त हो चुका है। भारत और पाकिस्तान के मध्य कई समझौते हो चुके हैं, परन्तु क्रियात्मक रूप में उनकी पाक द्वारा अवहेलना ही होती रही हैं उन्होंने माँग की कि यह तुष्टीकरण की, समझौतों की ओर देखें क्या होता है वाली नीति अवश्यमेव बदली जानी चाहिए।'

तत्पश्चात् पहली और दूसरी नवम्बर, 1952 को उन्होंने कलकत्ता में अखिल भारतीय स्तर पर पूर्वी बंगाल अल्पसंख्यक सम्मेलन किया। श्रीमती सुचेता कृपलानी की अध्यक्षता में यूनिवर्सिटी इंस्टीट्यूट हाल में सम्पन्न यह सम्मेलन डॉ. श्यामाप्रसाद मुकर्जी की राजनीति, विद्वता, रचनात्मक मस्तिष्क और संगउनात्मक योग्यता का ज्वलन्त प्रमाण था। वे ही इस समस्त आयोजन के संचालक थे। एक राष्ट्रीय नेता के रूप में उन्हीं का सामान्य और यथार्थवादी दृष्टिकोण था जो विभिन्न विचार वाले, परस्पर शत्रुभाव रखने वाले तत्त्व, यथा प्रजासोशलिस्ट, क्रान्तिकारी सोशलिस्ट

और हिन्दूसभाई राष्ट्रीय हित के लिए साँझे मंच पर आ विराजे थे।

उक्त अखिल दलीय सम्मेलन ने सर्वसम्मति से यह माँग की कि पाकिस्तान पर आर्थिक दबाव डाले जायें। इस दृष्टि से पहले कदम के रूप में उसे आवश्यक सामान भेजना बन्द किया जाये। साथ ही यह माँग की गई कि दोनों बंगालों के मध्य पासपोर्ट तथा विसा प्रणाली हटा ली जाये क्योंकि इसे सीमा के दोनों ओर के वासियों को अनगिनत कठिनाइयाँ हो रही हैं।

2 नवम्बर को विलिंगडन स्क्वेयर में एक विशाल जनसभा के बाद सम्मेलन समाप्त हुआ। डॉ. मुकर्जी तथा अन्य पार्टियों के प्रतिनिधियों ने समस्या की तात्कालिकता पर जोर दिया और जनता को अपने पाक-स्थित भाइयों के प्रति न्याय जुटाने के लिए त्याग करने के लिए आह्वान किया।

कुछ दिन बाद पार्क सर्कस मैदान में आयोजित दूसरी विराट सभा में, जिसमें बहुत-से मुसलमान भी उपस्थित थे, डॉ. मुकर्जी ने उन्हें सर्वदलीय सम्मेलन की माँग का अनुमोदन करने का निवेदन किया। उन्होंने कहा कि पाकिस्तान की सरकार मानवता की शत्रु प्रमाणित हो रही है अतएव यह प्रत्येक व्यक्ति का, भले ही वह हिन्दू हो या मुसलमान, पुनीत कर्त्तव्य है कि वह जहाँ कहीं भी मानवता त्रस्त की जा रही हो, वहाँ आतताइयों के विरुद्ध अपनी आवाज उठाए।

देशभर में जनता को इस गम्भीर समस्या से अवगत कराने और जनमत बनाने के उद्देश्य से उन्होंने देश की सभी गैर-कांग्रेसी और गैर-साम्यवादी पार्टियों के नेताओं के हस्ताक्षर से युक्त एक अपील निकाली कि सभी पार्टियों के सम्मिलित तत्त्वाधान में 23 नवम्बर को देशभर में अखिल भारतीय पूर्वी बंगाल अल्पसंख्यक अधिकार दिवस मनाया जाये। इन नेताओं में सर्वश्री डॉ. मुकर्जी, आचार्य कृपलानी तथा सुचेता कृपलानी, एन.सी. चटर्जी, मास्टर तारासिंह, जनरल मोहनसिंह, अग्रगामी दल के आर.सी. रुइकर, किसान मजदूर पार्टी के एस.एस. मोर और परिगणित जाति संघ के राज भोज आदि सम्मिलित थे।

इसके पहले डॉ. श्यामाप्रसाद मुकर्जी ने एक बार फिर 15 नवम्बर को पूर्वी बंगाल के हिन्दुओं का केस अपनी अत्यन्त प्रभावशाली वक्तृता द्वारा लोकसभा के समक्ष प्रस्तुत किया। इस विषय में लोकसभा में उनका यह अन्तिम भाषण था। उन्होंने स्वतंत्र भारत के 36 करोड़ व्यक्तियों की प्रतिनिधि रूपी लोकसभा से अपील की 'वह एक बार ही सदा के लिए यह सोच लें कि क्या वर्तमान परिस्थितियों में अल्पसंख्यकों के लिए पाकिस्तान में रहना सम्भव हो सकेगा? यही एक आधारभूत प्रश्न है। अगर संसद इसे सम्भव नहीं समझती तो यह निर्णय करे कि स्वतन्त्र भारत सरकार उनके संरक्षणार्थ कोई प्रभावकारी कदम उठा सकती है या नहीं'

उन्होंने पं. जवाहरलाल नेहरू को यह स्मरण दिलाया कि अन्य कांग्रेसी नेताओं के सामने उन्होंने भी विभाजन के समय पूर्वी बंगाल के हिन्दुओं को उनकी रक्षा का पूरा-पूरा प्रतिज्ञापूर्ण आश्वासन दिया था। डॉक्टर मुकर्जी ने अगस्त, 1946 में उनके भाषण का वह अंश भी स्मरण कराया जिसमें नेहरू जी ने कहा था–

'हम अपने उन भाई-बहनों के लिए भी सोच रहे हैं जो राजनीतिक सीमाओं के कारण हमसे विच्छिन्न हो गए हैं और हमारे साथ इस स्वाधीनता के भागी नहीं हो सकते। वे हमारे हैं और हमारे ही रहेंगे, भविष्य के गर्भ में चाहे कुछ भी हो, हम परस्पर सुख-दुख में बराबर भागी रहेंगे।'

फिर उन्होंने पं. नेहरू को स्वतंत्र भारत के प्रधानमंत्री के नाते आह्वान किया कि वे उन महान् शब्दों में की गई अपनी प्रतिज्ञा पूरी करें।

केन्द्रीय मंत्री के नाते ख्वाजा निजामुद्दीन तथा मि. गुलाम मोहम्मद के साथ अपनी भेंटों के अनुभवों का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा, 'ये सब नितान्त कटु तथा करुण अनुभव थे जो इस पाँच वर्षों में बराबर पुनरावृत्त हो रहे हैं।' उन्होंने पं. नेहरू को उनका फरवरी 1950 का एक वक्तव्य याद कराया जिसमें उन्होंने कहा था, 'शान्तिपूर्ण तरीकों के विफल होने पर सरकार अन्य तरीकों का प्रयोग करेगी।'

और फिर पूछा–'क्या इन दूसरे तरीकों को अपनाने का समय अभी नहीं आया है?'

उन्होंने सरकार से मूलभूत प्रश्न पूछा, 'क्या आप मानते हैं कि आप पर अल्पसंख्यकों की रक्षा का दायित्व है?' उन्होंने पं. नेहरू को याद कराया कि उन्होंने फरवरी, 1950 में कहा था, 'अल्पसंख्यक हमारे हैं और हमें उनकी रक्षा का प्रबन्ध करना होगा। हम उन्हें या तो अपने-अपने घरों में वापस ले जाकर बसाएँगे या उनका अन्य स्थानों पर प्रबन्ध करेंगे।'

इस सम्बन्ध में उन्होंने पूर्वी बंगाल के कुछ हरिजन प्रतिनिधियों का प्रसंग उठाया जो अपने धर्म और मर्यादा की रक्षा के लिए भारत आये थे, किन्तु फिर वापस पाकिस्तान चले गये। उन्होंने डॉक्टर मुकर्जी को बताया था कि 'हम भारत में विस्थापित होने के लिए आए थे, हमारा उद्देश्य पूरा न हुआ। हमारे बच्चे मर गये। अब हम वापस जा रहे हैं। हमने भला कौन-सा अपराध किया है? हम पाकिस्तान नहीं चाहते थे। आपने हमसे वहाँ रहने के लिए कहा और हमें इतनी मुसीबतें केवल इसलिए सहनी पड़ रही हैं कि हम हिन्दू हैं। हम इस्लाम ग्रहण कर आत्मसर्म्पण कर देंगे।'

इसके बाद डॉक्टर मुकर्जी ने पूछा–

'क्या इससे भारत को यश मिलेगा? क्या वह इस पर कभी गर्व कर सकेगा?' 'मेरे विचार से इस समस्या के प्रति दो बातें विचारणीय हैं। पहला

पुनर्वास और दूसरा उन लोगों का भविष्य जो अभी तक पाकिस्तान में हैं। स्वभावतः ही पुनर्वास जारी रहना चाहिए, किन्तु यह कोई सरल काम नहीं है। यदि लोग बराबर आते गए तब आपकी पुनर्वास योजनायें कभी सफल नहीं होंगी और बनी-बनाई ही रह जायेंगी। यदि और पचास-साठ लाख व्यक्ति पाकिस्तान से निकाले जाकर यहाँ आ गए तो आप क्या करेंगे?'

उन्होंने आगे कहा कि 'जिस आधार पर देश का विभाजन हुआ है। यह उसके सर्वथा प्रतिकूल है। हमने किन्हीं शर्तों पर ही पाकिस्तान को स्वीकार किया था। जब पाकिस्तान उन मूलभूत शर्तों पर ही अमल नहीं करता तो विभाजन का मूलाधार खत्म हो जाता है। इस दृष्टि से विभाजन का समझौता खत्म हो चुका है और उसके सम्बन्ध में भारत किसी ढंग से बँधा हुआ नहीं है। ये केवल मेरे शब्द ही नहीं हैं। प्रधानमंत्री स्वयं यह कह चुके हैं कि विभाजन की मूल शर्त ही यही है कि पाकिस्तान अल्पसंख्यकों की रक्षा करेगा।'

उन्होंने आगे कहा, 'हमने, अपने कर्त्तव्य का पालन किया है। भारत ने अपने अल्पसंख्यकों की रक्षा की है।'

वे इस समस्या के संकुचित व साम्प्रदायिक समाधान के विरुद्ध थे। उनका मत था कि 'यह एक राष्ट्रीय समस्या है और हमें इसके लिए राष्ट्रीय समाधान ही ढूँढना चाहिए।' पाकिस्तान में कत्ल किए गए हिन्दुओं का बदला लेने के लिए कुछ निरपराध मुसलमानों की हत्या करना जघन्य व अमानवीय होगा। हिन्दुत्व का सही अर्थ यह है कि अगर कोई व्यक्ति गलती करता है तो उसे सजा दो और आप एक निर्दोष व्यक्ति का गला घोंटते हैं तो इससे वातावरण सहज ही विषाक्त हो सकता है, इससे लोगों की कोई रक्षा नहीं होती।'

डॉ. मुकर्जी के पास हिन्दुओं के जान-बूझकर किए गए कत्लेआम तथा हिन्दू-महिलाओं के सतीत्व-अपहरण की सैंकड़ों रिपोर्टें आई थीं। उन्होंने कुछ रिपोर्टें लोकसभा में प्रस्तुत कीं, जिन्हें सुनकर कई कांग्रेसियों की आँखें भी छलछला गई थीं। डॉ. साहब ने पंडित नेहरू से करुण प्रार्थना की कि वे 'किंचित् असुरक्षा के, बाकी सब ठीक है' ऐसे कथनों द्वारा स्थिति की गम्भीरता को कम करने का प्रयत्न न करें। वे अपनी विवशता अवश्य प्रकट कर सकते हैं, लेकिन भगवान् के लिए सत्य पर पर्दा न डालें। यह तो जले पर नमक छिड़कने जैसा होगा। आप उनकी रक्षा करने में असमर्थ हों तो हों, उनकी सहायता करने में असमर्थ हों तो हों, परन्तु स्थिति की गम्भीरता को कम न कीजिए। 'यह हमारा दुर्भाग्य है,' उन्होंने आगे कहा, 'पिछले दिनों प्रधानमंत्री ने जो वक्तव्य दिए हैं, वे भारत के विरुद्ध पाकिस्तानी प्रॉपेगेण्डा का कार्य ही करेंगे।'

इसका निदान क्या हो, इस पर बोलते हुए उन्होंने स्पष्ट कहा कि वे इस

समस्या को सुलझाना चाहते हैं और इस कार्य में सरकार को अधिक-से-अधिक सहयोग देने को तत्पर हैं। उन्होंने कहा, 'हम नहीं चाहते कि लोग घुला-घुलाकर मारे जाएँ। अगर उन्हें मरना ही है तो उन्हें एक बार ही में मर जाने दो। यह तो भयानक विपत्ति और अपमान की दारुण श्रृंखला है। इसका असर केवल पीड़ित व्यक्ति पर ही नहीं पड़ता अपितु इससे राष्ट्र की मान-मर्यादा को भी धक्का लगता है।'

'हमने इसके कुछ हल ढूँढे हैं। कुछ और भी सुझाये जा सकते हैं। इनमें से आर्थिक दबाव भी एक है। भूमि की माँग भी एक है, यह सरदार पटेल की सूझ थी। अगर जनसंख्या के एक तिहाई हिन्दुओं को धक्का देकर निकाला जाता है तो पाकिस्तान को भूमि का तिहाई अंश देना ही चाहिए। हम पाकिस्तान की गलतियों व दुर्व्यवहार के कारण समस्त भारत को नष्ट नहीं कर सकते। पाकिस्तान का पुनर्विभाजन होना चाहिए और इन निर्वासित लोगों को वहाँ बसाना चाहिए।'

इसके बाद उन्होंने गाँधीजी द्वारा बताए गए एक हल का उल्लेख किया। उन्होंने राजकुमारी अमृतकौर के साथ एक बार गाँधीजी से इस पर वार्त्ता की थी। उन्होंने कहा था कि 'भारत को अपना कर्त्तव्य पूरा करने दो; अल्पसंख्यकों की रक्षा करो। एक व्यक्ति को भी यहाँ से निकाल बाहर न करो, और तब पाकिस्तान से कहो हमने तो अपनी बात पूरी की है, किन्तु तुमने नहीं की,' फिर यह एक विश्व समस्या और नैतिक समस्या बन जायेगी। यदि पाकिस्तान सही दिशा में कदम नहीं उठाता और अगर कोई चारा नहीं रहता तो आपको अवश्य पूर्वी बंगाल का चार्ज ले लेना चाहिए। सरकार चार्ज ले और लोगों की रक्षा करे।'

'मैं कोई युद्ध का पक्ष नहीं ले रहा हूँ। अगर पूर्वी पाकिस्तान के अल्पसंख्यकों की सुरक्षा का इसके सिवाय कोई चारा न हो तो सरकार को एक दिन इस पर सोचना ही पड़ेगा।' उनका विचार था कि 'ऐसी स्थिति का निर्माण पूर्णतः रोका जा सकता था, बशर्ते प्रधानमंत्री यह घोषणा कर दें कि हमारी सरकार दृढ़ता से कार्य करेगी और दुर्बलता या तुष्टीकरण की कोई भी नीति नहीं अपनाएगी, क्योंकि पाकिस्तान अपनी गुण्डागर्दी को लड़ाई की हद तक ले जाने को तैयार नहीं, वह तो बिना किसी बलिदान के नफे का सौदा करना चाहता है।'

उन्होंने पाकिस्तान के प्रति पं. नेहरू की तुष्टीकरण तथा उसके पोषण की नीति की भर्त्सना की। उन्होंने कहा, 'मुझे बहुत आश्चर्य होता है जब पं. नेहरू कहते हैं कि मैं इसका कोई हल नहीं ढूँढ सकता। मुझे उनसे सहानुभूति है, किन्तु वे तुष्टिकरण को बड़ा महत्त्व देते हैं और इस ओर बराबर क्रियाशील हैं, किन्तु किसकी कीमत पर? अगर वे अपनी स्वयं की कीमत पर करते हैं तो मुझे कोई शिकायत नहीं, किन्तु उन्हें इसके लिए देश को दाँव पर लगाने का क्या अधिकार

है? यह भारत की प्रतिष्ठा और आत्म-सम्मान का प्रश्न है। भावी घोर विपत्ति के निवारणार्थ कुछ करना आवश्यक है।

'और यह मूलतः सरकार का कार्य है कि वह इस समस्या का कोई हल ढूँढे। विरोधी दल तो सुझाव तथा सहयोग मात्र ही दे सकते हैं।' उन्होंने सरकार से कोई प्रभावकारी हल ढूँढ़ने का अनुरोध किया जिससे लोग अपने मौलिक अधिकारों के साथ शरणार्थी, भिक्षार्थी अथवा दास के रूप में बरबाद हुए बिना रह सकें।

पं. नेहरू को दिलासा देकर मामला सुलझाने के सिद्धान्त का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा, 'प्रधानमंत्री प्रायः कहते हैं कि उन्हें सांत्वना देने की नीति में विश्वास है। यह सत्य है, किन्तु इस सांत्वना के साधन क्या हैं? अगर कहीं नासूर हो रहा है तो क्या वहाँ चन्दन का तेल लगाकर इलाज किया जायेगा? आपको उसकी जड़ तक जाना पड़ेगा कि बीमारी क्या है?'

उन्हें सबसे अधिक दुख इस बात का था कि 'सरकार वास्तविक समस्या से जी चुरा रही है। वह कह देती है कि कोई समस्या नहीं है, लोग नहीं आ रहे हैं। सत्य तो यह है कि लोग आएँ या नहीं, बीमारी वहाँ विद्यमान है।' आगे उन्होंने 1950 में दिए हुए अपने एक सुझाव की पुनरुक्ति करते हुए कहा, 'आप जब तक अपनी पत्नियों और बहनों के साथ वहाँ जाकर बस नहीं सकते तब तक आप इन लाखों व्यक्तियों की पीड़ा को हृदयंगम नहीं कर सकते।'

अन्त में उन्होंने सरकार से यह अनुरोध किया कि गाँधीवादी विचारधारा की चर्चा न करे, क्योंकि गाँधीजी चाहे जो भी रहे हों, उनकी विचारधारा में कायरता को स्थान नहीं था। वे ऐसे अवसर पर कभी भी निष्क्रिय और विवश होकर नहीं बैठते थे। उनका दर्शन था, 'सम्भव हो तो अहिंसा के साथ प्रतिरोध करो, आवश्यक हो तो हिंसा का भी प्रयोग करो, किन्तु अन्याय के विरुद्ध कभी न झुको।'

'मैं सरकार से कहूँगा कि इस दर्शन को (नीति रूप में) ग्रहण करे और इस राष्ट्र-घातक अन्याय का प्रतिरोध करे।'

पूर्वी बंगाल के लाखों हिन्दुओं के विषय में इस प्रभावात्मक, मार्मिक तथा ओजस्वी भाषण को सम्पन्न करते हुए उन्होंने जो शब्द कहे, उन पर आज भी ध्यान देने की आवश्यकता है। उन्होंने कहा, 'निश्चय ही शान्ति की आवश्यकता है, किन्तु शान्ति भी ससम्मान चाहिए। चलो, हम शान्ति-पथ पर अग्रसर हों। अगर हम इस समस्या का शान्तिपूर्ण हल निकालने की कोई योजना बना सकते हैं तो हम वैसा करें। अगर ऐसा नहीं कर सकते तो हमें किसी अन्याय के सामने नहीं झुकना चाहिए।'

23 नवम्बर को समस्त भारत में पूर्वी बंगाल दिवस मनाया गया। भारतीय जनसंघ ने इसमें प्रमुख भाग लिया और यह अपेक्षित भी था। अन्य सभी पार्टियों

ने इसमें सहयोग दिया। नई दिल्ली के रामलीला मैदान में जनरल मोहनसिंह के तत्त्वाधान में होने वाली विराट सार्वजनिक सभा में स्वयं डॉक्टर मुकर्जी ने भाषण दिया। कम्युनिस्ट पार्टी के अतिरिक्त लोकसभा में विद्यमान सभी विरोधी पार्टियों और दलों के नेताओं ने भी इसमें भाषण दिया था। इसकी प्रतिक्रियास्वरूप जनता के उमड़ते हुए जोश को देखकर नई दिल्ली और कराची, दोनों स्थानों के शासक दहल गये। कराची के देवता अब यह महसूस करने लगे, कि वे जरूरत से अधिक बढ़ गये हैं। अत: वे पुराने दाँव-पेंचों को दुहराने के प्रयास करने में तत्पर हुए। ख्वाजा निजामुद्दीन ने कई विश्वासप्रद भाषण दिए और पं. नेहरू से दूसरी भेंट करने के लिए पत्र-व्यवहार भी शुरू कर दिया। संभवत: इस भेंट से भी नेहरू-लियाकत समझौते की तरह का कोई समझौता निकलता, परन्तु पूर्व इसके कि वह भारत आता, उसकी गद्दी छिन गई और पं. नेहरू मैत्रीपूर्ण वार्त्तालाप का नाटक इसके स्थानापन्न चौधरी मोहम्मद अली को खेलना पड़ा।

पं. नेहरू को प्रजा समाजवादी दल तथा क्रांतिकारी समाजवादी दल जैसे तथाकथित राष्ट्रीय दलों का सम्प्रदायवादी जनसंघ के साथ डॉक्टर मुकर्जी के नेतृत्व में कोई समझौता बहुत अखरा। प्रतिक्रियास्वरूप पं. नेहरू और जयप्रकाश नारायण में पत्र-व्यवहार शुरू हुआ ताकि प्रजा समाजवादी नेता डॉ. मुकर्जी के बढ़ते हुए प्रभाव से मुक्त किये जा सकें और कांग्रेस तथा प्रजा समाजवादी दल का मेल बिठाया जा सके।

किन्तु जहाँ तक पूर्वी बंगाल के हिन्दुओं की दशा थी, वह वैसी-की-वैसी ही रही। पाकिस्तान पूर्ववत् अविश्वस्त ही रहा और पं. नेहरू का हृदय ट्यूनेशिया, मोरक्को और कोरिया के लोगों की विपत्तियों से इतना अधिक व्यथित हो चुका था कि अपने पूर्वी पाकिस्तान के भाइयों के प्रति उनकी आँखें संवेदना नि:शेष हो चुकी थीं।

परिणामस्वरूप डॉ. मुकर्जी के हृदय में धारणा बैठने लगी कि प्रधानमंत्री को तर्क बिल्कुल मान्य नहीं और वे अपनी असीम शक्ति के मद में विभोर कुछ भी ऐसा विचारणीय नहीं समझ सकते जिसके पीछे ताकत का डंडा न हो। जम्मू के मामले में पं. प्रेमनाथ डोगरा से मिलना अस्वीकार कर पं. नेहरू ने उनकी इस धारणा की और पुष्टि की थी। इस तरह अपनी इच्छाओं के नितान्त विपरीत डॉक्टर मुकर्जी महसूस करने लगे कि अपनी 'जनतंत्री' सरकार से कुछ भी कराने के लिए सत्याग्रह का मार्ग ही अपनाना होगा।

किन्तु उसके पहले कि डॉक्टर मुकर्जी पूर्वी बंगाल के लिए कुछ सक्रिय पग उठा पाते, कश्मीर की समस्या ने ऐसा उग्र रूप धारण किया कि उन्हें अपनी पूरी शक्ति इसी ओर लगा देनी पड़ी। फिर भी वे पूर्वी बंगाल को क्षणमात्र भी

विस्मृत न कर सके। भारतीय जनसंघ के कानपुर अधिवेशन में अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने कश्मीर के साथ-ही-साथ पूर्वी बंगाल की समस्या का गम्भीर रूप भी प्रस्तुत किया। उनकी यह योजना थी कि कश्मीर के प्रश्न से निवृत्त होने के तुरन्त बाद वे पूर्वी बंगाल का प्रश्न हाथ में ले लेंगे और पूरी शक्ति से सरकार को इस सम्बन्ध में कुछ करने के लिए बाध्य करेंगे, किन्तु कश्मीर ने ही उन्हें भौतिक बन्धनों से मुक्त कर दिया। उनका व्यथाक्रान्त हृदय पूर्वी बंगाल का भार अपने सहयोगियों पर छोड़ संसार को परित्यक्त कर अतीत के करुण पटल पर अंकित हो गया।

पाकिस्तान में होते रहने वाले नब्यतम विकासक्रम, विशेषकर उसका संविधान, जिसके अनुसार उसे एक इस्लामी राज्य की संज्ञा दी गई है और जिसके कानून, कुरान और 'सुन्नाह' के अनुसार होंगे, डॉ. मुकर्जी पर क्या प्रभाव डालते और वे क्या-क्या करते, इसकी कल्पना से ही हृदय आज द्रवित हो उठता है। इस्लाम का प्रचार करने के लिए राज्य द्वारा आयोजित-संस्था का उद्देश्य ही यह है कि जो हिन्दू पूर्वी पाकिस्तान से नहीं निकाले गये या पाकिस्तान की अर्थनीति के विचार से जिनका वहाँ रहना आवश्यक हो, उन्हें मुसलमान बना लिया जाये।

18. भारत के सांस्कृतिक दूत

जीवन के अन्तिम वर्षों में डॉ. मुकर्जी का प्राय: सभी समय और शक्ति राजनीतिक कार्यों में लगती रही, फिर भी वे शिक्षा, साहित्य और भारतीय संस्कृति में, जिसके प्रति शैशव से ही उन्हें दृढ़ अनुराग और आस्था थी, यथासम्भव रुचि लेते रहे। उच्च नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों से सम्पन्न भारत की महती संस्कृति के आदर्शों में उन्हें प्रगाढ़ रुचि थी। वे आयुपर्यन्त इन आदर्शों को अपने जीवन में प्रतिफलित करने का यथाशक्ति प्रयत्न करते रहे।

वे 'संस्कृति' शब्द का बहुत संशिलष्ट अर्थ लेते थे। वे इसे चिन्तन और क्रिया के क्षेत्र में किन्हीं लोगों की ऐसी उच्चतम उपलब्धि मानते थे जो उनके मानस का परिमार्जन कर व्यक्तिगत तथा सामूहिक रूप में उनके आचरण की संचालिका है।

उनका विचार था कि जातिगत आचरण के निर्माण में इतिहास, साहित्य, महापुरुषों के जीवन, सामाजिक तथा धार्मिक उत्सवों का बड़ा योगदान है। भारत में ये सब अनिवार्यत: हिन्दू हैं। अतएव उनका विचार था कि भारतीय संस्कृति तत्त्वत: हिन्दू संस्कृति है, जिसका प्रवाह वैदिक काल से चला आ रहा है, जिसमें कालानुसार ऐसे अनेक तत्त्वों का समावेश हुआ है, जो हिन्दू अथवा भारतीय संस्कृति में ही पूर्ण विलय हो चुके हैं। उनके अनुसार भारतीय संस्कृति के कुछ प्रमुख तत्त्व हैं, यथा–

1. 'पुनर्जन्म' का दर्शन।
2. कर्म का दर्शन।
3. सबको समानाधिकार।
4. सबको समान अवसर।
5. विद्वान् एवं पुण्यात्मका के लिए धनाढ्य से अधिक आदर।
6. व्यक्ति तथा समाज के अधिकारों में संतुलन।
7. सबको जीने का अधिकार।
8. विचारों की स्वतंत्रता-सहिष्णुता।
9. सदाचार पर बल।

उनका मत था कि संसार के आध्यात्मिक एवं भौतिक पहलुओं में परस्पर सामंजस्य लाने के लिए विश्व को अपना सांस्कृतिक संदेश देना भारत का ऐतिहासिक मिशन है।

अतएव उनका विचार था कि विदेशों में भारतीय दूतों को उनके आडम्बर व भौतिक सुख-सुविधापूर्ण पाश्चात्य जीवन का अनुकरण करने के बदले अपने जीवन

और आचरण द्वारा भारतीय संस्कृति और आदर्शों का उदाहरण प्रस्तुत करना चाहिए।

वे यह भी विश्वास करते थे कि स्वाधीनता के बाद भारत से बाहर जाने वाले सभी राजनीतिक शिष्ट-मण्डलों की अपेक्षा स्वामी विवेकानन्द और लाला हरदयाल ने भारत को पश्चिमी देशों की आँखों में अधिक उन्नत किया था, क्योंकि इन सरकारी मिशनों में भारतीय संस्कृति और आदर्शों के प्रति उचित आस्था व समझ का अभाव है जो परतंत्र भारत के उन गैर-सरकारी सांस्कृतिक दूतों में थी।

उनकी हार्दिक इच्छा थी कि इन सांस्कृतिक दूतों द्वारा पश्चिमी और पूर्वी जगत के लोगों को वास्तविक भारत और उसकी विचारधारा और संस्कृति से अवगत कराने का पुनीत कार्य जारी रहना चाहिए। इसके लिए वे स्वयं भी यू.एस.ए. और ब्रिटेन जाने को बड़े उत्सुक थे। उन्हें ऐसे भ्रमण के लिए यू.एस.ए. से निमंत्रण भी आया था और उनका विचार था कि कश्मीर समस्या को सुलझाने के बाद वे अवश्य वहाँ जायेंगे।

पश्चिम में भारत के सांस्कृतिक दूत के कार्य के लिए वे अत्यंत उपयुक्त भी थे, किन्तु क्रूर काल ने उनकी असामयिक बलि लेकर उनकी सभी योजनायें भस्मसात कर दीं। 1952 में महाबोधि सोसाइटी के अध्यक्ष के रूप में दक्षिण-पूर्वी एशिया में जाकर उन्होंने यह कार्य अवश्य किया।

डॉ. मुकर्जी को इस सोसाइटी और बौद्ध-धर्म में इसलिए आस्था हो गई थी कि वे समझते थे कि संसार के बौद्ध धर्मावलम्बी देशों को भारत से संगठित करने में बौद्ध विचारधारा और संस्कृति, जिसका स्रोत और प्रेरक शक्ति हिन्दू धर्म है, सफल हो सकती है। वे यह महसूस करते थे कि विचार तथा संस्कृति की समानता भारत तथा इन अन्य देशों के बीच राजनीतिक तथा आर्थिक मतभेदों के बावजूद एक स्थायी ऐक्य उत्पन्न कर भारत को इस योग्य बना सकती है कि वह संसार को शिक्षा देने के अपने पुराने कार्य में पुनः प्रवृत्त हो, पूर्ववत् 'जगद्गुरु' की उपाधि पा सके।

वे महात्मा बुद्ध को एक ऐसा विश्वगुरु मानते थे जिन्होंने अपने जीवन और अपनी शिक्षाओं के द्वारा भारतीय चिन्तन एवं संस्कृति का सारतत्त्व संसार को दिया। उनके विचार से यह मानना ही गलत था कि भारत से बौद्ध-धर्म का लोप हो गया है। वे कहा करते थे कि महात्मा बुद्ध ने जिस बौद्धमत का उपदेश दिया है वह भारत की चिरयुगीन संस्कृति से मिला हुआ इसका ही एक पहलू है। भारत के लोगों ने महात्मा बुद्ध की जो दशावतारों में गणना की, यही इसका ज्वलन्त प्रमाण है कि यहाँ बौद्धमत का लोप नहीं हुआ है। भारत ने बौद्धमत के तत्त्वों की अवहेलना नहीं की थी। कई शताब्दियों बाद इसमें कुछ ऐसी बातों का समावेश हो गया जिन्होंने इसका 'सुधार आन्दोलन' का वास्तविक रूप हटाकर भिन्न-भिन्न रीति-नीतियों से सम्पन्न 'मज़हब' का रूप दे दिया। भारत ने इस बाह्य आवरण को उखाड़ फेंका, परन्तु इसकी आत्मा से अपना सम्बन्ध अविच्छिन्न रखा।

डॉ. मुकर्जी उसकी इस आत्मा से बहुत प्रभावित थे। वे समझते थे कि जब तक बौद्धमत की विभिन्न शाखाओं ने इस आत्मा की रक्षा की, जो सभी शाखाओं में विद्यमान है, और जब तक ये विभिन्न शाखायें कितनी ही भिन्न प्रथायें और कट्टरवादिता भले ही अपनालें इसमें कोई बुराई नहीं है। उन्होंने बौद्धों की इसी साँझी दृष्टिभंगिमा पर बल देते हुए उसे लोकप्रिय बनाने का प्रयत्न किया और इस तरह भारत तथा दक्षिण-पूर्वी एशियाई देशों की सांस्कृतिक एकता के सूत्र को आगे बढ़ाया। इन देशों की भौगोलिक स्थिति, आर्थिक हित और सुरक्षा, इन सबका विचार करके राजनीतिक क्षेत्र में भी इनका भारत के निकटतर आना वांछनीय था।

भारत और इन दक्षिण-पूर्वी देशों में वैचारिक और सांस्कृतिक एकता का परिचय पाने का अवसर शीघ्र ही उपस्थित हो गया। 30 नवम्बर, 1852 को सांची के नए विहार में पुर्नस्थापना के पहले महात्मा बुद्ध के दो प्रधान शिष्य सारिपुत्त और महामोग्गलायन के पवित्र भस्मावशेष के साथ डॉ. साहब को बर्मा और इण्डोचाइना जाना पड़ा। तब उन्होंने भारत और दक्षिणी एशिया के बौद्ध देशों में परस्पर विचार और संस्कृति की एकता की झलक देखी।

ये भस्मावशेष सांची के प्राचीन स्तूप से जनरल कर्निंघम द्वारा सन् 1951 में निकाल लिए गये थे और तब से वे इंग्लैण्ड के ब्रिटिश विचित्रालय (म्यूजियम) में रखे हुए थे। स्वातन्त्र्य-प्राप्ति के बाद ये अवशेष भारत को वापस कर दिये गये और प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू ने वे महाबोधि सोसाइटी के अध्यक्ष के रूप में डॉ. साहब को सौंप दिये।

श्री लंका, बर्मा, तिब्बत और कम्बोडिया आदि बौद्ध देशों ने बड़ा आग्रह किया कि पुनः स्थापना के पहले उन्हें अपनी धरती पर उन पुण्यावशेषों की वन्दना करने का अवसर दिया जाये। उनके निमन्त्रण पर डॉ. मुकर्जी उन अवशेषों के साथ मार्च में बर्मा तथा अक्टूबर, 1952 में कम्बोडिया व इण्डोचाइना गये।

जिस समय वे बर्मा पहुँचे, उस समय कम्युनिस्ट विद्रोहियों ने सरकार तथा जनता में आतंक फैला रखा था। राजधानी रंगून भी उनकी लूटमार से नहीं बची थी, पूरा बर्मा उनके ध्वंस-कृत्यों से त्रस्त था।

अवशेष लेकर डॉ. मुकर्जी के वहाँ जाने से जनता में अपार उत्साह एवं भक्तिभावना का जो स्रोत उमड़ा उससे वातावरण को बदलने में बड़ी सहायता मिली। विभिन्न राजनीतिक दलदलों में फँसे हुए बर्मा के लोगों को बुद्ध की गाथाओं के प्रति श्रद्धाभाव में परस्पर आन्तरिक एकता का आभास मिला। इससे उनके हृदय में कम्युनिस्टों की अधार्मिकता और उनकी हिंसात्मक नीति की प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई। उसी दिन से बर्मा की अवस्था बराबर सुधरने लगी और कम्युनिस्टों के पाँव उखड़ने लगे।

नवम्बर, 1952 में बर्मा के प्रधानमंत्री थाकिन नू जब अवशेष-स्थापना के

आयोजन में सांची आए तब उन्होंने डॉ. मुकर्जी से साभार कहा—'आप नहीं जानते कि आपने मेरे देश की कैसी अमूल्य सेवा की है। अवशेष लेकर आपके आगमन से हमारी जनता में अद्‌भुत परिवर्तन आया है। उसे अपनी आत्मा मिल गई है।'

बर्मा के भारतीय जनों ने भी डॉक्टर साहब का बड़ी धूमधाम से अभिनन्दन किया। भारतीय स्वयंसेवक संघ के सदस्यों ने, जो समुद्र पार के भारतीयों की सांस्कृतिक व सामाजिक संस्था है, उन्हें हवाई अड्डे पर गार्ड ऑफ ऑनर दिया, बर्मा की भारतीय कांग्रेस ने कांग्रेस हॉल में उनका अभिनन्दन किया और उन्होंने बाडुला चौक में बर्मा व भारतीय लोगों की जनसभा में भाषण किया।

डॉ. साहब के मुख से भगवान् बुद्ध का सन्देश सुनकर बर्मा के लोग आशातीत प्रभावित हुए। बुद्ध की स्मृति ने भारत से उनका ऐसा नाता जोड़ा जैसा कोई भी आर्थिक व राजनीतिक समझौता न कर सका। वे डॉक्टर साहब को अपना एक आत्मीय, एक ऐसा सन्त मानने लगे जो ब्रिटिश राज्यान्त के समय जापानियों द्वारा लूटमार व ध्वंसात्मक जघन्य कृत्यों से प्रताड़ित विचलित बर्मावासियों के लिए पुनः आस्था का शंखनाद करने आया था। कलकत्ता आने के लिए वायुयान में चढ़ने से पहले वे श्री थाकिन नू से जब सम्भाषण कर रहे थे तो एक बर्मी महिला ने अपनी भाषा में कहा, 'ये एक बर्म्मन ही प्रतीत होते हैं।' इसे सुनकर वहाँ उपस्थित सभी लोग ठठाकर हँस पड़े थे। इस हँसी का कारण जानकर डॉक्टर बहुत आह्लादित हुए, उन्हें यह एकात्मता की भावना बड़ी भली लगी।

कम्बोडिया सरकार के निमन्त्रण पर डॉक्टर साहब उसी वर्ष 6 अक्टूबर को अवशेष लेकर कम्बोडिया की राजधानी पन्नान पेन्ह गए। वहाँ जनता ने जिस भक्तिभाव का प्रदर्शन किया उसका डॉक्टर साहब के हृदय पर मार्मिक प्रभाव पड़ा।

अवशेष-पूजा के लिए रजत पेगोड़ा में ले जाया जाना था। हवाई अड्डे से वहाँ तक रास्ते में दस लाख से भी अधिक साधु और अन्य लोग उपस्थित थे। डॉक्टर साहब ने नगर के प्रमुख चौक में कोई पाँच लाख नर-नारियों को महात्मा बुद्ध के संदेश और भारत तथा बौद्ध में परस्पर सांस्कृतिक शृंखला के विषय में बताया। जैसे ही दुभाषियों ने कम्बोडिया की भाषा में इनका भाषण सुनाया वैसे ही सहस्रों व्यक्तियों की आँखों में श्रद्धा और उल्लास के अश्रु भर आए। उन्होंने डॉक्टर साहब का इतना आदर किया मानो वे एक देवदूत बनकर उनकी आत्मिक माँ भारत की ओर से पुनर्जागरण का शंखघोष करने आये हों।

डॉ. मुकर्जी अंगकोर वाट के विश्वविख्यात हिन्दू-मन्दिर के भग्नावशेष को देखने भी गए, जहाँ इस समय भी 1737 मूर्तियाँ हैं और दीवारों पर रामायण तथा महाभारत की कथाओं के उत्तम शिलाचित्र हैं जो दर्शक को भारत के गौरवपूर्ण अतीत का स्मरण कराते हैं।

पन्नान पेन्ह से वे इण्डोचाइना की राजधानी सेगाँव में गए। वहाँ भी उन्होंने जनता के हृदय में इसी तरह के भक्ति-भाव की झलक पाई।

राह में वे कुछ घण्टों के लिए स्याम की राजधानी बैंगकॉक में ठहरे। वहाँ सहस्रों स्यामी नर-नारी पूजा के लिए उपस्थित थे। वहाँ के भारतीय कूटनीतिज्ञ भी उनसे मिले। उन्हें यह जानकर बहुत निराशा हुई कि वे लोग इन देशों में भारत के प्रति सौहार्द्रपूर्ण भावनाओं की रिपोर्ट नई दिल्ली के भारतीय विदेश-कार्यालय में प्राय: इसलिए नहीं भेजते क्योंकि वे वहाँ नापसन्द की जाती थीं।

श्रीलंका की सरकार ने भी उन्हें निमन्त्रण दिया था। वे वहाँ भी जाना चाहते थे। इस समय आर्थिक और राजनीतिक कारणों से वहाँ बसने वाले भारतीयों और सिंहलियो में परस्पर कटुता उत्पन्न हो गई थी। अगर वे कभी श्रीलंका गये होते तो वहाँ भी लोगों के हृदय में परिवर्तन ला देते जो किन्हीं भी राजनीतिक समझौतों से नहीं हो सकता था, परन्तु उनका वहाँ जाना न हो सका।

दक्षिण-पूर्वी एशिया के सांस्कृतिक दूत के रूप में डॉ. मुकर्जी का महान् और अन्तिम कार्य नवम्बर, 1952 के अन्त में हुआ जब सांची के नए विहार का उद्घाटन हुआ और उसमें पुनीत भस्मावशेष की स्थापना हुई। उस समय एक अन्तर्राष्ट्रीय सांस्कृतिक समारोह का आयोजन भी किया गया, जिसमें साम्यवादी चीन के अलावा विश्व के अन्य सभी बौद्ध देशों के राजनीतिविदों, मन्त्रियों और धार्मिक नेताओं ने भाग लिया।

यह कॉन्फ्रेंस भारत के उपराष्ट्रपति सर्वपल्ली राधाकृष्णन की अध्यक्षता में हुई थी। अपने स्वागत-भाषण में डॉ. मुकर्जी ने इस प्रकार के सांस्कृतिक सम्पर्कों की महान् उपयोगिता पर प्रकाश डाला। उन्होंने कहा, 'स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद दक्षिण-पूर्वी एशिया के अनेक देश बौद्ध सांस्कृतिक और धार्मिक दर्शन की उपलब्धि के लिए कठिन प्रयास करते रहे हैं। इस दिशा में भारत उनकी आध्यात्मिक जननी है।'

आगे उन्होंने कहा, 'भारत इन देशों के साथ फिर मैत्री तथा ऐसा सामंजस्य स्थापित कर सकता है जिससे इस भ्रातृभावना का न केवल सम्बद्ध देशों में अपितु इतर देशों में भी अभिनन्दन होगा, क्योंकि यह मैत्री शक्ति और दृढ़ता का ऐसा स्रोत होगी जो विश्व में शान्ति और स्वतन्त्रता स्थापित रखने में सहायक होगी।'

दूसरे दिन धार्मिक कृत्यों के साथ नए विहार का उद्घाटन हुआ। उस अवसर पर बोलते हुए डॉक्टर साहब ने सांची जैसे सांस्कृतिक केन्द्रों के विषय में अपने विचार व्यक्त किए। उन्होंने कहा, 'ऐसे केन्द्र इने-गिने शिक्षित लोगों के लिए ही सीमित नहीं होने चाहिएँ अपितु इन शिक्षित लोगों द्वारा साधनहीन लोगों के लिए विचार और सेवा का ऐसा प्रवाह जारी रहना चाहिए जिससे अज्ञान, बीमारी, दरिद्रता और अन्धविश्वास

में जकड़े हुए ये लोग उचित प्रेरणा ले सकें और सामाजिक तथा आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र भारत के सुनागरिक के योग्य हो सकें।'

उनकी योजना थी कि सांची के निकट स्कूल और औषधालय खोल दिए जायें जिनकी व्यवस्था तथा व्यय-भार विहार के सभी साधुओं पर हो ताकि निकटवर्ती अंचलों के साधारण लोग उन महापुरुषों की उपस्थिति को महसूस कर सकें जिनका स्मरण सांची के स्तूप प्रति क्षण कराते रहते हैं।

महात्मा बुद्ध को श्रद्धांजलि देते हुए उन्होंने कहा, 'भारत की वसुन्धरा पर गौतमबुद्ध का जन्म एक घटनामात्र ही नहीं है। अनन्तकाल से भारत की प्रतिभा ऐसे शक्तिशाली व्यक्तियों, साधु-सन्तों तथा विद्वानों के पुनीत कार्यों एवं शब्दों में प्रतिबिम्बित होती रही है जिन्होंने समाज की परिवर्तनीय आवश्यकताओं और आकांक्षाओं को ध्यानगत रख देशसेवा में अपनी बुद्धि का सदुपयोग कर उसका पथ-प्रदर्शन किया। जब धर्म गतिरुद्ध हुआ और धार्मिक प्रथाओं के बाह्य आडम्बरों ने धर्म की आत्मा का हनन किया, ये साधु प्रकट हुए और इन्होंने विनाश से उनकी रक्षा की। 2500 वर्ष पहले गौतम बुद्ध ने मानव की वैज्ञानिक दृष्टिभंगिमा का प्रतिनिधित्व किया। उन्होंने यह घोषणा की कि वे पूरे गवेषणात्मक विश्लेषण और समाधान के किसी भी वस्तु को सत्य मानने के लिए कदापि तत्पर नहीं।'

विश्व-शान्ति की आवश्यकता और महात्मा बुद्ध द्वारा उसकी प्राप्ति के मार्ग-दर्शन के प्रसंग में उन्होंने कहा, 'बुद्ध ने शान्ति का मार्ग दिखाया। यह शान्ति श्मशान की शान्ति नहीं अपितु जीवन की शान्ति है जो जीवन के यथार्थ को उचित अंगीकार कर उसके गहन अध्ययन से आती है। शान्ति तभी स्थायी हो सकती है जब वह पाप पर विजय पा ले और मनुष्य के आध्यात्मिक तथा भौतिक आवेगों में सामंजस्य उत्पन्न कर सके, ताकि मनुष्य उसके (बुद्ध के) उपदेशों को व्यावहारिक रूप देकर अपने-आपको विधाता की कल्पना के अनुरूप बना सके।'

सांची के इस अनुष्ठान के अवसर पर डॉ. मुकर्जी और पं. नेहरू अन्तिम बार लोकसभा के बाहर परस्पर निकट आए और उन्होंने संस्कृति तथा विश्व-शान्ति के विषय में वार्त्तालाप किया, किन्तु डॉ. मुकर्जी हृदय में यह महसूस करते थे कि स्वयं भारत में ही शान्ति नहीं थी। यहाँ अपने को आद्यन्त भारतीय कहने और भारतीय संविधान द्वारा प्रशासित होने की माँग करने वाले लोग गोली का शिकार बनते थे। आगामी तीन महीनों में डॉ. मुकर्जी ने पं. नेहरू को जम्मू के संत्रस्त लोगों की ओर करुणाहस्त बढ़ाने और शान्ति तथा सहिष्णुता के गाँधीवादी सिद्धान्तों को, जिनकी वे इतनी चर्चा करते थे, क्रियात्मक रूप देने के लिए बहुत जोर दिया, किन्तु उनके सभी प्रयास विफल हुए और अन्त में उन्होंने इसके लिए अपने प्राणों की बाजी लगा दी।

19. एक ऐतिहासिक निर्णय

साँची से नई दिल्ली लौटने पर डॉक्टर मुकर्जी को जम्मू में आतंक के नए समाचार मिले जहाँ पं. प्रेमनाथ डोगरा की गिरफ्तारी के बाद प्रजा-परिषद् का सत्याग्रह पूरे जोर-शोर से चल रहा था। उन्हें पूर्वी बंगाल के लोगों को दिए गए अपने प्रण के समान ही जम्मूवासियों को अपने दिए गये आश्वासन भली-भाँति स्मरण थे। उनका कोमल हृदय जम्मू के संत्रस्त लोगों के विचार से द्रवित हो उठा। उन्होंने 14 दिसम्बर को अखिल भारतीय जम्मू दिवस मनाने का आह्वान किया ताकि समस्त देश में प्रजा-परिषद् के अनुकूल जनमत बनाकर सत्याग्रह में सहयोग दिया जा सके। यह दिन बड़े उत्साह से सर्वत्र मनाया गया। डॉक्टर मुकर्जी ने दिल्ली के रामलीला मैदान में विराट जनसभा में भाषण देते हुए बड़ी मार्मिकता से पण्डित डोगरा का प्रसंग उठाया; किन्तु सरकार पर जन-सहानुभूति के इन व्यापक प्रदर्शनों का कोई प्रभाव न पड़ा। अतएव कुछ और प्रभावकारी कदम उठाने की स्वाभाविक माँग होने लगी। फलस्वरूप दिसम्बर के अन्त में कानपुर में होने वाले जनसंघ के प्रथम वार्षिक अधिवेशन में, जो डॉक्टर साहब की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ था, प्रजा-परिषद् को सक्रिय सहयोग देने का ऐतिहासिक निर्णय किया गया।

इस निर्णय से पहले उन्हें शिक्षा और साहित्य, जिनमें राजनीति के अतिरिक्त उनकी जीवन-पर्यन्त रुचि रही, पर अपने परिपक्व विचार व्यक्त करने का भी अवसर मिला। कलकत्ता विश्वविद्यालय को, जिसके वे और उनके पिता साँझे निर्माता थे, वे आजीवन अपना सहयोग व मार्गदर्शन देते रहे। वे पांडिचेरी के श्री अरविन्द विश्वविद्यालय की प्रमुख प्रेरक शक्ति भी थे। इसके निर्माण में उनका बड़ा हाथ था। उनकी आकांक्षा थी कि यह विश्वविद्यालय भारत की आध्यात्मिक संस्कृति का एक अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र बन जाए।

देश के शैक्षिक जीवन के साथ इस दीर्घ सम्बन्ध और शैक्षिक समस्याओं के प्रति अपनी गहन सूझ-बूझ के कारण वे देश के एक चोटी के शिक्षा-शास्त्री तथा विश्वविद्यालय की शिक्षा-सम्बन्धी बातों में दक्ष माने जाने लगे थे।

दिसम्बर, 1952 में दिल्ली विश्वविद्यालय के तीसवें दीक्षान्त समारोह में उन्हें दीक्षान्त भाषण देने का निमन्त्रण मिला। जनता के समक्ष शिक्षा-शास्त्री के रूप में अपने विचार प्रकट करने का यह उनका अन्तिम अवसर था। यह भाषण शिक्षा-सम्बन्धी समस्याओं की दृष्टि से विशेष महत्त्व रखता है।

ब्रिटिश राज्य के लार्ड लिटन जैसे महारथियों द्वारा सरकारी दबाव के बावजूद सर आशुतोष मुकर्जी ने जिस तरह बड़ी सफलता के साथ कलकत्ता स्वायत्त शासन

अक्षुण्ण रखा था, उसी तरह डॉक्टर मुकर्जी भी समस्त भारतीय विश्वविद्यालयों को स्वाधीन देखना चाहते थे। वे विश्वविद्यालयों में भारत सरकार के शिक्षा-मन्त्रालय के बढ़ते हुए हस्तक्षेप को देखकर बहुत चिन्तित हुए थे, क्योंकि यह मंत्रालय सीधे उस व्यक्ति के नीचे था जो विश्वविद्यालय की शिक्षा के आदर्शों और समस्याओं से नितान्त अनभिज्ञ था। अत: उन्होंने दिल्ली विश्वविद्यालय को यह चेतावनी दे दी कि 'विश्वविद्यालय की शनैः-शनैः केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण में आने की प्रवृद्धि से राज्य द्वारा अनावश्यक तथा विक्षुब्धकर हस्तक्षेप की सम्भावना हो सकती है, यह स्थिति शीघ्रातिशीघ्र निवारणीय है।'

उनका विचार था कि विश्वविद्यालय में होने वाले सभी सुधार उनकी स्वतन्त्र नीति द्वारा ही होने चाहियें और उनके लिए उचित है कि वे प्रादेशिक आवश्यकताओं तथा राष्ट्रोत्थान में परस्पर सन्तुलन रखते हुए ही इस ओर कदम उठायें।

उन्होंने शिक्षा की सभी श्रेणियों की आवश्यकताएँ पूंरी करने के हेतु एक संश्लेषणात्मक राष्ट्रीय पद्धति के विकास पर जोर दिया। उन्होंने कहा, 'प्राथमिक, माध्यमिक तथा उच्चशिक्षा अथवा साहित्यिक, वैज्ञानिक, शैल्पिक, व्यावसायिक और कृषि-सम्बन्धी पाठ्यक्रमों में परस्पर कोई विरोध नहीं होना चाहिए, अपितु राष्ट्रीय शिक्षा-पद्धति में शिक्षा के इन सब पहलुओं के समुचित विकास का प्रबन्ध होना चाहिए।'

शिक्षा के माध्यम के विषय में उन्होंने मातृभाषा के प्रयोग का प्रतिपादन किया और जहाँ इसका उचित विकास न हो पाया हो वहाँ हायर-सेकेण्डरी तक प्रादेशिक भाषा का समर्थन किया। साथ ही उन्होंने आग्रह किया कि भारतीय भाषाओं का यथासम्भव त्वरा से विकास का अर्थ केवल अंग्रेजी भाषा का विरोध नहीं होना चाहिए।

उनका यह विचार भी था कि राज्य की ओर से विभिन्न भारतीय भाषाओं की चुनी हुई रचनाओं का नागरी लिपि में प्रकाशन होना चाहिए। जिससे भिन्न-भिन्न प्रादेशिक भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन हो सके और लोग भारत की विभिन्न भाषाओं में सन्निहित एकता को हृदयगंम कर सकें। साथ ही उन्होंने विश्वविद्यालयों के शिक्षकों और विद्यार्थी-वर्ग के परस्पर भिन्न विश्वविद्यालयों में योजनानुसार आने-जाने पर भी बल दिया, क्योंकि देश के विभिन्न अंचलों की विशेष परिस्थितियों तथा समस्याओं के सम्बन्ध में समान दृष्टिकोण के विकास से सहायता मिल सकती है।

उन्होंने यह सुझाव भी दिया कि विलायत में पढ़ने के लिए छात्रवृत्ति-सम्बन्धी नीति में संशोधन किया जाए। ऐसी छात्रवृत्तियाँ केवल उन विषयों के लिए दी जायें जिनके विशेष अध्ययन का प्रबन्ध भारत में सम्भव नहीं है।

देश में विज्ञान और शिल्प-विज्ञान की उच्च शिक्षा के लिए सहज सुविधायें

हों। इसके लिए उनका यह सुझाव था कि विभिन्न विश्वविद्यालयों को विज्ञान की पृथक्-पृथक् शाखाओं में विशेष अध्ययन की व्यवस्था करनी चाहिए और देशभर के उच्च शिक्षा-प्राप्त विद्यार्थियों को इस व्यवस्था से लाभ उठाने का अवसर सुलभ होना चाहिए।

उन्होंने इस बात पर विशेष जोर दिया कि देश के तरुणों की शिक्षा सोद्देश्य होनी चाहिए। उन्होंने कहा कि 'विश्वविद्यालय के प्रशासकों और शिक्षकों के लिए यह बहुत महत्त्वपूर्ण काम है कि वे पुर्नजाग्रत भारत के युवकों के मस्तिष्क का सूक्ष्म अध्ययन करें और उनके सम्मुख केवल सुनिर्धारित पाठ्यक्रम अथवा पाठ्येतर सुनिश्चित क्रियाकलाप ही न रखें वरन् उनमें वैज्ञानिक दृष्टि और राष्ट्र-कल्याण की तीव्र भावना उत्पन्न करें। प्रत्येक ग्रेजुएट छात्र के लिए कठोर समाजसेवा के लिए कम-से-कम तीन माह की अवधि अनिवार्य नियत कर देने से शिक्षित तथा अशिक्षित वर्गों की खाई पाटने में बहुत सहायता मिलेगी।

उनकी दृढ़ धारणा थी कि शिक्षा-नीति का आदर्श यह होना चाहिए कि सभी के लिए प्राथमिक शिक्षा निःशुल्क हो और उच्चशिक्षा केवल उनको सुलभ हो जो इस योग्य हों, न कि उन्हें जो अयोग्य होते हुए भी शिक्षा-व्यय उठाने में समर्थ हों। यह राज्य का कर्त्तव्य है कि वह निर्धन, किन्तु प्रतिभाशाली छात्रों की उच्च शिक्षा की व्यवस्था करे। सामान्य छात्रों के लिए कम-से-कम प्राथमिक शिक्षा के बाद शिल्प-शिक्षा के प्रशिक्षण की व्यवस्था होनी चाहिए। विभिन्न व्यापारों और व्यवसायों के लिए आवश्यकतानुसार विद्यार्थी तैयार किए जाने चाहिएं ताकि इनकी व्यर्थ अधिकता और बेकारी हटाई जा सके।

अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होने साथ राष्ट्रीय भाषा हिन्दी के सम्बन्ध पर प्रयप्ति प्रकाश डाला। वे इस पक्ष में थे कि सभी क्षेत्रीय भाषाओं के विकास पर पूरा-पूरा ध्यान दिया जाना चाहिए। वे किसी भी प्रकार की लादी हुई एकरूपता के विरुद्ध थे क्योंकि 'यह विविधता में एकता की भारतीय परम्परा के विपरीत थी। इसी प्रमुख बात को ध्यान में रखकर हमें विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं को विकास का पूरा अवसर देना चाहिए ताकि वे समृद्धतर हो सकें और एक भाषा अपने विकास के लिए दूसरी भाषा को अपना ग्रास न बनाए।'

उनका विचार था कि संस्कृत भाषा की लिपि होने के कारण देवनागरी को ही समस्त भारतीय भाषाओं की लिपि के रूप में स्वीकार करना चाहिए। वे राष्ट्रीय एकता के कारणों में भाषागत एकरूपता की अपेक्षा लिपि की एकता को अधिक महत्त्व देते थे।

उनकी राय में हिन्दी सहज ही देश की राष्ट्रीय भाषा थी और इस हेतु इसके विकास को इतना प्रोत्साहन मिलना चाहिए कि यह सभी प्रान्तों में अभिव्यक्ति का प्रभावकारी माध्यम बन सके, किन्तु हिन्दी को भारतीय आदर्शानुरूप बनाने और

सुबोध करने के लिए इसमें सभी भाषाओं के उचित शब्दों तथा उक्तियों का समोवश होना वांछनीय है। उनका विचार था कि हिन्दी में सभी क्षेत्रीय भाषाओं के विशेष-विशेष शब्दों और मुहावरों से युक्त एक ऐसा प्रामाणिक साँझा शब्दकोष बन सके। इससे सभी भाषाएँ एक-दूसरे के तथा हिन्दी के निकट आ सकेंगी।

अपने हिन्दी में बोलने के अनुभव से उन्होंने इस सुझाव का व्यावहारिक रूप भी प्रस्तुत कर दिया। जब वे भारतीय जनसंघ के अध्यक्ष बने तक उनका हिन्दी ज्ञान साधारण ही था, किन्तु जनसाधारण से हिन्दी में ही वार्त्ता करनी होगी, इस विचार से उन्होंने एक अंग्रेजी-हिन्दी शब्द-कोष के द्वारा हिन्दी सीखने का निश्चय किया। उनके पास इसके लिए यथेष्ठ समय तो था नहीं। पंडित मौलिचन्द्र शर्मा ने उन्हें परामर्श दिया कि वे हिन्दी शब्दों व मुहावरों को सीखने के झंझट में व्यर्थ न पड़ें। और जहाँ कभी उचित हिन्दी शब्द न सूझे वहाँ बंगाली शब्द प्रयोग में ले आया करें, हिन्दी-भाषी जनता फिर भी उनका मन्तव्य पूर्णरूपेण समझ जाएगी। डॉक्टर साहब ने ऐसा ही किया और उन्हें इसमें आश्चर्यजनक सफलता मिली। एक वर्ष के अन्दर ही वे अंग्रेजी और बंगला के समान हिन्दी में भी कुशल वक्ता बन गए।

कटक से वे सीधे कानपुर आये। वे भारतीय जनसंघ के अध्यक्ष चुने गये थे और इसमें उन्हें जनसंघ के अखिल भारतीय सम्मेलन की अध्यक्षता करनी थी। यह उनके राजनीतिक जीवन की चरम सीमा थी। कानपुर में उनके भाषण और उनके नेतृत्व में किए गये जनसंघ के ऐतिहासिक निर्णय से वहाँ एकत्र सहस्रों प्रतिनिधियों को उनके महान् व्यक्तित्व का साक्षात्कार हुआ। अनेक राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं तथा अन्य विषयों पर अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने जिन नीतियों का प्रतिपादन किया वे उन विषयों पर उनके अन्तिम विचार सिद्ध हुईं।

कानपुर-वासियों को अपनी ओजस्विनी और शुद्ध भाषा से चकित करते हुए उन्होंने जनसंघ के राष्ट्रीय दृष्टिकोण और आचरण पर जोर देते हुए कहा, 'स्वतंत्र भारत की किसी भी राजनीतिक पार्टी की सदस्यता को जाति, धर्म अथवा सम्प्रदाय तक सीमित रखना घोर विनाशकारी होगा, परन्तु जनसंघ सभी नागरिकों से समान व्यवहार करता हुआ इस बात से रंचमात्र भी लज्जित नहीं है कि वह हिन्दू समाज के दृढ़ीकरण का आग्रह करता है और न ही उसे यह कहने में कोई संकोच है कि हिन्दू संतों, साधुओं और देशभक्तों ने ही अपने परिश्रम, बुद्धिमत्ता और त्याग द्वारा भारतीय संस्कृति और सभ्यता के उस विशाल भवन का निर्माण किया है, जो सहस्रों वर्षों से विद्यमान है।'

उन्होंने आगे कहा, 'भारतीय स्वतंत्रता को यदि सारपूर्ण बनाना है तो इसे भारतीय संस्कृति के आधारभूत तत्त्वों और मूल्यों को ठीक-ठीक समझने और उनके प्रचार में सहायक होना चाहिए। कोई भी राष्ट्र, जो अपने अतीत की उपलब्धियों

से गौरवान्वित नहीं होता अथवा प्रेरणा नहीं लेता, न तो कभी अपने वर्तमान का निर्माण कर सकता है और न ही कभी भविष्य की रूपरेखा खींच सकता है। कोई दुर्बल राष्ट्र कभी महानता की ओर नहीं बढ़ सकता।'

पंचवर्षीय योजना के प्रसंग में उन्होंने कहा, 'आज भारत को एक बृहत् मनोवैज्ञानिक मन्थन की आवश्यकता है जो दुर्भाग्य से इस योजना से बिल्कुल पूरा नहीं होता।' तथापि डॉक्टर साहब यह स्वीकार करते थे कि इस योजना को बनाने में बड़ा कौशल और बुद्धिप्रयोग हुआ है। उन्होंने यह घोषणा की कि 'हमारी आशानुरूप न होने पर भी योजना का विरोध करने का प्रश्न नहीं उठता।' उन्होंने समाज के आर्थिक ढाँचे के ऊपरी और निचले स्तरों के परस्पर वैषम्य को मिटाने की आवश्यकता पर जोर दिया। उनका विचार था कि देश की उच्चतम और न्यूनतम आमदनी में अधिक-से-अधिक 1:20 का अनुपात होना चाहिए और न्यूनतम आमदनी सौ रुपये मासिक से कम नहीं होनी चाहिए।

उन्होंने कश्मीर, पूर्वी बंगाल और पुनिर्वास की समस्याओं पर विशेष प्रकाश डाला। कश्मीर के विषय में जहाँ प्रजा-परिषद् का सत्याग्रह दिनों-दिन जोर पकड़ रहा था, उन्होंने अनुरोध किया कि लोग जम्मूवासियों के भय और शंकाओं को संवेदनशील होकर समझने का प्रयत्न करें। उन्होंने कहा, 'मैं अब भी पं. नेहरू और शेख अब्दुल्ला से प्रार्थना करूँगा कि वे झूठे मान की चिन्ता न करते हुए जम्मू के लोगों पर अत्याचार बन्द करें। उन्हें प्रजा-परिषद् के नेताओं से बातचीत करके ऐसे समझौते कर लेने चाहिये जो सबके लिए न्यायपूर्ण हों। जब तक ऐसा नहीं होता,' उन्होंने घोषणा की, 'उन लोगों के प्रति, जो एक पवित्र उद्देश्य के लिये साहसपूर्वक अधिकारियों का कोप-भाजन बन रहे हैं और मूक होकर प्रपीड़ित हो रहे हैं, हमारी सहानुभूति सक्रिय होनी चाहिए।'

पूर्वी पाकिस्तान के हिन्दुओं की दुर्दशा के प्रसंग में उन्होंने कहा, 'अगर वे वहाँ अभी के समान रहते हैं तो उन्हें क्रीतदास अथवा मुसलमान बनकर रहना होगा।' उन्होंने भारत की विवशता की भर्त्सना करते हुए कहा, 'यह बहुत दुःख की बात है कि पाकिस्तान की आँखों में हम लोग इतने गिरे हुए हों कि वह अवसर-अनवसर हमें हीन करने का प्रयत्न करे और हमारी सरकार कोई भी प्रभावकारी कार्य करने में असमर्थ होकर लाचार दर्शक के समान देखती रहे।' उन्होंने यह चेतावनी भी दी कि भारत में पंचमागियों की गतिविधियाँ तेज हो रही हैं और अगर यही क्रम चलता रहा तो हमारी स्वतंत्रता खतरे में पड़ जायेगी।

पुनर्वास के विषय में उन्होंने माँग की कि अभी तक कार्यान्वित पुनर्वास पर तथा इसके भावी कार्यक्रम पर विचार करने के लिए स्वतंत्र आयोग नियुक्त किया जाये।

राष्ट्रीय सुदृढ़ता की मूलभूत समस्या पर ध्यान न देकर अन्तर्राष्ट्रीयता पर

अनावश्यक बल देने की प्रवृत्ति की भर्त्सना करते हुए उन्होंने कहा, 'अन्तर्राष्ट्रीयता तभी पनप सकती है जब राष्ट्रीयता का सुदृढ़ आधार हो। एतदर्थ हमें अपना घर-घाट सुरक्षित रखने के लिये यथाशक्ति प्रयत्न करना चाहिए। कोई राष्ट्र जल, स्थल या वायुसेना और अस्त्र-शस्त्र से ही आखिर मजबूत नहीं बनता। राष्ट्र की वास्तविक शक्ति तो उसके लोगों में ही सन्निहित है। अगर वे संतुष्ट हैं, अगर वे अपनी स्वतन्त्रता के पोषण के लिए कोई भी कीमत चुकाने के लिए तैयार हैं, अथवा राष्ट्र-जीवन के निर्माण के लिए बड़े-से-बड़ा त्याग करने और यातना सहने के लिए दृढ़-निश्चय हैं, तब दुनिया में कोई भी देश ऐसा नहीं है जो ऐसे देश को विवश कर सके। प्राय: सहस्त्र वर्षों के बाद हमने आजादी प्राप्त की है। हमें इतिहास से सबक लेना चाहिए कि चाहे हमारी राजनीतिक पार्टियों में परस्पर कितना ही मतभेद हो, चाहे विभिन्न वर्गों में लोगों की विभिन्न आशाएँ और शंकाएँ हों, फिर भी हमें परस्पर फूट डालकर अपने पैरों आप कुल्हाड़ी नहीं मारनी चाहिए।'

उन्होंने आगे कहा, 'भारत की ऐसी परम्परायें हैं और इसके प्रचुर भावी विकास की भी ऐसी सम्भावनाएँ हैं कि वह शान्ति का वातावरण बनाने में बहुत बड़ा कार्य कर सकता है, किन्तु सैक्युलरवाद के विकृत अर्थ और अर्थ-सम्बन्धी भीषण अयोग्यताओं के कारण देश की जनशक्ति और भौतिक साधनों के सहज विकास में बड़ी बाधा उत्पन्न हो रही है।' अपने भाषण को समाप्त करते हुए उन्होंने निम्न मार्मिक शब्द करे, 'भारत का भविष्य उज्ज्वल तभी हो सकता है जब वह अपनी प्राचीन संस्कृति और सभ्यता से पोषण लेकर, समयानुसार परिवर्तन लाते हुए, हाथ में समता, प्रगति और औचित्य की मशाल लेकर आगे बढ़े। मेरी प्रार्थना और आकांक्षा है कि राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के इस महान् यज्ञ में जनसंघ समस्त देश की जनता के सद्भाव तथा सहयोग के साथ अपना योगदान करे।'

इस प्रकार डॉक्टर साहब ने बहुत योग्यतापूर्वक जनसंघ की नीतियों पर प्रकाश डाला और कार्यकर्ताओं के साथ अपने व्यक्तिगत सम्पर्क, व्यक्तियों और परिस्थितियों की उचित परख और अपने अनुवर्तन में जनसंघ के महान् निर्णयों के द्वारा इसको अनुप्राणित किया।

फूलबाग के विशाल मैदान में अधिवेशन के लिए पंडाल और प्रतिनिधियों के लिए शिविर ग्राम 'दीपनगर' बनाया गया था। स्वागत-समिति ने डॉक्टर साहब के ठहरने की व्यवस्था बैरिस्टर नरेन्द्रजीत सिंह के यहाँ की थी ताकि वहाँ उन्हें घर जैसी सुविधाएँ मिल सकें, किन्तु उन्होंने आग्रह किया कि उन्हें प्रतिनिधियों के साथ ही शिविरवास करना चाहिए। इससे उनमें सन्निहित नेतृत्व के महान् गुणों का पता चलता है। उन्होंने कभी 'नेताओं और कार्यकर्ताओं' को दो पृथक् श्रेणियों में नहीं रखा। वे कहते थे कि सभी नेताओं को पहले कार्यकर्ता होना चाहिए। जो

कार्यकर्ता नहीं बन सकता वह नेता भी नहीं हो सकता।

वे हमेशा प्रतिनिधियों के साथ साँझे लंगर में ही भोजन करना पसंद करते थे। एक दिन भोजन के समय वे एक हरिजन कार्यकर्ता के पास बैठ गए। इस पर वह अत्यन्त विनम्र स्वर में बोला, 'मैं अस्पृश्य हूँ।'

'यहाँ हम सब अस्पृश्य हैं,' डॉक्टर साहब बोले, 'मैं इस देश में एक नम्बर का राजनीतिक अस्पृश्य हूँ।' इस पर वहाँ कहकहे लग गये।

उनका यह नियम था कि समय मिलने पर वे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की शाखाओं में अवश्य जाते थे। 30 सितम्बर की सवेरे उन्हें स्वयंसेवकों की टुकड़ी को भाषण देना था। रात उन्हें बहुत देर तक जागना पड़ा और रातभर होने वाली घोर वर्षा के कारण उनकी नींद बहुत खराब हुई। फिर भी वे प्रातः 6 बजे शाखा जाने के लिए तैयार थे। वे स्वयंसेवकों के सम्मुख बोल रहे थे कि वर्षा फिर शुरू हो गई। एक कार्यकर्ता उनके लिए छाता लेकर दौड़ा, किन्तु उन्होंने नहीं लिया और कहा, 'जब स्वयंसेवक इस वर्षा में बैठे हैं, तब मैं इसे क्यों न सह सकूँगा? क्या तुम मुझे स्वयंसेवक नहीं मानते?'

ऐसे व्यवहार से राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के स्वयंसेवकों का प्रभावित होना स्वाभाविक ही था। वे उन्हें व स्वयं को एक ही मानते थे और उन्हें भी उनका अधिक-से-अधिक सहयोग मिलता था।

कानपुर में जनसंघ का सबसे महत्त्वपूर्ण निर्णय यह था कि वह शेष भारत में जम्मू और कश्मीर को विलय कराने के उद्देश्य से परिचालित जम्मू में प्रजा-परिषद् के सत्याग्रह आन्दोलन को सक्रिय सहयोग दें। उत्साही प्रतिनिधि यह चाहते थे कि जनसंघ भारत सरकार को एक चरम-पत्र (अल्टीमेटम) दे-दे कि यदि निश्चित तिथि तक प्रजा-परिषद् की देशभक्तिमूलक उचित माँगें स्वीकार न की गई तो जनसंघ उसे सहयोग देने के लिए भारत में सत्याग्रह करेगा, किन्तु डॉक्टर मुकर्जी ने उन्हें धैर्य बँधाया। वे आवेश में आकर कोई निर्णय करने वाले नहीं थे। वे सत्याग्रह का अन्तिम कदम उठाने के पहले एक प्रतिष्ठापूर्ण समझौते के शान्तिमय उपायों का परीक्षण करना चाहते थे। अतएव यह सोचा गया कि वे इसका हल निकालने के लिए पण्डित नेहरू और शेख अब्दुल्ला को अन्तिम रूप से लिखें।

अपनी कार्यकारिणी समिति की इच्छानुसार डॉक्टर मुकर्जी ने पण्डित नेहरू और शेख अब्दुल्ला से पत्राचार शुरू किया जो उनके बंगीय मंत्रिमण्डल से त्यागपत्र देने के पहले सर जॉन हरबर्ट के साथ हुए पत्राचार के समान ही उनकी निर्भीकता और न्यायोचित उद्देश्य के विवेकयुक्त प्रतिपादन का ऐतिहासिक नमूना है।

20. मुकर्जी बनाम नेहरू

डॉक्टर मुकर्जी का पं. नेहरू और शेख अब्दुल्ला के साथ पत्र-व्यवहार 1 जनवरी को प्रारम्भ होकर 23 फरवरी को बन्द हुआ। डॉक्टर मुकर्जी और पं. नेहरू के मध्य 11 पत्रों तथा उनके और शेख अब्दुल्ला के मध्य 6 पत्रों का आदान-प्रदान हुआ। इन पत्रों से कश्मीर की आद्यान्त समस्या, वे परिस्थितियाँ जिनसे बाध्य होकर प्रजा-परिषद् को सत्याग्रह करना पड़ा, डॉक्टर मुकर्जी ने जिस धैर्य और लगन के साथ इस समस्या के शांतिपूर्ण हल का अविरत प्रयास किया और किस तरह पं. नेहरू और शेख अब्दुल्ला ने न केवल अपनी नीतियों पर पुनर्विचार करने से इन्कार कर दिया अपितु डॉक्टर मुकर्जी तथा प्रजा-परिषद् के नेताओं से इस सम्बन्ध में वार्त्तालाप करना भी अस्वीकार कर दिया, आदि महत्त्वपूर्ण तथ्यों पर उचित प्रकाश पड़ता है और डॉक्टर मुकर्जी की तर्कपरायणता का भी परिचय मिलता है।

1 जनवरी, 1953 को कलकत्ता से पं. नेहरू को अपने प्रथम पत्र में डॉक्टर मुकर्जी ने लिखा,'हमने कानपुर में जनसंघ के अधिवेशन में कश्मीर के विषय पर विचार-विमर्श किया था और सभी की यह इच्छा थी कि मैं इस पर आपसे और शेख अब्दुल्ला से सीधे विचार-विनिमय करूँ। मैं जानता हूँ आप इस विषय में हमसे सहमत नहीं हैं, फिर भी मैं इस आशा से आपको लिखने को प्रेरित हुआ हूँ कि आप खुले मस्तिष्क से उन लोगों का दृष्टिकोण समझने की कोशिश करेंगें जो आपसे सहमत न हों। यह बहुत आवश्यक है कि जिन परिस्थितियों ने इस आन्दोलन को प्रेरणा दी, उनका निष्पक्ष भाव से अध्ययन किया जाए और शीघ्र ही ऐसा शान्तिपूर्ण समझौता किया जाए जो इससे सम्बद्ध सभी के लिए न्यायोचित हो।'

यह बताते हुए कि यह आन्दोलन दब नहीं रहा, अपितु जोर पकड़ रहा है और इसका खण्डन करते हुए कि इसे चलाने में बाहर वालों ने प्रेरणा दी है, उन्होंने इसकी मूल परिस्थितियों पर प्रकाश डाला। उन्होंने लिखा, 'प्रजा-परिषद् के नेताओं और अन्य लोगों ने बारम्बार यह प्रयास किया कि वैधानिक ढंग से कोई शांतिमय समझौता हो जाए। आपको डॉक्टर राजेन्द्रप्रसाद, राज्यमंत्री व शेख अब्दुल्ला को पत्र भेजे गए। इनमें से कुछ के साथ साक्षात्कार करने का प्रयत्न भी किया गया, जिनको अधिकतर अवसर ही नहीं दिया गया। समय-समय पर सभाएँ होती रहीं और गूढ़ विचार-विनिमय के बाद जनता के समक्ष प्रजा-परिषद् तथा इसके समर्थकों के दृष्टिकोण प्रस्तुत किए गए। प्रकटतया सम्बन्धित अधिकारियों ने जनता के इन विचारों पर कोई ध्यान न दिया वरन् इनसे घृणा का व्यवहार किया। दूसरी ऐसी बातों की ओर, जो विवादास्पद थीं; अधिकारियों ने अनावश्यक तत्परता

से ध्यान देकर एक संकटप्रद स्थिति पैदा कर दी।'

जम्मू में जनता को जिस हद तक दबाया जा रहा था, उसका प्रसंग देकर उन्होंने लिखा, 'आप और शेख अब्दुल्ला को अब तक यह समझ लेना चाहिए था कि यह आन्दोलन बल-प्रयोग अथवा आतंक से नहीं दबेगा। आपने अपने हाल ही में दिए गए भाषणों में एक दूसरे के विचारों को समझने, सहिष्णुता, सद्भाव व परस्पर समझबूझ के साथ काम करने पर बल दिया है, किन्तु जब इन्हें कार्यान्वित करने का अवसर आता है, तब लगता है कि ब्रिटिश शासन को निंदनीय बनाने वाले पुराने तरीके ही कई बार बदतर रूप में प्रयुक्त हो रहे हैं। जम्मू और कश्मीर की समस्या पर पार्टी की दृष्टि से विचार नहीं करना चाहिए। यह एक राष्ट्रीय समस्या है जिसके लिए एक संयुक्त मोर्चा बनाने का प्रयत्न होना चाहिए।

प्रजा-परिषद् की पिछली गतिविधियों का नाम लेकर समस्या की गम्भीरता पर परदा डालने का प्रयत्न किया जाता है। इससे काम नहीं चलेगा। मैं आप से आतुर निवेदन करूँगा कि आप शेष भारत में पड़ने वाले इस आन्दोलन के प्रभाव पर विचार करें। जम्मू और कश्मीर की रियासत के मामलों में रुचि लेना बिल्कुल स्वाभाविक और उचित है।'

जम्मूवासियों की मानसिक विदग्धता के कारणों का विश्लेषण करते हुए उन्होंने कहा, 'जम्मू के लोग किन्हीं भी परिस्थितियों, जनमत होने अथवा न होने के कारण भारत से अपना सम्बन्ध तोड़ने को तैयार नहीं है। विलय के इस मूल प्रश्न को एक बार हमेशा के लिए सुलझाने में जितनी देर होगी उतनी ही गुत्थियाँ तथा अशान्ति की सम्भावनाएँ बढ़ेगी।

एक बार अगर यह तय हो जाए कि विलय के प्रश्न पर अन्तिम निर्णय ले लिया गया है, तब दो बातें देखनी होंगी। पहली बात तो जम्मू और कश्मीर के उस तृतीयांश के विषय में है जिस पर अब पाकिस्तान का अधिकार है। हम इसे कैसे पुनः प्राप्त कर सकते है? आपने हमेशा इस प्रश्न की उपेक्षा की है। अब समय आ गया है जो हम सब यह जानें कि आपने इस विषय में क्या करने का विचार किया है। अगर हम अपनी इस खोई धरती को न ले सके तो इसमें राष्ट्र की बड़ी गौरव-हानि और हीनता होगी।

दूसरा प्रश्न इस विषय में है कि जम्मू और कश्मीर का भारत में किस सीमा तक विलय हो। अगर जम्मू के लोग यह माँग करते हैं कि दूसरी रियासतों के समान ही यह विलय हो, तब वे कोई अनुचित या असाधारण बात नहीं करते। राष्ट्रीय भावों से अनुप्राणित उन लोगों की यह सहज इच्छा है।

जम्मूवासियों के मूलभूत प्रश्न का उत्तर 'दबाव' नहीं है। क्या यह माँग करना पैतृक अधिकार नहीं कि उसी संविधन से अनुशासित होंगे जो शेष भारत में व्यवहृत

है; इन लोगों का यह नारा, 'एक निशान, एक विधान, एक प्रधान' उनकी देशानुरागपूर्ण भावनाओं की अभिव्यक्ति है जिसके द्वारा वे उपना संघर्ष चला रहे हैं।'

आगे उन्होंने लिखा, 'वे लोग जो हँसते-हँसते अपना बलिदान कर रहे हैं और यातना सह रहे हैं, भारत, जम्मू या कश्मीर के शुत्र नहीं हैं। उन्हें पाकिस्तान का मित्र जतलाना बड़ी मूर्खता है।'

उन्होंने इस अनुरोध के साथ पत्र समाप्त किया कि 'कृपया मिथ्या गौरव पर ध्यान न दीजिए और न ही ब्रिटिश शासकों के तरीके अपनाइए, जो सोचते थे कि जनता के अधिकारों और उनकी स्वाधीनता से सम्बन्ध रखने वाले किसी भी मामले को निष्ठुरतापूर्वक दबाकर वे हल कर सकते हैं।'

अन्त में उन्होंने लिखा, 'अगर आपकी यह इच्छा हो कि मैं आप से तथा शेख अब्दुल्ला से प्रत्यक्ष बातचीत करूँ तो सूचित करें, मुझे इससे बड़ी प्रसन्नता होगी।'

(2)

उन्होंने उस पत्र की एक प्रतिलिपि शेख अब्दुल्ला को भेजी और साथ पत्र में लिखा, 'इन उलझे हुए प्रश्नों का केवल आपके राज्य पर ही नहीं, अपितु समस्त भारत पर असर पड़ रहा है। मुझे आशा है कि आप स्थिति के और बिगड़ने के पहले ही कोई कदम उठायेंगे।'

(3)

पं. नेहरू ने अपने उत्तर दिनांक 10-01-53 में नई दिल्ली से लिखा, 'मैं बिल्कुल तैयार हूँ और मुझे विश्वास है कि शेख अब्दुल्ला भी जम्मूवासियों की शिकायत सुनने और यथासम्भव उन्हें दूर करने के लिए तैयार हैं, किन्तु प्रजा-परिषद् की माँगे मूलभूत संवैधानिक प्रश्न हैं जो किन्हीं कारणों से मानी नहीं जा सकतीं। वे एक अत्यन्त कठिन, विवादग्रस्त संवैधानिक प्रश्न को युद्ध के द्वारा सुलझाना चाहते हैं। यह सहज ही प्रकट है कि इन तरीकों से वांछित परिणाम नहीं निकल सकता।

आपको यह समझ लेना चाहिए कि मैं जम्मू-कश्मीर के प्रश्न को सुलझाने के लिए उत्सुक हूँ, किन्तु यह प्रश्न अब इतना उलझ गया है कि आज्ञा अथवा लोक सभा के कानून द्वारा हल करना कोई हँसी-खेल नहीं है जैसा कि कुछ लोग समझते हैं।

जम्मू-समस्या को हल करने का सीधा तरीका यह है कि पहले यह आन्दोलन बिल्कुल बन्द दिया जाए और तब शिकायतों पर विचार किया जाए। मुझे आशा है कि आप इस ओर अपने प्रभाव से प्रजा-परिषद् का मार्गदर्शन करेंगे।'

प्रत्यक्ष भेंट की बात के लिए पंडित नेहरू ने कोई उत्साह नहीं दिखाया। उन्होंने लिखा, 'अगर आप चाहते हों तो मैं आपसे मिल कर प्रसन्न हूँगा, किन्तु मैं

कोई दस दिनों के लिए बम्बई और कलकत्ता जा रहा हूँ।'

(4)

डॉक्टर मुकर्जी ने पं. नेहरू को कलकत्ता से 3 फरवरी को पुन: पत्र लिखा। पंडित जी ने उनके प्रथम पत्र का जो उत्तर दिया था उसका तथा शेख अब्दुल्ला के विभिन्न भाषणों का प्रसंग देते हुए उन्होंने लिखा, 'आपसे इस विषय में मैं कोई लम्बा पत्र-व्यवहार नहीं करना चाहता, किन्तु ये प्रश्न इतने गम्भीर हैं कि मुझे आपको दुबारा लिखना पड़ रहा है। आप दोनों के भाषणों में एक बात साँझी है और वह यह कि जो लोग आपसे सहमत नहीं उन पर आपने गालियों की बौछार की है और उन्हें देशद्रोही तक कहा है। इस बात में आपका अनुकरण करने की मेरी कोई इच्छा नहीं है। क्रोधपूर्ण भाषा से कोई समस्या सुलझ नहीं सकती। यह तो स्पष्ट ही है कि हमारा दृष्टिकोण इस विषय में मेल नहीं खाता। परन्तु हमें एक-दूसरे का दृष्टिकोण समझने का प्रयत्न तो करना चाहिए।'

'मैंने आपके तथा शेख अब्दुल्ला के भाषणों व वक्तव्यों को बड़े ध्यान से पढ़ा है। मुझे दु:ख से कहना पड़ता है कि उनमें वास्तविक प्रश्न को टालने का ही प्रयत्न किया गया है।' पं. नेहरू द्वारा साम्प्रदायिकता के दोषारोपण के प्रसंग में उन्होंने कहा, 'यह अत्यन्त अनुचित दोषारोपण है और इस तरह की बातें करके आप शायद अनजाने में ही अपने पक्ष की कमजोरी पर आवरण डालना चाहते हैं। हमने राष्ट्रीयता तथा देशभक्ति की उच्च भावनाओं से प्रेरित होकर ही इस समस्या पर विचार किया है। हमारे समाधान में न तो साम्प्रदायिकता की ही गन्ध है और न यह भारत में विघटन करना चाहता है। मैं आपसे प्रार्थना करूँगा कि आप शान्त होकर सोचें कि मुस्लिम साम्प्रदायिकता के विरूद्ध खड़ा होने में आपकी अपनी सफलता के कितने विपज्जन परिणाम हुए हैं।'

कश्मीर के विषय में अपना दृष्टिकोण रखते हुए उन्होंने लिखा कि तथ्यों को ध्यान में रखते हुए ही आपको निम्नलिखित बातों का फैसला करना होगा-

1. प्रजा-परिषद् को जनता का काफी समर्थन प्राप्त है। जनमानस से परिचित होने के कारण आप भली-भाँति जानते हैं कि कोई भी लोकप्रिय अन्दोलन शक्ति द्वारा दबाया नहीं जा सकता।
2. पहला प्रश्न है कि कब और कैसे भारत में जम्मू और कश्मीर रियासत के विलय का अंन्तिम निर्णय होगा? मेरा अपना सुझाव यह रहा है कि वयस्क मताधिकार से निर्वाचित जम्मू और कश्मीर की संविधान सभा अन्तिम विषय को मानते हुए एक प्रस्ताव स्वीकार करे और भारत इस फैसले को अटूट और अन्तिम मानकर मान्यता दे। कृपया इस मामले में स्पष्ट होइए और अगर आपको यह सझाव स्वीकार्य नहीं है तो कृपया बतलाइए कि इस विषय में

आपका विकल्प क्या है?

3. हम रियासत का विभाजन नहीं चाहते। आप शायद यह भूल गए हैं कि पाकिस्तान द्वारा जम्मू-कश्मीर रियासत पहले ही खण्डित हो चुकी है और वास्तविक प्रश्न तो यह है कि क्या आप और शेख अब्दुल्ला इस विभाजन को मान्यता देना चाहते हैं? कृपया इस प्रश्न को गौण न बनाइए और भारत की जनता को यह जानने दीजिए कि क्या हम अपनी पवित्र धरती के उस खण्ड को पुनः प्राप्त करेंगे या नहीं, करेंगे तो कब तक?

4. तीसरी बात उन विषयों की है जिनमें कश्मीर भारत में मिलेगा। प्रजा-परिषद् चाहती है और हम सभी चाहते हैं कि पूरी जम्मू-कश्मीर रियासत उसी संविधान से परिचालित हो जो शेष भारत में है। क्या यह कामना कोई साम्प्रदायिक, प्रतिक्रियावादी अथवा राष्ट्रघातक है? यह आश्चर्यजनक है कि आप शेख अब्दुल्ला और उनके साथियों द्वारा गृहीत पृथक्वादिता को राष्ट्रीय और देशभक्तिपूर्ण कहकर उसकी प्रशंसा करते हैं और भारत की आधारभूत एकता और संगठन की तथा साधारण भारतीय नागरिकों के समान शासित होने की प्रजा-परिषद् की न्यायोचित इच्छा को आप देश-विरोधी समझते हैं। आपके पत्र तथा भाषण प्रजा-परिषद् द्वारा उठाए गए इन मूलभूत प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं देते।

5. आन्तरिक प्रशासन के विषय में जम्मूवासियों को बड़ा क्षोभ है। इस विषय में विलम्ब करने से रोष बढ़ता जा रहा है।

6. निःसन्देह यह सच है कि हमें ऐसा कुछ भी नहीं करना चाहिए जिससे भारत की स्थिति बिगड़े और शत्रु के हाथ मजबूत हों। सबसे अधिक आपको यह पहलू ध्यानगत रखना चाहिए, क्योंकि आप भारत के प्रधानमंत्री हैं।

अपने इस तर्कपूर्ण पत्र के अन्त में उन्होंने सुझाव दिया कि 'जम्मू आन्दोलन को बन्द करने का एकमात्र उपाय यह है कि सभी बन्दी व्यक्तियों को छोड़ दिया जाए और सम्मेलन बुलाया जाए जिसमें सभी समस्याओं पर शान्तिपूर्वक विचार हो और एकमात्र यही लक्ष्य हो कि ऐसे निर्णय किए जाएँ जो सभी सम्बद्ध व्यक्तियों के लिए न्यायपूर्ण हों। यह आन्दोलन आतंक, कारावास, लाठीचार्ज और गोलियों से कभी बन्द होने वाला नहीं है। सत्य तो यह है कि यह बढ़ेगा, उग्रतर होगा और भारत पर भी प्रभाव डालेगा।'

अन्त में उन्होंने पं. नेहरू को यह सूचना दी कि उनकी कार्यकारिणी समिति 6 फरवरी को दिल्ली में कश्मीर स्थिति पर विचार करेगी और पूछा कि अगर आप समझते हैं कि मुझे आपसे मिलना लाभदायक होगा तो मैं 6 की सुबह आपसे मिल

सकूँगा, कृपा कर मेरे दिल्ली पते पर सन्देश भेज दें।

(5)

अपने पिछले पत्र के समान डॉक्टर मुकर्जी ने इस पत्र की प्रतिलिपि भी शेख अब्दुल्ला को भेज दी और साथ में लिखा—'यह दु:ख की बात है कि आप उन लोगों को बिल्कुल गलत समझ रहे हैं जिनका आपसे मतभेद है और इस नाते इस तरह चल रहे हैं जिससे आप भारत और जम्मू-कश्मीर के लिए भी विपज्जनक स्थिति पैदा कर देंगे। मुझे अब भी विश्वास है कि आप अवसर के अनुसार शांतिपूर्ण समझौते की राह बना सकेंगे।

(6)

शेख अब्दुल्ला ने 4 फरवरी को जम्मू से डॉक्टर मुकर्जी को उत्तर दिया। उसने कुछ पुस्तिकाएँ भेजीं जिनमें रियासत के भारत में पूर्ण विलय होने के पक्ष पर उनकी नीतियों की व्याख्या की। उसने भारतीय संविधान की धारा 370 पर, जिसके अनुसार जम्मू-कश्मीर रियासत को भारत में विशेष स्थान प्राप्त है, विशेष जोर दिया।

(7)

पंडित नेहरू ने डॉक्टर मुकर्जी के 3 फरवरी के पत्र का उत्तर 5 फरवरी को दिया। उन्होंने लिखा, 'मेरे विचार से प्रजा-परिषद् का यह आन्दोलन न केवल साम्प्रदायिक है वरन् इसे भारत में विद्यमान साम्प्रदायिक संकुचित मनोवृत्ति वाले तत्त्वों का समर्थन भी प्राप्त है। मेरा ऐसा विश्वास होने के कारण मेरे लिए केवल यही रास्ता रह जाता है कि इस नितान्त कुविचारपूर्ण आन्दोलन का विरोध किया जाये। हमारी सरकार का यह मत है और हम इसी नीति का पालन करना चाहते हैं।'

आगे पण्डित जी ने लिखा, 'आपने सुझाव दिया है कि गिरफ्तार व्यक्तियों को छोड़ा जाए और एक सम्मेलन बुलाया जाए जिसमें वे लोग भी शामिल हो। आज की स्थिति में इसका अर्थ यह है कि भारत सरकार और कश्मीर सरकार काम करना बन्द कर दें और उन लोगों के सामने, जिन्होंने मौलिक संवैधानिक प्रश्नों पर उन्हें चुनौती दी है, हथियार डाल दें।

वास्तव में अगर यह आन्दोलन जारी रहता है तो हमें यह सोचना होगा कि सरकार इसे दबाने के लिए आगे और क्या पग उठाये।

व्यक्तिगत भेंट के विषय में लिखा, 'मुझे दु:ख है कि कल, और एक-दो और भी दिन में बिल्कुल व्यस्त हूँ। आपका पत्र पढ़कर मैं यह भी महसूस करता हूँ कि हमारी बातचीत के लिए साँझी पृष्ठभूमि भी नहीं है।'

पंडित नेहरू के उपर्युक्त पत्र के आगे पत्र-व्यवहार की गुंजाइश ही नहीं रखी। दिल्ली की बैठक के जरा पहले ही सुरक्षा कानून के अन्तर्गत जनसंघ की कार्यकारिणी के अनेक सदस्यों की गिरफ्तारी से यह स्पष्ट था कि सरकार पत्र-व्यवहार द्वारा समझौते का रास्ता बन्द कर चुकी है, किन्तु डॉक्टर मुकर्जी असीम धैर्यवान् थे। वे इस बात से भी अनभिज्ञ नहीं थे कि कुछ संभ्रान्त लोग पण्डित नेहरू के साथ उन पर प्रभाव डालने का यत्न कर रहे थे ताकि वे अपनी भ्रांत धारणायें छोड़कर समस्या को हल करने का कोई मार्ग निकालें। अतएव उन्होंने पण्डित नेहरू को 8 फरवरी को पुनः पत्र भेजा और उसमें उनके पत्र का प्रसंग देते हुए लिखा, 'मालूम होता है आप अपने से असहमत लोगों के विचार को समझने की मनःस्थिति में भी नहीं हैं, उनसे बात करना तो और भी दूर है। मुझे विश्वास है कि अपने शान्त क्षणों मे आप स्वयं खेद अनुभव करेंगे कि आप तर्क का उत्तर तर्क से नहीं दे सके।

'मैं तथा बहुत से अन्य लोग हृदय से यह महसूस करते हैं कि जम्मू और कश्मीर में रहने वाले हमारे देशवासियों की यह माँग कि उनकी रियासत अन्तिम रूप में भारत में शामिल हो और स्वतंत्र भारत के संविधान से परिचालित हो, कोई देश-विरोधी, विघटनकारी और साम्प्रदायिक माँग नहीं है।'

पंडित नेहरू ने चेतावनी दी थी कि हमारी सरकार दूसरे और अगले पग उठाएगी जिसका तात्पर्य अधिक दमन से था। डॉक्टर मुकर्जी ने इसका उत्तर दिया कि 'मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि हम आपके कोप का परिणाम सहने के लिए बराबर प्रस्तुत हैं। प्रिवेंटिव डिटेन्शन एक्ट के अन्तर्गत पंजाब में कल हमारे कितने ही भाइयों की गिरफ्तारी से हमें आगामी घटनाओं का आभास मिलता हैं यह हमारे देश में प्रजातंत्र का दुर्भाग्य है कि वैधानिक राजनैतिक विरोधी पक्ष को दबाने के लिए प्रिवेंटिव डिटेन्स एक्ट का आश्रय लिया जा रहा है।'

पंडित नेहरू के इस भय का कि आन्दोलन से अन्तर्राष्ट्रीय जटिलताएँ बढ़ेंगी, उल्लेख करते हुए डॉक्टर मुकर्जी ने लिखा, 'जम्मू-आन्दोलन के परिणामस्वरूप आपने जिन सम्भावित अन्तर्राष्ट्रीय जटिलताओं की आशंका की है, मैं उन्हें समझ सकूँ तो मुझे क्षमा करें। आज कोई भी व्यक्ति यह दावा नहीं करेगा कि आपने कश्मीर समस्या पर जिस नीति को अपनाया है उससे हमारी अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति बढ़ी है या हमें अन्तर्राष्ट्रीय समर्थन और सहयोग मिला है। दूसरी ओर आपकी नीतियों ने घर और बाहर, स्वदेश और विदेश, दोनों जगह जटिलताएँ बढ़ाई हैं, राजनीतिवादिता तो यह थी कि आप निष्पक्षता के साथ वस्तुस्थिति का अध्ययन करते हुए मिथ्या अन्तर्राष्ट्रीयता का शिकार बनने की बजाय भिन्न दृष्टिकोणों और

हितों के उचित समन्वय के आधार पर दृढ़तापूर्वक राष्ट्रीय दृढ़ीकरण की परिस्थितियाँ उत्पन्न करते। अगर आपको इसमें सफलता मिल गई तो इससे आप अधिक बलवान बनेंगे और अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार में भी आपका गौरव बढ़ेगा।'

डॉक्टर मुकर्जी ने एक अन्य मार्मिक अनुरोध के साथ पत्र समाप्त किया कि पंडित नेहरू दलगत भावनाओं से ऊपर उठकर मामले को सुलझाने के लिए आगे बढ़ें। उन्होंने लिखा, 'मैं अत्यन्त खेद के साथ यह पत्राचार बन्द कर देना चाहता हूँ, क्योंकि आपके उत्तर भारत में ब्रिटिश सरकार के उच्चाधिकारियों द्वारा दिए जाने वाले उत्तरों से मिलते-जुलते हैं। जो अपनी प्रभुता और गौरव के मद में भूलकर, जन-इच्छा की अवहेलना कर बोला करते थे। केवल यही अन्तर है कि हम कतिपय बड़े प्रश्नों पर असहमत होते हुए भी एक ही माँ की सन्तान हैं और थोड़ी-सी सद्भावना और सहिष्णुता के साथ हम मतवैषम्य की खाई पाट सकते हैं। अगर आप देश के बड़े हितों को ध्यान में रखते हुए मिथ्या गौरव और पार्टी के पक्षपात को ताक में रख शान्तिपूर्ण समझौते की सम्भावनाओं पर विचार करना चाहें तो आपको हमारा सहयोग अहिर्निश मिलेगा। इतना विलम्ब होने पर भी मुझे दृढ़ विश्वास है कि ऐसा करना सम्भव है, परन्तु इस मामले में पहल आप ही कर सकते हैं।'

(9)

पंडित जवाहरलाल नेहरू ने 10 फरवरी को उपर्युक्त पत्र का जो उत्तर दिया वह कुछ संयत भाषा में था और उसमें समस्या का हल ढूँढ़ने की किंचित्मात्र इच्छा दिखाई दे रही थी। उन्होंने लिखा, 'इसमें कोई संदेह नहीं कि आप भारत का कल्याण चाहते हैं, किन्तु बात तो यह है कि भारत के लिए क्या अच्छा है और क्या बुरा, इस विषय में हमारे विचार नहीं मिलते। इसी कारण हमारे गत जीवन अधिकतर विभिन्न क्षेत्रों में ही विकसित हुए हैं। हममें से कोई भी उस अतीत को विस्मृत नहीं कर सकता जिसने आज वर्तमान को जन्म दिया है। मेरे विचार से साम्प्रदायिक दृष्टि व्यष्टि, समष्टि और राष्ट्र सबके लिए मूलत: संकुचित और हानिकर है। आप मेरे इस शब्द-प्रयोग को बुरा मानते हैं और इस बात से इंकार करते हैं कि आप साम्प्रदायिक हैं। कारण, हम लोग भिन्न-भिन्न दृष्टि से इस पर विचार करते हैं और हमारे कार्य भी सम्भवत:, हमारे विचारों का ही प्रतिरूप हैं।

जो भी हो, यह सब आज की स्थिति के लिए बिल्कुल लाभप्रद नहीं है। मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि मैं सच्चे हृदय से भारत में शान्ति चाहता हूँ। यह किसी भी कार्य के लिए आवश्यक है। मैं आपको यह परामर्श दूँगा कि आप जम्मू के इस आन्दोलन को बन्द करने के लिए अपना प्रभाव काम में लाएँ।'

डॉक्टर मुकर्जी ने इस बदले हुए स्वर का हार्दिक स्वागत किया और उन्होंने 20 फरवरी के पत्र में पं. नेहरू को इस समस्या को सुलझाने के लिए पूरी प्रक्रिया सुझाते हुए लिखा, 'मुझे विश्वास है कि देश की वास्तविक आवश्यकताओं के विषय में आपके और मेरे मध्य बहुत-सी साँझी बातें हो सकती हैं। किन्हीं महत् प्रश्नों पर हम अवश्य भिन्न-मत भी हो सकते हैं, किन्तु ऐसे प्रश्नों पर भी हमें एक-दूसरे पर लांछन लगाए बिना पारस्परिक दृष्टिकोण को समझने का प्रयत्न तो करना चाहिए।'

आगे उन्होंने लिखा, 'आपने बड़े सौजन्यपूर्वक मुझे इस आन्दोलन को समाप्त करने के लिए अपने प्रभाव का उपयोग करने को कहा है। मैं ऐसा करने को तैयार हूँ, बशर्ते आप और शेख अब्दुल्ला इसके अनुकूल वातावरण बना दें।

ऐसा करने का एक मात्र तरीका यह है कि आप और शेख अब्दुल्ला आन्दोलन के संचालकों के सम्मुख यह प्रकट कर दें कि आप स्वच्छ मस्तिष्क के साथ उनके साथ वार्त्ता करके ऐसा निर्णय करने को तैयार हैं जो उनकी वैध माँगों को पूरा कर सके। मेरा यह सुझाव है कि आप और शेख अब्दुल्ला उनके कुछ नेताओं से मिलें। यदि यह भेंट दिल्ली में हो सके तो और भी वांछनीय है। अगर उन्हें ऐसा कहा जाए तो मुझे आशा है कि वे आन्दोलन को निलम्बित करने पर सहमत हो जाएंगे। दूसरी ओर अगर आप यह समझते हैं कि मुख्य प्रश्नों पर समझौते की सम्भावनाओं और आन्दोलन को बन्द करने के विषय में जब तक कोई निर्णयात्मक विचार नहीं हो जाता, इस प्रक्रिया से उलझन बढ़ने की सम्भावना है, तो पहले हम स्वयं इन प्रश्नों पर विचार-विमर्श कर देख सकते हैं कि आखिर उनका उचित हल क्या हो। मैं प्रजा-परिषद् की ओर से नहीं बोल सकता, किन्तु उसके विचार-दर्शन को किसी सीमा तक समझते हुए आपके विचारार्थ कुछ सुझाव रख सकता हूँ। अगर मुख्य बातों में कोई समझौता हो जाए तो मैं पं. प्रेमनाथ डोगरा को अपना मत देते हुए पत्र भेज सकता हूँ।

विचारार्थ बिन्दु निम्नलिखित हैं—

(1) राज्य की संविधान सभा भारत में अन्तिम विलय को एक प्रस्ताव द्वारा मान्यता दे।

(2) राज्य, मूलभूत अधिकार, नागरिकता, आर्थिक संगठन, चुंगीकर का विलोप, सुप्रीम कोर्ट, राष्ट्रपति के संकटकालीन अधिकार और चुनाव-कार्य आदि के विषय में भारतीय संविधान की धाराएँ लागू करे। यह निश्चित समय के अन्दर हो जाना चाहिए।

(3) शेष भारतीय संविधान के विषय में शेख अब्दुल्ला बतलाएँ कि वे क्या-क्या

विच्युति चाहते हैं? इन पर पूरा विचार किया जाए।

(4) जम्मू और कश्मीर का संविधान अन्तिम रूप में भारतीय संविधान का एक अंग होगा।

(5) जम्मू और लद्दाख को बिना सीमा-परिवर्तन के प्रान्तीय स्वशासन।

(6) भारतीय ध्वज को सर्वाधिक प्रतिष्ठा।

(7) पाक-अधिकृत क्षेत्र की मुक्ति और अधीनता-विषयक नीति तय की जाये।

(8) धर्मार्थ ट्रस्ट, पुलिस के अन्याय, पीड़ितों के परिवारों को, विशेषकर जो गोली के शिकार हुए हैं, क्षतिपूर्ति आदि के सम्बन्ध में जाँच-पड़ताल का आयोग, जिसके अधिकांश जन राज्य के बाहर के हों, नियत किया जाए।

(9) जिन लोगों की पेंशनों और जायदाद आदि जब्त करने का ऑर्डर हो गया है, उन्हें इनका पुनः प्रदान।

दोनों पक्ष अगर स्वच्छ मस्तिष्क से काम लें तो उपर्युक्त विषयों में से कोई भी ऐसा नहीं है जिस पर तर्कसम्मत समझौता न हो सके। अगर आप महसूस करते हैं कि मेरा दृष्टिकोण ठीक है तो हम उस पर सविस्तार वार्त्तालाप कर निर्णय कर सकते हैं कि कौन-सा पथ ग्रहण करना चाहिए, जिससे कश्मीर का सर्वाधिक हित हो और जो समस्त देश के लिए भी लाभकारी हो।'

अन्त में उन्होंने लिखा, 'आप और शेख अब्दुल्ला समयानुसार उठकर, मिथ्या गर्व का परित्याग कर ऐसा वातावरण बना सकते हैं जिसमें सभी पार्टियों के लिए यह सम्भव होगा कि वे विचार-वैषम्य के बावजूद भी कश्मीर प्रश्न पर अपनी राष्ट्रीय माँग प्रस्तुत कर सकें। आशा है आप मेरे इस पत्र की भावना का समुचित आदर करते हुए आन्दोलन-परिसमाप्ति के लिए क्रियाशील होंगे।'

(11)

पण्डित नेहरू ने 12 फरवरी को उक्त पत्र का भी गोल-मोल उत्तर दिया। उन्होंने केवल एक बात पर बल दिया कि जम्मू और कश्मीर में सवायत्त शासन के होने के कारण राज्य सरकार ही समस्या को सुलझा सकती है।

उन्होंने लिखा, 'दूसरी रियासतों में भी हमें प्रान्तीय स्वशासन का ध्यान रखना पड़ता है और यद्यपि हम वहाँ अपने साथियों को परामर्श देते हैं तथापि हम हस्तक्षेप नहीं करते। केन्द्रीय अधिकारियों के नियन्त्रण में कोई भी प्रान्तीय सरकार नहीं चल सकती।'

किन्तु उन्होंने द्वार अवरुद्ध नहीं किए। वे आगे लिखते हैं, 'यह आन्दोलन बन्द किया जाए और सद्भावना तथा प्रकृत अवस्था को लाने के लिए सभी पक्ष प्रयत्नशील हों; यही सही तरीका है, ऐसा मुझे विश्वास है।'

यह महसूस कर कि पण्डित नेहरू बिना शेख अब्दुल्ला की स्वीकृति के इस ओर कदम नहीं उठाएँगे, डॉक्टर मुकर्जी ने 13 फरवरी को उन्हें पत्र लिखा और यह अनुरोध किया कि वर्तमान वाद-विवाद में प्रजा-परिषद् और इसके नेताओं के पुराने कार्यकलाप को न घसीटें क्योंकि गम्भीर राजनीतिक विषयों पर अपने विरोधियों के साथ पुराने सम्बन्धों के आधार पर विचार करना निरापद नहीं है। आगे उन्होंने लिखा, 'मैं आपके अतीत से अच्छी तरह अवगत नहीं हूँ, किन्तु मैंने कुछ पत्रक और प्रमाण देखे हैं। आपने स्वयं एक साम्प्रदायिक दल के नेता के रूप में कार्य शुरू किया था।' (डॉ. मुकर्जी एक ओर शेख अब्दुल्ला और दूसरी ओर अहमदी फिरके के खलीफा व राजनीतिक विभाग के अन्य अफसरों के मध्य 1930-35 में हुए पत्राचार का प्रसंग दे रहे थे जो शेख अब्दुल्ला के प्रारम्भिक राजनीतिक जीवन पर भयानक प्रकाश डालता है जब वे ब्रिंटिश सरकार की कठपुतली मात्र थे) इसके बाद डॉक्टर साहब ने लिखा, 'यह सरासर अनुचित होगा कि अलीगढ़ से लेकर विगत जीवन का इतिहास देखकर आपके वर्तमान उद्देश्यों का मूल्यांकन किया जाए।'

उन्होंने इस ओर विशेष इंगित किया कि 'भारत द्विराष्ट्र सिद्धान्त के कारण दो टुकड़ों में विभक्त हो गया है। आप अब कश्मीर को तीसरा राष्ट्र बनाकर त्रिराष्ट्र सिद्धान्त बना रहे हैं। ये भयावह लक्षण हैं जो आपके राज्य अथवा समस्त भारत की भलाई के विरुद्ध हैं।'

उन्होंने उनसे पुन: आग्रह किया कि वे परिस्थिति के अनुसार मामले को सुलझाने के लिए अग्रसर हों। उन्होंने लिखा, 'मैं आपसे प्रार्थना करूँगा कि आप मिथ्या गर्व में न भूलते हुए इस अन्तिम स्थिति में भी सभी झगड़े निपटाने के लिए प्रजा-परिषद् के नेताओं से विचार-विमर्श करें।'

(13)

इसके साथ ही डॉक्टर साहब ने पण्डित नेहरू के 12 फरवरी के पत्र का उत्तर दिया, जिसमें उन्होंने इस बात का विशेष बल दिया कि 'आप और शेख अब्दुल्ला को सबसे पहले यह निर्णय करना है कि आप प्रजा-परिषद् के नेताओं से वार्त्ता करने के लिए तैयार हैं या नहीं। आप ऐसा करें, मेरी विनय है।'

उन्होंने सुझाव दिया, 'आप दोनों को प्रजा-परिषद् के कुछ चुने हुए प्रतिनिधियों से मिलने पर सहमत होना चाहिए और इसके तत्काल बाद ही आन्दोलन फौरन बंद हो जाएगा। मुझे विश्वास है कि इसके बाद प्रकृत स्थिति और सद्भावना उत्पन्न करने की प्रक्रिया स्वत: हो जाएगी। अगर उनके विचारों को उचित और न्यायसम्मत रूप से समझा गया तो कोई कारण नहीं कि वे सद्भावना का उत्तर सद्भावना से न दें।'

विलय की अन्तिम अवस्था के रूप में, पंडित नेहरू ने लिखा था कि 'जेनेवा में होने वाली वार्त्ता के कारण अभी कोई भी सार्वजनिक घोषणा नहीं हो सकेगी।' डॉक्टर मुकर्जी ने इस पर लिखा कि अगर इस विषय में उन्हें कोई आश्वासन दिया जाए तो वे स्वयं प्रजा-परिषद् के नेताओं से कहेंगे कि वे अभी खुली घोषणा का आग्रह न करें, किन्तु साथ ही उन्होंने पंडितजी का ध्यान इस ओर भी आकर्षित किया कि 'सच कहा जाए तो हम विलय के प्रश्न को लेकर यू.एन.ओ. में नहीं गए थे।'

पाक-अधिकृत क्षेत्र की मुक्ति और पुनः-प्राप्ति के विषय में उन्होंने लिखा, 'इस सम्बन्ध में किसी भी सार्वजनिक घोषणा की आवश्यकता नहीं है, किन्तु सम्बद्ध लोगों के साथ अपने वार्त्तालाप के परिणामस्वरूप स्थिति का सम्पूर्ण दिग्दर्शन कराया जा सकता है।'

संवैधानिक धाराओं के प्रयोग के विषय में उन्होंने सुझाव दिया कि वे सभी परिभाषाओं को छोड़ व्यावहारिक रूप में चलने में सहमत हों। उन्होंने लिखा, 'मैं नहीं सोचता कि हमें कम-से-कम धाराओं पर, जो जम्मू-कश्मीर पर तुरन्त लागू हो सकती हैं, सहमत होने में कठिनाई आएगी। हम शेष विषयों पर विचार करना तब तक स्थगित कर सकते हैं, जब तक हमें यह पता न चल जाए कि कश्मीर सरकार के उनके सम्बन्ध में क्या सुझाव हैं।'

अन्त में व्यक्तिगत भेंट का पुनः आग्रह करते हुए उन्होंने लिखा, 'मैं कल प्रभात को कलकत्ता के लिए प्रस्थान करूँगा और वहाँ से सोमवार मध्याह्न को वापस आ ज़ाऊँगा। अगर आप यह महसूस करते हैं कि इस अवस्था में व्यक्तिगत वार्त्ता लाभप्रद होगी तो मैं आज किसी भी समय ,आपसे मिलने के लिए आ सकूँगा। मैं आज सायं 6 से 7।। के अतिरिक्त अन्य किसी भी समय, जब आपको सुविधा हो, सहर्ष आपसे मिलने आ सकूँगा।'

(14)

इस पत्राचार में प्रतिभासित आशा की किरण स्थायी न हुई। पण्डित नेहरू ने 15 फरवरी को डॉक्टर साहब को उत्तर में लिखा कि वे रात देर तक उनका पत्र न पढ़ पाए, अतः उनके व्यक्तिगत मुलाकात के सुझाव का लाभ नहीं उठा सके। वे डॉक्टर मुकर्जी को कलकत्ता से वापसी पर मिल सकते थे। किन्तु प्रतीत होता है कि इस बीच शेख अब्दुल्ला ने वार्त्ता का समस्त आधार छिन्न-छिन्न कर दिया था। वह प्रजा-परिषद् के नेताओं के साथ आमने-सामने होकर बात करने के लिए तैयार नहीं था और पण्डित नेहरू में इतना साहस न था कि शेख की इच्छा के विपरीत चलें। इसलिए उन्होंने अपने और डॉक्टर मुकर्जी के मूल विचार-भेद पर पुनः जोर दिया और लिखा, 'इन दोनों दृष्टिकोणों में कोई सामान्य भूमि नहीं है।

अपने मार्ग-दर्शक उद्देश्यों और पालित नीतियों के अनुसार, सरकार जम्मू और कश्मीर रियासत में प्रकृत अवस्था और शान्तिपूर्ण सहयोग के लिए सभी प्रयत्न करेगी, किन्तु यह आन्दोलन हमारी इच्छा से शुरू नही हुआ और इसे बिल्कुल बन्द करना ही समस्या के हल के लिए पहला कदम होना चाहिए।'

(15)

पण्डित नेहरू के इस पत्र से स्पष्ट था कि वे फिर प्रत्यपवाद और विमूर्त्त सिद्धान्तों की ओर जा रहे थे जहाँ से डॉक्टर मुकर्जी उन्हें तोड़ने की कोशिश कर रहे थे, किन्तु सफलता की क्षीण सम्भावना के रहने तक डॉक्टर मुकर्जी हताश होने वाले नहीं थे। उन्होंने 17 फरवरी को पण्डित नेहरू से मामलों को सुलझाने के लिए कुछ सक्रिय बनाने की अंतिम चेष्टा में आखिरी पत्र लिखा।

उन्होंने लिखा, 'जब हम विशेष बातों में असम्बद्ध मानसिक दृष्टिभंगियों के विषय में वार्त्ता करते हैं तो यह एक विमूर्त्त रूप ले लेता है और कल्पित दोषारोपण होने लगते हैं। जब कोई आन्दोलन सप्ताहों चलता है और उसमें कितनों की प्राणहानि, विविध रूप से दमन और अतिचार होता है तो वह तब तक बन्द नहीं हो सकता जब तक यह न विदित हो जाए कि जिस लक्ष्य से संघर्ष जारी हुआ है, उस पर शासक-मण्डली उचित विचार करेगी। आप यह भी महसूस करेंगे कि इस आन्दोलन को बन्द करना न मेरे बलबूते का है, न भारत में और किसी के वश का है। यह उन लोगों द्वारा ही होना चाहिए जिन्होंने इसे आरम्भ किया था, जिनमें से अनेक आज जेल की सीखचों में बन्द हैं। उन्हें इस विषय पर मिलना होगा और भविष्य में क्या होने वाला है, इसकी रूपरेखा से अवगत भी कराना होगा।

अच्छी तरह मनन करके और आपका यह विचार जानकर भी कि पहला काम इस आन्दोलन को पूरी तरह समाप्त करने का ही हो, मैं आपके विचारार्थ निम्नोक्त प्रक्रिया प्रस्तुत कर रहा हूँ–

(1) आन्दोलन बन्द किया जाए।

(2) बन्दियों को रिहा करने का आदेश दिया जाए और किसी प्रकार की कोई प्रतारणा न हो।

(3) आप और शेख अब्दुल्ला चाहें तो पन्द्रह दिनों के बाद एक बैठक बुलाएँ जिसमें खुले मस्तिष्क से सभी राजनीतिक और संवैधानिक बातों की विवेचना की जाए।

(4) दोनों पक्षों का यह मत है कि जम्मू और कश्मीर रियासत की एकता अक्षुण्ण रखी जाएगी और जम्मू प्रांत को इकाई मानकर वहाँ स्वशासन चालू किया जाएगा। यही बात उद्दाख और कश्मीर की घाटी पर भी लागू होगी।

(5) नया संविधान यथासम्भव शीघ्र लागू हो और 6 माह के अन्दर नए चुनाव हो जायें।

(6) झण्डे का प्रश्न स्पष्ट होना चाहिए और भारत के अन्य प्रान्तों के समान यहाँ भी प्रतिदिन झण्डा ही फहराना चाहिए।

(7) जम्मू-कश्मीर संविधान सभा के अगले सत्र में अनिर्णीत प्रश्नों पर उचित विचार-विमर्श के बाद 'जुलाई-समझौता' कार्यान्वित हो। मूलभूत अधिकार, नागरिकता, सुप्रीम कोर्ट, राष्ट्रपति के अधिकार, आर्थिक संगठन और चुनाव-कार्य आदि पर भारतीय संविधान की धारायें लागू होंगी। भूमि-प्राप्ति की शर्तों के विषय में अपवाद अवश्य हो सकते हैं।

(8) जाँच आयोग का अधिकार-क्षेत्र बढ़ाया जाए और लोगों की सभी शिकायतों पर विचार हो।

(9) आयोग में अभी चार व्यक्ति हैं—चीफ जस्टिस, एकाउंटेंट जनरल, चीफ कन्जरवेटर ऑफ फारेस्ट्स और रेवेन्यू कमिश्नर। पिछले तीन महानुभाव जम्मू-कश्मीर रियासत में प्रशासनिक अफसर हैं और उन पर शायद ही विश्वास किया जा सके। आयोग का पुनर्गठन होना चाहिए। इसमें भारत के दो जज और जम्मू-कश्मीर के चीफ जस्टिस होने चाहिए ताकि उनकी निष्पक्षता और प्रतिनिधित्व में सन्देह न रहे।

(10) विलय की अन्तिम बात अन्य राजनीतिक मामलों में इन बिन्दुओं पर प्रत्येक दृष्टि से विचार करेगी। समझौता ऐसा होना चाहिए जो जम्मू-कश्मीर सहित भारत के सर्वाधिक हित में हो।

समस्या के समग्र रूप के विषय में अगर कोई सहमति हो पाए तो मैं प्रेमनाथ डोगरा से सम्पर्क बनाना पड़ेगा। अन्तिम निर्णय उन्हीं को करना है। हम उन्हें यह सुझाव चाहे दे देंगे कि हमारे विचार से शान्तिपूर्ण और त्वरित हल निकालने के लिए क्या करना चाहिए। मुझे विश्वास है कि वे तथा अन्य लोग कोई बाधाजनक रुख नहीं रखेंगे वरन् प्रत्येक सम्भव तरीके से सहयोग देने को तत्पर रहेंगे।

यह पत्र भी इस प्रार्थना के साथ समाप्त हुआ कि 'अगर आप यह समझते हैं कि मेरे सुझाव पर आपके गम्भीर चिन्तन की आवश्यकता है और इन पर व्यक्तिगत रूप से वार्त्ता करनी चाहिए, तो मैं जब भी आपको सुविधा होगी आपसे सहर्ष आकर मिलूँगा और अगर आपने यह अन्तिम फैसला कर लिया है कि यह आन्दोलन बिना किसी शर्त के बन्द करना है और किसी भी अन्य बिन्दु पर सामंजस्य नहीं हो सकता, तो मैं बहुत दुःख के साथ इस निर्णय पर पहुँचूँगा कि मैं अपने प्रयत्नों में असफल रहा हूँ।'

(16)

डॉक्टर मुकजी को न तो इसका उत्तर ही मिला और न व्यक्तिगत भेंट के विषय में कोई सन्देश आया। इस बदले हुए रवैये का कारण उन्हें शेख अब्दुल्ला

के 18 फरवरी के पत्र से स्पष्ट हो गया। शेख अब्दुल्ला ने साफ लिखा, 'मैं यह स्पष्ट कहूँगा कि प्रजा-परिषद् के नेतृत्व का उद्देश्य और प्रयोजन विध्वंसकारी और साम्प्रदायिक है। परिणामस्वरूप उनसे समझौते की बातचीत करना हमारे लिए सम्भव न होगा।'

(17)

23 फरवरी को डॉक्टर मुकर्जी ने शेख अब्दुल्ला को अन्तिम पत्र लिखा, जिसमें उन्होंने भारत में विलय होने के बाद की रियासत बनाम भारत तथा स्वयं शेख अब्दुल्ला बनाम महाराज की पूरी संवैधानिक स्थिति की व्याख्या कर उसे उनके मनोनीत पथ के खतरों की चेतावनी दी। उन्होंने लिखा, 'मैं आपकी प्रजा-परिषद् के प्रतिनिधियों से वार्त्तालाप करने की अस्वीकृति को समझ नहीं सका। आप जो रियासत की प्रमुख राजनीतिक पार्टी के प्रतिनिधि हैं और जिसके हाथों में सरकार की ताकत है, यदि यह निश्चय कर लेते हैं कि आपका विरोध करने वाली राजनीतिक पार्टी का दमन करना है और प्रयोजन-पूर्ति के लिए शक्ति तथा अन्य उपायों का प्रयोग करना है, तब आप एक जनतान्त्रिक नेता नहीं रहते हैं। आप तानाशाह बन जाते हैं। फिर भी आपकी सफलता संदिग्ध है, क्योंकि इतिहास बतलाता है कि ऐसे सभी मामलों में आन्दोलन परोक्षत: चलता है और अन्त में प्रभुत्वसम्पन्न तानाशाह को स्वाधीनता-संग्राम में पराजित होना पड़ता है।'

इस पत्र-व्यवहार से यह स्पष्ट है कि डॉक्टर मुकर्जी की तर्क परायणता पण्डित नेहरू और विशेषकर दिल्ली एवं श्रीनगर में उनके चेतना-स्रोतों पर कोई प्रभाव न डाल सकी। सम्भवत: पण्डित नेहरू को यह ठीक सूचना नहीं मिली थी कि प्रजा-परिषद् का आन्दोलन कितना जनप्रिय है और समस्त भारत में इसको कितनी सहानुभूति प्राप्त है। एतद्भिन्न पण्डित जी और उनके सलाहकार शायद भ्रान्तिपूर्वक यह सोचते थे कि डॉक्टर मुकर्जी केवल शब्दों के धनी हैं, कर्म के धनी नहीं। लोकसभा में अपनी विशाल बहुसंख्या से गर्वोन्नत वे सोचते थे कि डॉक्टर साहब के विवेकपूर्ण तर्कों पर कर्णपात न करना बड़ा सुगम और भयरहित है, किन्तु उन्हें शीघ्र ही यह मालूम हो गया कि वे (डॉक्टर साहब) अपने लक्ष्यों के प्रति उतने ही कर्मपटु भी थे।

डॉ. मुकर्जी का लम्बा पत्र-व्यवहार पंडित नेहरू और शेख अब्दुल्ला का हृदय-परिवर्तन न कर सका, जिसके बिना जम्मू के विषय में न्याय-संगत समझौता होना असम्भव था। इससे सभी देशानुरागियों के हृदय व्यथित हो उठे। भारत के उपराष्ट्रपति एस. राधाकृष्णन जैसे सम्भ्रान्त व्यक्तियों ने, जिनके हृदय में डॉ. मुकर्जी के प्रति जो राष्ट्रीय हित के लिए अपने लोगों से (जैसे कि पंडित जी थे) सामंजस्य स्थापित करने के लिए किसी भी सीमा तक जा सकते थे, अतुल आदर था, मध्यस्थ बनकर मामले को निपटाने का प्रयत्न भी किया, किन्तु अधिकार-सम्पन्न शासकीय दृष्टि वाले ब्रिटिश वाइसरायों के विपरीत जिन्होंने अपनी पितृभूमि में ही जनतंत्र की शिक्षा पाई थी और इस हेतु अपनी दृष्टि में सामान्य व्यक्तियों के तर्कों और मंत्रणाओं को मान्यता देने में शालीन थे, पं. नेहरू मुगल दरबार के वातावरण में रह रहे थे जहाँ उनके कर्ण केवल चापलूसों की भाषा ही समझ सकते थे। इससे भी बढ़कर उन्होंने शेख अब्दुल्ला को जो वीटो का अधिकार दे रखा था, उससे भी कोई बचाव न था। अतएव डॉ. राधाकृष्णन् के प्रयास विफल हो गये और जहाँ राधाकृष्णन असफल हो गए वहाँ अन्य किसी के सफल होने की क्या आशा थी?

किन्तु डॉ. मुकर्जी इससे निरुत्साहित होकर बैठने वाले नहीं थे। उन्हें जम्मू में आतंकशाही के समाचार प्रतिदिन मिल जाया करते थे।

वे हृदय से यह विश्वास करते थे कि प्रजा-परिषद् के आन्दोलन का लक्ष्य भारत की एकता है और इसलिए यह उनका अपना और प्रत्येक देशभक्त भारतीय का लक्ष्य है। परिषद् के पास सत्य था तो सरकार के पास शक्ति। इस स्थिति में उनका कर्त्तव्य स्पष्ट था। एक कर्मयोगी के समान उन्होंने समर्थ रामदास के शब्दों में 'धर्मशक्ति' और 'नीतिशक्ति' का प्रयोग किया, किन्तु वे असफल रहे।

पवित्र लक्ष्य की प्राप्ति के लिए समर्थ रामदासजी ने जिस अन्तिम अस्त्र 'राजशक्ति'—शक्ति का तर्क—का प्रतिपादन किया था, डॉ. मुकर्जी उससे वंचित थे, किन्तु वे एक जनतंत्री थे। वे जानते थे कि जिस शक्ति ने देश के कांग्रेसी शासकों को मदमत्त कर दिया है और कश्मीर में बवण्डर उत्पन्न कर दिया है, वह जनसाधारण से प्रत्यक्ष निवेदन कर ऐसा देशव्यापी जनमत बनाने का निश्चय किया जिसकी घृणापूर्वक अवहेलना करना सरकार के लिए असम्भव हो जाए।

किन्तु सरकार ने उन्हें ऐसा करने की अनुमति भी न दी। वह भारतीय जनसंघ और इसे सहयोग देने वाली अन्य पार्टियों के इस राष्ट्रीय समस्या के प्रति जनता को जागरूक बनाने के जनतांत्रिक अधिकारों को छीनने के लिए पहले ही अग्रसर

हो चुकी थी। पंडित नेहरू के प्रति अपनी भक्ति प्रदर्शित करने को अत्यन्त लालायित पंजाब सरकार ने पहले ही जनसंघ पर प्रहार करके उसके अधिकांश चोटी के नेताओं को नजरबन्दी के अन्तर्गत बन्दी बना लिया था। उसने प्राय: सभी जिलों में धारा 144 लगा दी जो व्यवहारत: केवल जनसंघ के लिए ही थी। कांग्रेस के प्रतिनिधि और शेख अब्दुल्ला के भाड़े के टट्टू नि:शंक होकर प्रजा-परिषद् तथा जनसंघ के विरुद्ध खुले आम विष उगला करते थे। राजधानी भी पीछे रहने वाली नहीं थी। कुछ कालोपरान्त दिल्ली में भी जलसे और जुलूसों पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया जो मुख्यत: जनसंघ और इसके समर्थकों के लिए ही था।

इससे एक नई स्थिति पैदा हो गई। अपने लोकजीवन में पदार्पण करने के समय में ही नागरिक स्वाधीनता का स्थायित्व और सुरक्षा डॉ. मुकर्जी का एक प्रमुख कार्य रहा था। बंगाल सरकार में स्वयं रहते हुए भी उन्होंने बंगवासियों की नागरिक स्वतंत्रता के लिए संघर्ष किया था। यह उनका दृढ़ विश्वास था कि बिना नागरिक स्वतंत्रता के जनतंत्र नहीं पनप सकता। उनकी दृष्टि में दिल्ली तथा अन्य स्थानों में होने वाली शांतिपूर्ण जनसभाओं और जुलूसों पर यह प्रतिबन्ध जनतन्त्र को चुनौती था। प्रजा-परिषद् के प्रति सरकार का दमनचक्र और अराष्ट्रीय नीति के बाद उसका यह रवैया जलती आग में घी डालने के समान था।

जम्मू में बढ़ते हुए दमनचक्र का विरोध करने और मुक्त भाव से परस्पर मिलने-जुलने तथा राष्ट्रीय समस्याओं पर अपने विचार व्यक्त करने के जनतांत्रिक अधिकार की रक्षा करने की लोकेच्छा का प्रदर्शन करने के लिए डॉक्टर साहब ने 5 मार्च, 1953 को समस्त देश में जम्मू-कश्मीर दिवस मनाने का आह्वान किया। कार्यक्रम यह था कि जनता को कश्मीर के प्रति जनसंघ और इसके मित्रदलों की नीति समझाने के प्रयोजन से जनसभायें की जाएँ और शान्तिपूर्वक जुलूस निकाले जाएँ।

दिल्ली स्टेट असेम्बली के लिए उन्हीं दिनों होने वाले चार उपचुनावों के परिणाम से मालूम हुआ कि जनता डॉ. मुकर्जी के दृष्टिकोण को समझ रही थी।

जनसंघ ने तीन सीटें जीतीं और चौथी कुछ ही वोटों से हारी। उभय पक्षों ने कश्मीर समस्या का चुनाव का मुख्य प्रश्न बनाया था और कांग्रेस ने तमाम सरकारी मशीनरी के साथ-साथ अनेक कश्मीरी मन्त्रियों और संसद-सदस्यों को सहायतार्थ लगाया था।

अगर कांग्रेस शासक जनता की इच्छाओं की कद्र करने वाले होते तो उन्हें महसूस करना चाहिए था कि लोग उनकी जम्मू-कश्मीर-विषयक नीति को नापसन्द करने लगे हैं, इसलिए उन्हें प्रजा-परिषद् और भारत में इसके समर्थकों के प्रति अधिक यथार्थवादी रुख अपनाना चाहिए था, किन्तु ऐसा न हुआ।

इसी दौरान में डॉ. मुकर्जी ने कश्मीर के विषय में जनसंघ के विचारों की व्याख्या करने के उद्देश्य से यू.पी. के पश्चिमी जिलों का दौरा किया। वे मुजफ्फरनगर, सहारनपुर, हरिद्वार और देहरादून गए। देहरादून में उन्होंने जनसंघ के कार्यकर्ताओं द्वारा स्थानीय लोगों की सहायता से निर्मित चार मील लम्बी नहर का उद्घाटन भी किया। उनका भाषण सुनने के लिए सर्वत्र लाखों व्यक्ति एकत्र हुए और उन्होंने उन्हें अपनी सहायता का आश्वासन दिया।

जैसे ही पाँच मार्च हुआ, दिल्ली के अधिकारी घबराने लगे। वे जनसंघ के पक्ष में लोगों की बढ़ती हुई सहानुभूति को देख रहे थे और उन्होंने यह अनुभव किया कि प्रतिबन्ध के बावजूद उस दिन की घोषित सभा होकर रहेगी। अत: उन्होंने परिस्थिति तथा बुद्धिमता का परिचय देते हुए सभा शुरू होने के पहले ही प्रतिबन्ध हटा दिया।

स्वामी करपात्रीजी की अध्यक्षता में यह सभा क्वीन्स गार्डन में हुई। वातावरण आवेशपूर्ण था। एकत्र पचास सहस्र लोगों में से बहुत कम ही यह जानते थे कि प्रतिबन्ध हट गया है और उनकी सभा वैध है। वे तो इस दृढ़ निश्चय में आये थे कि हमें अपनी मान्यताओं के कारण जो भी यातनाएँ सहनी पड़ेंगी, सब सहेंगे। अनेक व्यक्ति तो अपने साथ कपड़े के गीले टुकड़े लाये थे ताकि आँखों को अश्रुगैस के प्रभाव से सुरक्षित रख सकें।

उस सन्ध्या को डॉ. मुकर्जी ने अपने जीवन का सबसे अधिक ओजस्वी भाषण दिया। एक-एक शब्द मानो उनके हृदय की गहराइयों से निकल रहा था। उन्होंने बतलाया कि किस तरह उन्होंने शासकवर्ग के आगे प्रजा-परिषद् का उद्देश्य प्रस्तुत करने का प्रयास किया जो विश्लेषण किया जाए तो समस्त भारत का उद्देश्य था। वे चाहते थे कि अधिकारी यदि और कुछ नहीं कर सकते थे तो कम-से-कम प्रजा-परिषद् के नेताओं को बुलाकर अपना दृष्टिकोण तो उनके सम्मुख रखें। उन्होंने उनसे प्रार्थना की थी कि जम्मू के देशभक्तों से अछूतों जैसा व्यवहार न रखें, किन्तु उनके सभी प्रयत्न विफल हुए। उन्होंने अन्त में आह्वान किया कि अब यह जनता का काम है कि वह समग्र देश के हित में सरकार को अपनी बात सुनने के लिए बाध्य करे।

अन्य वक्ताओं ने डॉ. मुकर्जी की तुलना भगवान् श्रीकृष्ण से की जिन्होंने शासक कौरवों से पांडवों के लिए न्याय की माँग करते हुए सीमातीत कार्य किया था। स्थिति बिल्कुल ऐसी ही थी। प्रजा-परिषद् के लिये न्याय की माँग करने में डॉ. मुकर्जी का कार्य भगवान् कृष्ण से रंचमात्र भी कम न था। उन्होंने अपूर्व नीतिमत्ता दिखलाई थी।

लोग डॉ. मुकर्जी से मार्गदर्शन की आशा करते थे। डॉक्टर साहब के पास

केवल यही उपाय रह गया कि वे जम्मूवासियों की यातना को बाँटने के हेतु शेष भारत में भी शान्ति-अहिंसापूर्ण संघर्ष जारी कर दें, जिससे कभी पंडित नेहरू का दिल बदल जाए और अगर न बदले तो देश में ऐसी चेतना का उद्रेक हो कि लोग उनकी देशघातक नीतियों को समझ सकें। उनके हृदय में इस समय अन्तर्द्वन्द्व था। एक कर्मयोगी योद्धा के नाते वे सत्याग्रह का बिगुल बजाना चाहते थे, परन्तु एक जनतन्त्री के नाते वे सोचते थे कि जनतांत्रिक देश में जहाँ साधारणतया शासक वर्ग को जनमत के आगे झुकना चाहिए, ऐसा कदम अस्वाभाविक दिखेगा, परन्तु जनतन्त्री उपायों की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि जनतान्त्रिक सरकार जनमत को व्यक्त करने और उसे सुसंगठित करने की अनुमति दे। डॉ. मुकर्जी को अभी भी यह आशा थी कि शायद पंडित नेहरू का जनतान्त्रिक भाव अभी भी उनकी बढ़ती हुई तानाशाही प्रवृत्ति के विरुद्ध सिर उठाए। अतएव उन्होंने अपने लोगों की इच्छाओं के प्रतिकूल पंडित नेहरू को एक बार फिर परखने की कोशिश की। उस दिन यह घोषणा कर दी गई कि अगले दिन 6 मार्च को जम्मू में पुलिस की गोली के शिकार कुछ शहीदों की भस्म को जुलूस बनाकर रेलवे-स्टेशन से निकाला जाएगा। डॉ. मुकर्जी, श्री एन.सी. चटर्जी और श्री नन्दलाल शास्त्री एम. पी. जुलूस का नेतृत्व करेंगे। ऐसा करने में यह उद्देश्य था कि लोगों को जम्मू के दमनचक्र से कुछ अवगत कराया जाए, किन्तु दूसरे दिन, जैसे ही जुलूस निकलने वाला था, फिर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। डॉ. मुकर्जी और उनके साथी नियत समय (4 बजे सायं) पर वहाँ पहुँचे, तो भारतीय दण्डविधि की धारा 188 के अन्तर्गत पकड़ लिए गए।

डॉक्टर साहब की गिरफ्तारी के समाचार से देशभर में तहलका मच गया। जगह-जगह विशाल विरोधी सभायें और हड़तालें हुईं। दिल्ली में स्थान-स्थान पर बड़े जुलूस निकले जिन पर पुलिस ने लाठी-प्रहार किया और अश्रुगैस भी छोड़ी।

सरकार के दुर्भाग्य से जिस न्यायाधीश ने डॉ. मुकर्जी को गिरफ्तार किया था, वह नियत समय में अदालत के सामने अपने सम्भ्रान्त बन्दियों को पेश करने की प्राथमिक कानूनी कार्रवाई करने से चूक गया। अतएव बाबू रामनारायण सिंह एम. पी. ने सुप्रीम कोर्ट के सामने हैबियत कॉर्पस (बन्दी प्रत्यक्षीकरण) का आवेदन किया, जिसने डॉ. मुकर्जी और उनके साथियों को 11 मार्च को मुक्त करने का आदेश दे दिया।

किन्तु इनके विरुद्ध दफा 128 को तोड़ने के अन्तर्गत एक स्थायी केस बना दिया गया। डॉ. मुकर्जी ने अपना बचाव पसन्द नहीं किया, क्योंकि वे समझते थे कि मिलने-जुलने और विचाराभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता उनका मौलिक जनतान्त्रिक अधिकार है और जुलूस में शामिल होकर उन्होंने कोई अपराध नहीं किया है, किन्तु

श्री एन.सी. चटर्जी की यह इच्छा थी कि इसका प्रतिरोध किया जाए। उनके वकील ने हाईकोर्ट में प्रस्तुत करने के लिए कुछ कानूनी नुक्ते भी उठाए। इससे मुकदमा लम्बा हो गया।

सुप्रीम कोर्ट द्वारा मुक्त होने के समय डॉ. मुकर्जी दफा 128 के अन्तर्गत मामले से व्यक्तिगत प्रतिज्ञापत्र भरने को सहमत हो गए थे।

उन्होंने सोचा था कि मुकदमा शीघ्र समाप्त हो जाएगा और उन्हें दण्डाज्ञा भी शीघ्र मिल जाएगी जिसके लिए वे तैयार थे। मुकदमे के लम्बे हो जाने से वे अधीर हो उठे। वे अपने तरुण साथियों के साथ हिरासत में लिए गए थे और जेल में विचाराधीन (नदकमत जतपंसे) के रूप में रह रहे थे। वे जम्मू तथा भारत के विभिन्न क्षेत्रों से दमन के समाचारों से व्यथित हो रहे थे। वे सत्याग्रहियों के साथ जेल में रहकर उनकी यातना के भागी बनना चाहते थे। अत: उन्होंने अनेक बार कोशिश की कि वे अपनी जमानत वापस लेकर पुन: जेल चले जाएँ, किन्तु सरकार उन्हें जेल में दुबारा नहीं भेजना चाहती थी, क्योंकि इससे लोकसभा के अन्दर और बाहर सर्वत्र एक तहलका मच जाता। एतदर्थ डॉ. मुकर्जी को अपनी इच्छा के नितान्त विपरीत जेल से बाहर रहना पड़ा।

डॉ. मुकर्जी ने देशवासियों को कश्मीर के प्रति अपने विचारों और उन परिस्थितियों से, जिन्होंने पहले प्रजापरिषद् और फिर जनसंघ तथा अन्य सहयोगी दलों को आत्मबलिदान और यंत्रणा के पथ पर चलने का बाध्य किया था, अवगत कराने में इस अवसर का सदुपयोग किया। मार्च और अप्रैल के महीनों में वे ग्वालियर, इन्दौर, जयपुर, कलकत्ता, बम्बई, बंगलौर, पटियाला और पटना गए। उनकी तर्कयुक्त वाणी और कर्म का शंखनाद सुनने के लिए लाखों की संख्या में लोग सब जगह एकत्र हुए। जनता कश्मीर के विषय में उनके विचारों की कद्र करने लगी थी और वह उनमें ऐसे वैकल्पिक नेतृत्व की झलक देखने लगी थी जो देश को एक व्यक्ति की अन्धी तानाशाही से बचाने में समर्थ हो।

सर्वत्र उन्हें बड़े-छोटे, धनी-निर्धन सबकी ओर से सहयोग का आश्वासन मिला।

उन दिनों यह नारा बहुत चला—

नेहरू ज्यों-ज्यों गरजेगा।

जनसंघ त्यों-त्यों बरसेगा॥

(नेहरू का रोष जितना बढ़ेगा, जनसंघ उतना ही मजबूत होगा।)

बम्बई में, जहाँ वे अप्रत्याशित रूप से चन्द घंटों के लिए ही गए, लक्षावधि लोग चौपाटी के मैदान में उनका भाषण सुनने के लिए इकट्ठे हो गए। पटियाला में उनकी इस अपूर्व घोषणा से कि मैं सिक्खों को हिन्दू समाज का एक अंग मानता

हूँ और इसलिए अन्य हिन्दुओं के साथ उनकी एकता के लिए सौदेबाजी नहीं करना चाहता, जनता सिहर उठी। उन्होंने सिक्खों से अपील की कि हिन्दू के नाते अपनी बात कहें, तब वे जो चाहेंगे हो जाएगा।

सत्याग्रह में उनकी नेतृत्व-शक्ति, साधारण कार्यकर्ताओं में प्रेम और विश्वास उत्पन्न करने की क्षमता, लोगों की परख, कृत्रिम और अकृत्रिम की पहचान आदि विशेषतायें प्रकट हुईं। अपनी विजयी मुस्कान, उत्साह के दो बोल और अपनी संक्रामक तत्परता से अपने सम्पर्क में आने वाले लोगों का विशेषकर सामान्य कार्यकर्ताओं का हृदय जीतने में वे दक्ष थे।

देश की राजधानी तथा सभी राजनीतिक गतिविधि का केन्द्र होने के कारण वे दिल्ली में जनसंघ के कार्य पर विशेष ध्यान देते थे। इसीलिए उन्होंने इसे सत्याग्रह का प्रमुख केन्द्र बनाया था। उन्हें विश्वास था कि दिल्ली में उनके आह्वान का समुचित उत्तर मिलेगा। इसीलिए एक दिन जब प्रातः वेला में दिल्ली प्रदेश जनसंघ में प्रमुख पद रखने वाले एक महानुभाव ने 'गोपन' में उन्हें यह बतलाया कि दिल्ली के लोग थक गये हैं, अतः यह आन्दोलन बन्द कर देना चाहिए तो वे स्तम्भित रह गये। उन्होंने शान्तिपूर्वक यह खबर सुनी और उस व्यक्ति के जाते ही अपने उत्साही महामन्त्री पं. दीनदयाल उपाध्याय को बुला भेजा जो पूरे आन्दोलन का संचालन कर रहे थे। उन्होंने उपाध्याय जी को उक्त रिपोर्ट बतलाई। वे भी चकरा गए। अपनी शक्ति का पूरा भरोसा होने के कारण वे इस समाचार पर विश्वास न कर सके, किन्तु उनके कुछ कहने के पहले ही डॉ. साहब बोले, 'मुझे लगता है इसने अपनी ही कायरता पर पर्दा डालने के लिए यह समाचार दिया है। आपने इतने दुर्बल और स्वार्थी व्यक्ति को ऐसा दायित्वपूर्ण पद कैसे दे दिया?' उस दिन के के बाद डॉ. साहब ने उस व्यक्ति पर कभी विश्वास नहीं किया।

यह उदाहरण एक अपवाद ही था। आन्दोलन की अग्नि में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के प्रशिक्षित कार्यकर्ताओं की क्षमता चमक उठी। अभी तक डॉ. साहब ने उनका एकाग्र कर्त्तव्य-प्रेम और सहज आत्म-बलिदान ही सुना था, अब उन्होंने इसका क्रियान्वित हुआ रूप भी देखा।

इस आन्दोलन की प्रमुख विशेषता यह थी कि इसमें सम्मिलित होने वाले अधिकांश लोग समाज के शिक्षित और राजनीतिक चेतना-सम्पन्न व्यक्ति थे। अनुमान लगाया गया था कि देशभर में गिरफ्तार होने वाले प्रायः दस सहस्र सत्याग्रहियों में से कोई एक सत्याग्रही व्यवसायी, ग्रेजुएट, डॉक्टर, वकील, शिक्षक और प्रोफेसर थे तथा तीन सौ व्यक्ति आयकर दिया करते थे। सत्याग्रही गाँवों से बड़ी संख्या में आए थे। कई जत्थे तो इन्दौर और अन्य दूरवर्ती स्थानों से पैदल ही आए थे। इन जत्थों ने कांग्रेस के इस प्रचार का कि यह सब स्थानीय आन्दोलन

है जिसमें साधारणतया अन्य देशवासियों के रुचि नहीं है, भण्डाफोड़ कर दिया।

जैसे ही पंजाब, दिल्ली, यू.पी. और भारत के अन्य क्षेत्रों में आन्दोलन ने जोर पकड़ा, वैसे ही अब्दुल्ला सरकार ने जम्मू में दमनचक्र भी तेज कर दिया। वहाँ 'कर न दो' आन्दोलन भी शुरू हो गया था। डोगरा पुलिस के बदले कश्मीरी पुलिस और फौज बुलाई गई थी जिसमें अधिकतर मुसलमान थे। उन्होंने जम्मू के ग्राम्य-अंचलों में आतंकशाही स्थापित कर दी। ग्रामवासियों को उनके कमानों से बाहर खदेड़ा गया, उनकी सम्पत्ति लूट ली गई और महिला-वर्ग का मान भी अपहृत हुआ। उससे समस्त जम्मू में विक्षोभ की लहर पैदा हो गई।

इससे अवकाश-प्राप्त सैनिकों का, जिनकी संख्या बहुत थी, धैर्य छूटने लगा। वे हिंसा का उत्तर हिंसा से देने का आदेश पाने के लिए परिषद् के नेताओं पर जोर देने लगे। उनमें से अनेक ने लिखा, 'हम सैनिक हैं, और हमने विश्व के विभिन्न हिस्सों में युद्ध की ज्वाला देखी है। अभी तक हम आपके आदेशानुसार तमाम उत्तेजित करने वाले व्यवहार के बावजूद शान्त रहे हैं, किन्तु जब हमारी आँखों के सामने ही माताओं और बहनों की लाज लुट रही हो, हम अहिंसक दर्शक नहीं बने रह सकते।'

कई अवकाश-प्राप्त सिविल अधिकारियों ने भी, जिनमें एक पुलिस का भूतपूर्व इन्सपेक्टर जनरल भी था, घटनास्थलों पर स्वयं जाकर स्थिति को देखा। उनके द्वारा निकाले गए वक्तव्य से भी उक्त रिपोर्टों की पुष्टि हुई।

इसमें डॉ. मुकर्जी बहुत अशान्त हो गए। वे किसी भी दशा में हिंसा को प्रश्रय नहीं देना चाहते थे। अतएव उन्होंने अपने दो साथियों श्री यू.एम. त्रिवेदी बार-एट-लॉ, एम.पी. तथा श्री वी.जी. देशपाण्डे एम.पी. को जम्मू भेजने का निश्चय किया ताकि वे अपनी आँखों वहाँ के हालात देखें और जनता को सान्त्वना दें, किन्तु प्रतिरक्षा मन्त्रालय ने उन्हें रियासत में प्रवेश करने की अनुमति नहीं दी और जब उन्होंने अनुमति के बिना ही जाने का निश्चय किया तो वे जालन्धर में, अप्रैल के मध्य, नजरबन्दी कानून के अन्तर्गत पकड़ लिए गए।

इसके कुछ अरसे बाद ही रियासत के कुछ अवकाश-प्राप्त मन्त्री और उच्च पदाधिकारी व्यक्तियों का मंडल दिल्ली आया। उन्होंने जम्मू की बिगड़ती हुई दशा की ओर भारत सरकार और जनता का ध्यान पुनः आकर्षित किया। स्थिति पर तत्काल ही ध्यान देने की आवश्यकता थी। सरकार अपने मिथ्यागर्व की भावना के कारण अपने शुभचिंतकों की बात पर भी ध्यान देने को तैयार न थी। इस परिस्थिति को देखते हुए डॉ. मुकर्जी यह सोचने लगे कि जम्मू जाकर अपनी आँखों से स्थिति का निरीक्षण करें और प्रमुख लोगों से, सम्भव हो तो शेख अब्दुल्ला से भी मिलकर समस्या को सुलझाने का प्रयत्न करें।

किन्तु ए.डी.एम. दिल्ली की कचहरी में उनके दफा 188 के अन्तर्गत केस की निरन्तर सुनवाई इसमें बाधा बनी हुई थी। उन्हें जम्मू जाने के लिए कम-से-कम एक सप्ताह के अवकाश की आवश्यकता थी। इसके पहले वे दो दिन के लिए पंजाब का दौरा करना चाहते थे, क्योंकि वहाँ के कार्यकर्ता उन्हें वहाँ आने के लिए बड़ा आग्रह कर रहे थे।

इस बीच उन्होंने 26 अप्रैल को अपने लोकसभा के भाषण में पण्डित नेहरू से अन्तिम निवेदन किया कि वे समय के तकाजे के अनुसार उठें और समस्या को सुलझाने में अग्रसर हों। उन्होंने पण्डित जी को बतलाया कि मुझे इसमें भी बड़ा सन्तोष होगा जो आप पण्डित प्रेमनाथ डोगरा को बुलाकर उनके विषय में मुझसे बातचीत करने के बजाय, उन्हें अपना दृष्टिकोण और अपनी कठिनाइयाँ समझाएँ। पण्डित जी पर इसका कोई असर न हुआ। प्रतीत होता था कि उन्होंने प्रजा-परिषद् और जनसंघ को कुचल देने का निर्णय कर लिया है, क्योंकि उन्होंने उनकी शक्ति को चुनौती देने का साहस किया था। इसी समय लेखक ने 'फिल्म इण्डिया' में प्रकाशित एक भविष्यवाणी की ओर उनका ध्यान आकर्षित किया, जिसमें लिखा था कि वे 1953 के अन्त तक पण्डित नेहरू का स्थान लेंगे। डॉ. मुकर्जी इससे क्षुब्ध ही हुए और बोले, 'इससे पण्डित नेहरू और भी कठोर हो जायेंगे जिससे समस्या का समाधान भी और कठिन हो जाएगा।'

डॉ. मुकर्जी ने देखा था कि किस तरह श्री त्रिवेदी और देशपांडे को और इसके पहले राजस्थान विधानसभा के उपाध्यक्ष सहित कुछ विधान-सभाइयों को, जिन्हें डॉ. साहब स्थिति की जाँच के लिए जम्मू भेजना चाहते थे, वहाँ जाने की अनुमति नहीं मिली थी। वे इस बात से अनभिज्ञ नहीं थे कि यह अनुमति-प्रथा (Permit System) कश्मीर में पाकिस्तानी एजेण्टों और गुप्तचरों के अनुचित प्रवेश को रोकने के लिए चालू की गई थी और इसलिए वह संसद-सदस्यों जैसे उत्तरदायी व्यक्तियों को वहाँ जाने से रोकने के लिए प्रयोग में नहीं लाई जा सकती थी। फिर भी उन्होंने प्रतिरक्षा-मन्त्री को अनुमति-प्रथा की कानूनी स्थिति बतलाने के लिए पत्र लिखा, परन्तु इसका उन्हें कोई उत्तर नहीं मिला।

इस यात्रा पर, जो उनके जीवन की अन्तिम यात्रा सिद्ध हुई, जाने से पहले वे अपनी वयोवृद्ध माता के दर्शन करने के लिए अल्पकाल के लिए कलकत्ता गये। वापसी पर वे एक दिन के लिए पटना ठहरे। वहाँ उन्होंने अपने आतिथेय श्री ठाकुरप्रसाद एडवोकेट को अपना जम्मू जाने का निर्णय बताया जिसे सुनकर वे चकित रह गए। उनके वृद्ध पिता ने, जो कई मुसलमानी रियासतों में दीवान का पद सुशोभित कर चुके थे, डॉ. मुकर्जी का इरादा बदलने की बहुत कोशिश की। उन्होंने कहा, 'मैं आपको कभी यह राय न दूँगा कि आप अपने-आपको शेख

अब्दुल्ला की करुणा पर डालिए। मेरे अनुभवों ने मुझे शिक्षा दी है कि उसकी जाति के लोगों का कभी विश्वास न करो।'

डॉ. मुकर्जी ने उनकी बात पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। किसी प्रकार का भय उनकी योजना को नहीं बदल सकता था। इस पर उन वृद्ध महोदय ने निवेदन किया कि अवश्य ही जाना है तो जाइये, किन्तु कृपा कर अपने किसी विश्वासपात्र को चखाए बिना कोई चीज न लीजिएगा। मुसलमान शासकों की प्रवृत्ति कोई नहीं जानता। वे कुछ भी निस्संकोच कर सकते हैं। डॉ. मुकर्जी उनके इस परामर्श का यथासम्भव पालन करने में सहमत हो गए।

प्रस्थान करने के एक दिन पहले भारत के अल्पकालिक भ्रमण पर आए हुए अमेरिकन प्रेजीडेन्सी के पराजित डेमोक्रेट उम्मीदवार मि. एडलाई स्टीवेन्सन (Adlai Stevenson) के निजी सेक्रेटरी, प्रो. जॉन्सन, डॉ. साहब के निवास स्थान से अपने स्वामी से मिलने का समय तय करने आए। डॉ. साहब ने 13 मई को समय दिया। वे तब तक जम्मू में दो दिन लगाने के बाद वापस दिल्ली आने की आशा कर रहे थे, किन्तु उन्हें यह पूर्वाभास भी था कि वे शायद निर्दिष्ट समय पर उपस्थित न हो सकेंगे। अतः विदा लेते समय उन्होंने प्रो. जॉन्सन से कहा, 'सम्भव है मैं निर्दिष्ट समय पर न मिल सकूँ। कुछ भी हो सकता है।'

8 मई, 1953 को प्रात: साढ़े छ: बजे पंजाब जाने के लिए जैसे ही पैसेंजर ट्रेन डॉ. मुकर्जी को लेकर दिल्ली के रेलवे स्टेशन से चली, सहस्त्रों कण्ठों से 'भारत माता की जय' और 'भारत केसरी डॉ. श्यामाप्रसाद मुकर्जी की जय' के उल्लासपूर्ण नारों से वायुमण्डल गूँज उठा। उनका डिब्बा फूलों और जनसंघ की ध्वजाओं से सजाया गया था। वैद्य गरुदत्त, श्री अटलबिहारी वाजपेयी, डॉ. वर्मन, श्री टेकचन्द और लेखक उनके साथ थे। कुछ प्रेस प्रतिनिधि भी साथ हो लिए थे।

प्रस्थान के जरा पूर्व ही उन्होंने अपने जम्मू जाने का प्रयोजन बतलाते हुए व्यक्त दिया। उन्होंने कहा, 'जम्मू में सत्याग्रह प्राय: 6 मास से चल रहा है, इसमें कोई 2600 व्यक्ति गिरफ्तार हो चुके हैं और तीस सत्याग्रही गोली के शिकार बने हैं। दिल्ली और पंजाब में इस आन्दोलन को चले दो माह से भी अधिक हो गए हैं और इन दोनों तथा अन्य निकटवर्ती प्रदेशों में 1600 से ऊपर सत्याग्रही गिरफ्तार हो चुके हैं। उत्तेजनापूर्ण दमनचक्र, आतंक और ब्रिटिश शासन का स्मरण कराने वाले अत्याचारों के बावजूद यह आन्दोलन हिंसा तथा अन्य किसी भी साम्प्रदायिक आधार से पृथक् रहा है।'

आगे उन्होंने कहा, 'यद्यपि यह आन्दोलन दिल्ली और पंजाब के कुछ हिस्सों तक सीमित रहा है, तथापि इसे अखिल भारतीय स्तर पर लाने के लिए राजधानी में देश के विभिन्न भागों से बड़ी भारी संख्या में सत्याग्रही धड़ाधड़ आ रहे हैं। वे अपने-अपने क्षेत्रों के लोगों की शुभकामनाएँ और सहयोग ला रहे हैं और जम्मू में, जुल्म के बावजूद, लोग निर्भीक हैं और अधिकारियों के कोप और दमननीति का सामना करने को तैयार हैं।'

आन्दोलन की अर्जित सफलता के विषय में उन्होंने कहा, 'पिछले कुछ सप्ताहों में मैं भारत के कई भागों में गया हूँ और वहाँ मैंने जनता के सम्मुख अपना दृष्टिकोण रखने का प्रयत्न किया है। मैंने देखा है कि ऐसें लोग भी, जिन्होंने हमारे आन्दोलन में पूरी सहायता नहीं दी, अब जम्मू और कश्मीर के विषय में पंडित नेहरू की त्रुटिपूर्ण नीति के भयावह परिणाम महसूस करने लगे हैं। इस दृष्टि से हमारा आन्दोलन सफल हो गया है। इसने अपने मूल प्रयोजन के प्रति जनता का बहुव्यापी समर्थन प्राप्त कर लिया है।'

उन्होंने अनुमति-पत्र के लिए निवेदन क्यों नहीं किया, इस पर वक्तव्य में कहा गया था कि, 'मिस्टर नेहरू ने बार-बार यह घोषणा की है कि भारत में जम्मू और कश्मीर का विलयन शत-प्रतिशत पूरा हो चुका है। फिर भी यह अद्भुत बात

है कि कोई व्यक्ति भारत सरकार से अनुमति लिये बिना राज्य में प्रवेश नहीं कर सकता। यह अनुमति कम्युनिस्टों को भी मिली है जो राज्य में अपना वही विघटनकारी खेल, खेल रहा हैं, किन्तु उन लोगों को जाने की अनुमति नहीं है जो भारतीय और राष्ट्रीयता की दृष्टि से ही सोचते और करते हैं। मैं नहीं सोचता कि भारत सरकार को मुझे भारतीय यूनियन के किसी भी हिस्से में, जिसमें स्वयं पंडित नेहरू के अनुसार जम्मू और कश्मीर भी शामिल है, जाने से रोकने का कोई अधिकार है। वैसे अगर कोई कानून के प्रतिकूल आचरण करता है तो उसे इसके परिणाम अवश्य भुगतने होंगे?'

अपने जम्मू जाने के उद्देश्य के विषय में उन्होंने कहा, 'जम्मू में मेरा उद्देश्य केवल यही है कि मैं स्वयं देखूँ कि वहाँ क्या-क्या काण्ड हुआ है और अब वहाँ स्थिति क्या है? वहाँ प्रजा-परिषद् के बाहर विभिन्न विचारों वाले स्थानीय नेताओं के सम्पर्क में भी आऊँगा। मैं यह जानने का प्रयत्न करूँगा कि जम्मू के लोग वास्तव में क्या चाहते हैं और पता लगाऊँगा कि क्या इस आन्दोलन को शान्ति और प्रतिष्ठा के साथ समाप्त करने की कोई सम्भावना है जो न केवल राज्य के लिए अपितु समस्त देश के लोगों के लिए लाभप्रद और न्यायोचित सिद्ध हो। मुझे पूर्ण आशा है कि जब मैं इस कठिन दायित्वपूर्ण कर्त्तव्यपालन के लिए निकलूँगा तो मुझे सभी सम्बन्धित लोगों से पूरी-पूरी सहानुभूति और सहयोग मिलेगा। अगर मुझे राज्य में जाने की अनुमति मिली तो मैं शेख अब्दुल्ला से मिलकर उससे वार्त्तालाप करने की सम्भावना पर भी विचार करूँगा।'

इससे यह स्पष्ट था कि वे शान्तिदूत बनकर ही जम्मू जा रहे थे।

दिल्ली से अम्बाला तक की यात्रा में सहस्त्रों धनी-निर्धन, नगरवासी-ग्रामीण छोटे-छोटे स्टेशनों पर भी उनके पुनीत लक्ष्य का समर्थन और उनसे तादात्म्य प्रकट करने के लिए एकत्र थे। गाजियाबाद, मोदीनगर, मेरठ, मुजफ्फरनगर, सहारनपुर और जगाधारी जैसे कुछ बड़े स्टेशनों पर चार-चार पाँच-पाँच अंकों की संख्या में नर-नारी उपस्थित थे।

प्राय: आठ अंकों की इस यात्रा में स्टेशनों के मध्यवर्ती समय में डॉ. साहब प्रासंगिक चर्चाओं में अपने मन के प्रबलतम विचारों को बराबर प्रकट करते रहे।

मैंने साथी पत्र-प्रतिनिधियों को उनके वक्तव्य की प्रतिलिपि दी तो उन्होंने मुझसे पूछा, 'क्या तुमने मेरा वक्तव्य पढ़ा है? मैं सन्ध्या तक तुम्हारे सुझावों की प्रतीक्षा करता रहा।'

'मैंने उसे पढ़ा अवश्य है, किन्तु उस पर चर्चा करने का तो समय ही नहीं था। उसे तुरन्त साइक्लोस्टाइल से निकालना था ताकि आप आज प्रात: उसे बँटवा

वे आश्चर्य से बोले, 'तुम्हें वह इतनी देर से कैसे मिला? मैंने तो वह तुम्हारे पास सबेरे दस बजे ही भेज दिया था कि तुम गुरुदत्त जी और माधोरावजी के साथ बैठकर कोई सुझाव दे सको।'

वक्तव्य इतना सुन्दर शब्द-योजित था कि अगर वह और डॉक्टर साहब का सन्देश, ठीक समय पर भी मिल गया होता तो भी उसमें कोई सुझाव की गुंजाइश नहीं थी, किन्तु इससे उनके जनतांत्रिक सौजन्य और जनतांत्रिक संगठन के अध्यक्ष के नाते अपने उत्तरदायित्व की गूढ़ भावना का निर्देशन होता है।

कुछ समय बाद उन्हें स्मरण आया कि उन्होंने प्रो. जॉन्सन को जनसंघ का कुछ साहित्य, विशेषकर कश्मीर के प्रति इसकी विचारावली भेजने का वचन दिया था। मुझे इसकी याद कराते ही उन्होंने अमरीकनों की भारत-सम्बन्धी विषयों के प्रति भिन्न मापदण्ड से विचारने की बात शुरू कर दी—'मैंने जॉन्सन से पूछा, 'वे बोले, 'जरा सोचिए, यदि अब्राहम लिंकन दक्षिणी राज्यों को छोड़ देने की माँग मान लेता तो आज यू.एस.ए. का क्या स्वरूप होता? लिंकन ने यू.एस.ए. की कृत्रिम एकता को सुरक्षित रखने के लिए युद्ध का आह्वान किया और आप उसे अपना चूड़ान्त राजनीतिविद् और नायक मानते हैं, परन्तु जब हम भारत के पुनरेकीकरण की बात करते हैं, जो युगों से भौगोलिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक दृष्टि से एक रहा है, तो आप हमें जंगबाज की उपाधि देते हैं।' उन्होंने जॉन्सन को बताया, 'यू. एस.ए. ने भारत का विभाजन कर जनतांत्रिक शक्तियों को क्षति पहुँचाई है। और उसकी पाकिस्तान को प्रोत्साहन देने की नीति उस ध्येय को ही नष्ट कर देगी जिसकी पूर्ति के लिए यू.एस.ए. ऐसा कर रहा है।'

इसके बाद उनकी विचारधारा उन परिस्थितियों की ओर गई जिनके कारण स्वरूप भारत-विभाजन हुआ। उन्हें सन् 1942 में स्टेफर्ड क्रिप्स तथा पूना में होने वाले अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक के पहले महात्मा गाँधी और सरदार पटेल के साथ किए गए अपने वाद-विवाद स्मरण हो आए। कांग्रेस ने वहाँ मातृभूमि के विभाजन का सिद्धांत स्पष्टतया स्वीकार कर लिया था।

उनकी मर्मद्घाटिनी वार्त्ता सुनकर मैंने उनसे पूछा, 'आप इस प्रसंग में अखण्ड भारत के प्रति अपना विस्तृत दृष्टिकोण रखते हुए कोई पुस्तक क्यों नहीं लिख डालते? आप इससे देश-विभाजन के कारणों के सम्बन्ध में कई भ्रांतियाँ दूर कर सकेंगे।'

'मैं भी लिखना चाहता हूँ, किन्तु उसके लिए समय कहाँ से लाऊँ, 'उन्होंने उत्तर देते हुए कहा, 'तुम ही सामग्री एकत्र कर कुछ प्रारम्भिक कार्य क्यों नहीं कर डालते? मेरी वापसी पर हम कुछ दिन बैठकर उसे समाप्त कर देंगे।' अब वे इस विश्व में नहीं हैं, इसलिए मातृघात की वास्तविक कहानी शायद कभी प्रकाश में

न आएगी।

उनके प्रस्थान के कुछ पहले ही वेस्टइंडीज के कुछ भारतीय व्यापारी उनसे मिलने आए थे। उन्होंने उनसे प्रार्थना की थी वे समुद्र पार गए भारतीयों की स्थिति पर ध्यान रखा करें। बर्मा, कम्बोडिया और इण्डोचाइना के भ्रमण के बाद डॉक्टर साहब को भी इनमें रुचि हो गयी थी। वहाँ वे बड़ी संख्या में उनसे मिलने आए थे। उनका विचार था कि 'ब्रिटिश ओवरसीज लीग' के समान समुद्रपार के भारतीयों के समाचार विकीर्ण करने और उनके हितों पर ध्यान देने के लिए दिल्ली में एक संगठन बनाया जाए। वे चाहते थे कि इस दिशा में श्रीगणेश किया जाए। उनकी यह इच्छा अभी तक भी पूरी नहीं हो सकी।

जैसे ही हम अम्बाला छावनी पहुँच रहे थे, उन्हें ख्याल आया कि उन्हें शेख अब्दुल्ला को अपने जाने की सूचना देनी चाहिए। अत: वहाँ पहुँचते ही उन्होंने उसे निम्नोक्त तार दिया–

'मैं जम्मू जा रहा हूँ। वहाँ जाने में मेरा उद्देश्य यह है कि मैं स्वत: स्थिति का अध्ययन करूँ और ऐसी सम्भावनाएँ ढूँढ निकालूँ जिनसे शान्तिपूर्ण समझौता हो सके। सम्भव होगा तो मैं आपसे भी मिलना चाहूँगा।'

तार की एक प्रतिलिपि पंडित नेहरू को नई दिल्ली भेज दी गई।

दफा 144 के कारण डॉ. मुकर्जी अम्बाला में केवल कार्यकर्ताओं की सभा में ही भाषण दे सके। तत्पश्चात् प्रेस प्रतिनिधियों से वार्त्ता करते समय उन्होंने कहा, 'यह परमिट-प्रथा विदेशी, विशेषकर पाकिस्तानी एजेण्टों के कश्मीर में प्रवेश करने और फौजी भेद लेने से रोकने के लिए बनाई गई थी, इसका उद्देश्य यह नहीं था कि सम्भ्रान्त नागरिकों को देश में घूमने से रोका जाए। भारतीय लोकसभा का सदस्य होने के नाते मुझे अधिकार है कि भारत के अन्दर किसी भी जगह जाकर स्थिति का अध्ययन करूँ। यही कारण है कि जिससे मैंने अनुमति के लिए आवेदन-पत्र भी नहीं दिया।'

'क्या आपको विश्वास है शेख अब्दुल्ला आपसे भेंट करेगा?' एक प्रेस प्रतिनिधि ने पूछा।

'क्यों नहीं!' वे बोले, 'मेरी इच्छा है कि मैं उनसे मिलूँ। मैं उनकी अस्वीकृति का कोई कारण नहीं समझता।'

अम्बाला छावनी से डॉक्टर मुकर्जी मोटर द्वारा करनाल गए, वहाँ उन्हें एक सार्वजनिक सभा में भाषण देना था और रात वहीं विश्राम करना था। रास्ते में सहस्त्रों की संख्या में बड़ी उत्साही जनता ने शाहबाद और नीलोखेड़ी में उन्हें रोक लिया और वहाँ भी उन्होंने संक्षिप्त भाषण दिए।

वे प्रात: 8 बजे करनाल पहुँचे और सीधे सभास्थल की ओर गए। जहाँ दस

सहस्र से भी अधिक नर-नारी उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। जब वे अपने लोकप्रिय आतिथेय लाला सीताराम के घर पहुँचे तब अत्यन्त क्लान्त थे। भोजन के तुरन्त बाद ही वे सो जाना चाहते थे, किन्तु जिले के कार्यकर्ता उनसे मिलने के लिए एकत्र हुए थे। वे चाहते थे कि डॉक्टर साहब उनसे थोड़ी देर ही बात कर लें। वे मेरी ओर मुड़कर करुण स्वर में बोले, 'तुम मेरी सहायता क्यों नहीं करते?' तुम उनसे बातचीत करो और मैं सो जाऊँ। थका हुआ हूँ।'

मैं उनकी दशा जानता था और मुझे उनसे पूरी सहानुभूति भी थी, किन्तु कार्यकर्ता चाहते थे कि वे ही बोलें। मैं विवश था। मैंने अनुनयपूर्वक कहा, 'वे तो आपसे मिलने आए हैं, न कि मुझसे।'

बिना दूसरा शब्द कहे वे कुर्सी में बैठ गए और आधा घंटे से भी अधिक समय तक उनसे बातचीत करते रहे और उनके प्रश्नों का उत्तर देते रहे। वे उन्हें निराश न कर सके।

करनाल से दूसरे दिन वे ऐतिहासिक नगर पानीपत गए वहाँ उन्होंने एक और विशाल जनसमूह में भाषण दिया। इसके बाद वे बम्बई एक्सप्रेस में बैठकर कोई प्रातः 4 बजे फगवाड़ा पहुँचे। रास्ते में पहले दिन के समान सभी स्टेशनों पर सहस्रों लोग अभिनन्दन करने के लिए उपस्थित थे।

फगवाड़ा से उन्हें शेख अब्दुल्ला का तार द्वारा उत्तर मिला जिसमें लिखा था, 'आपके तार के लिए धन्यवाद। मुझे शंका है कि आज की परिस्थितियों में आपका यहाँ आना अनवसर आगमन है और इससे कोई उपयोगी हल नहीं निकलेगा।'

यह पूछने पर कि अब्दुल्ला के इस उत्तर के प्रकाश में वे क्या देखने वाले हैं, वे बोले, 'मैं वहाँ जाकर जम्मू की स्थिति को अपनी आँखों देखना चाहता हूँ, इसलिए मैं उसकी उपयोगिता समझता हूँ। अगर शेख अब्दुल्ला यह सोचते हैं कि इससे कोई लाभ नहीं होगा तो वे बेशक मुझसे न मिलें।'

पंडित नेहरू ने उत्तर देने की तकलीफ ही नहीं की।

फगवाड़ा से वे मोटर द्वारा जालन्धर पहुँचे। वहाँ उन्होंने एक प्रेस कॉन्फ्रेंस ली। कश्मीर के विषय में यू.एन.ओ. की क्या स्थिति है, इस प्रश्न के उत्तर में उनहोंने कहा, 'भारत जम्मू और कश्मीर का मामला यू.एन.ओ. के पास इस उद्देश्य से ले जाया गया था कि पाकिस्तानी आक्रमण बन्द हो और कश्मीर से उसकी फौजें हटाई जाएँ, न कि इसलिए कि जनमत कब और कैसे लिया जाए? पंडित नेहरू को चाहिए था कि वे प्रमुख विषय से इस पथान्तर का विरोध करते और अगर यू. एन.ओ. इसे स्वीकार न करता तो मामला वापस ले लेते।'

एक दूसरे प्रश्न के उत्तर में उन्होंने पंजाबी-भाषी राज्य के जटिल प्रश्न के विषय में अपने विचार रखे।

उन्होंने कहा, 'ऐसे किसी प्रदेश की भौगोलिक सीमा से अनभिज्ञ रहकर उसके विषय में कुछ भी कहना कठिन है। पश्चिमी पंजाब के बहुत से लोग अब अम्बाला डिवीजन में विस्थापित हो गए हैं। अतएव आज पंजाबी-भाषी क्षेत्र वह नहीं है जो 1946 में था। यह पूरा मामला तो राज्य-पुनर्गठन आयोग के निर्णय के लिए रख देना चाहिए, जिसकी नियुक्ति भारत सरकार को अविलम्ब करनी चाहिए।'

जालन्धर से अमृतसर जाने के लिए वे जैसे ही ट्रेन में चढ़े, एक वृद्ध प्राय: सज्जन ने उन्हें अपना परिचय दिया। वे गुरदासपुर के डिप्टी कमिश्नर थे और उसी डिब्बे में बैठे थे। उन्होंने उन्हें पंजाब सरकार का यह निर्णय बताया कि वह उन्हें पठानकोट तक नहीं पहुँचने देगी। साथ यह भी कहा कि मैं तो अपनी सरकार से इस आदेश की प्रतीक्षा में हूँ कि आपको कहाँ गिरफ्तार किया जाय? अब उनकी गिरफ्तारी असंदिग्ध थी। वैद्य गुरुदत्त उनके साथ इस आशय से भेजे गए थे कि डॉक्टर साहब के गिरफ्तार होने पर भी उनके साथ रहें। वे एक ऐसा तरुण साथी भी चाहते थे, जो उनकी व्यक्तिगत सुविधाओं का ध्यान रख सके। इस दृष्टि से श्री टेकचन्द शर्मा को उनके साथ भेजा गया। बीस हजार से भी अधिक नर-नारियों ने अमृतसर के रेलवे स्टेशन पर उनका स्वागत किया। यहाँ उन्होंने रात्रिवास किया। वहाँ के कार्यकर्ताओं को उन्होंने अपनी योजना बतलाई और कहा कि शेख अब्दुल्ला की गिरफ्तारी के बाद जब पंडित नेहरू कश्मीर जाकर इसकी प्रतिक्रियाजन्य स्थिति देखना चाहते थे तब महाराजा की सरकार ने उन्हें जो उत्तर दिया था वैसा ही उत्तर अब शेख अब्दुल्ला ने उन्हें दिया है। उन्होंने घोषणा की कि उन्होंने जम्मू जाने का निश्चय कर लिया है, शेख अब्दुल्ला इसे पसन्द करे या न करे।

11 मई को अमृतसर से पठानकोट की यात्रा भी बड़ी उत्साहवर्धक रही। प्रत्येक स्टेशन पर सहस्त्रों नर-नारियों ने उनका स्वागत किया। आश्चर्य की बात यह थी कि उन्हें गिरफ्तार नहीं किया गया।

पठानकोट पहुँचने के कुछ समय बाद गुरुदासपुर के डिप्टी कमिश्नर ने उनसे भेंट की और कहा, 'मुझे आदेश हुआ है कि मैं आप और आपके साथियों को बिना परमिट ही जाने दूँ। यद्यपि आपके साथियों के लिए कोई संख्या नियत नहीं की गई है, तथापि मेरी राय में आप कुछ व्यक्ति ही साथ रखें।'

डॉ. साहब इस नई सूचना से चिन्तित हो उठे। उसी अफसर ने जालन्धर में उन्हें इसके बिल्कुल विपरीत खबर दी थी। वे सरकार के इस मत-परिवर्तन का कारण न समझ सके। वे नहीं जानते थे कि इस तरह उन्हें रियासत में धकेलने का षड्यंत्र हो रहा है जहाँ वे सुप्रीम कोर्ट की पहुँच के भी बाहर होंगे।

पठानकोट में लोगों ने बड़ी धमधाम से उन्हें विदाई दी। उनकी जीप के गस्ते

में बाजार के दोनों ओर सहस्त्रों नर-नारी हाथ जोड़कर खड़े थे। प्रस्थान के समय एक नब्बे-वर्षीय वृद्ध महिला ने उन्हें निम्नोक्त शब्दों में आशीर्वाद दिया, 'वे पुत्रा, जित के आवींए ऐवें न आवीं।' (हे पुत्र! विजयी होकर लौटना, खाली हाथ नहीं।)

डॉ. मुकर्जी और उनके साथी चार बजे रावी के पुल पर, माधोपुर के चेक पोस्ट पर पहुँचे। अन्य अफसरों के साथ डिप्टी कमिश्नर ने उन्हें शुभ-कामना करते हुए विदा दी। जैसे ही उनकी जीप पुल के मध्य पहुँची, कश्मीर पुलिस की एक टुकड़ी ने उनका रास्ता रोक लिया। जीप खड़ी हो गई और एक पुलिस अफसर ने उन्हें राज्य के प्रमुख सचिव का दिनांक 10/5/53 का आदेश-पत्र दिया जिसमें उनके प्रवेश पर प्रतिबन्ध था।

आदेश पढ़कर डॉ. मुकर्जी बोले, 'मुझे आगे जाने के लिए भारत सरकार की ओर से आज्ञा मिल चुकी है। अब यह क्या है?'

'मैं कठुआ का सुपरिंटेंडेंट हूँ और मुझे आज्ञा मिली है कि आपको यह आदेश दे दूँ।' वह पुलिस अफसर बोला।

'किन्तु मैं जम्मू जाना चाहता हूँ।' डॉ. साहब बोले। तदुपरान्त पुलिस अफसर ने जम्मू-कश्मीर के इन्सपेक्टर जनरल पुलिस की ओर से जन-सुरक्षा-कानून के अन्तर्गत जारी किया हुआ 11-5-53 का गिरफ्तारी का आर्डर निकाला। उसमें लिखा था कि 'डॉ. मुकर्जी ने ऐसा कार्य किया है, कर रहे हैं और करने वाले हैं जिससे जनता की सुरक्षा और शान्ति खतरे में है।'

डॉ. साहब ने आदेश पढ़ा, बोले, 'तो ठीक है' और जीप से उतर आए। वैद्य गुरुदत्त और श्री टेकचन्द भी उनके साथ ही उतर आए और वे भी गिरफ्तार किए गाए। शेष साथी वापस भेज दिए गए।

डॉ. मुकर्जी ने तब अपने लौटते हुए साथियों को बताया कि, 'मुझे लगता है कि यह भारत तथा जम्मू-कश्मीर सरकार का सम्मिलित षड्यंत्र है।' उन्होंने उनके द्वारा देशवासियों को यह सन्देश भिजवाया, 'मैंने जम्मू-कश्मीर राज्य में प्रवेश कर लिया है, किन्तु कैदी के रूप में।'

लखनपुर में कोई आधा घण्टा ठहरने के बाद डॉ. मुकर्जी और उनके साथी एक जीप में बैठाए गए जो उन्हें श्रीनगर की ओर ले उड़ी। जम्मू के लोगों को डॉक्टर साहब की गिरफ्तारी का समाचार नहीं मिला था। वे तवी के पुल के पास सहस्त्रों की संख्या में अपने लोकनायक का अभिनन्दन करने के लिए उपस्थित थे। वे उनके लिए रात तक ठहरे रहे और उनके अनदेखे में ही बन्द जीप सायं वेला में पुल पर से निकल गई।

कोई दस बजे रात्रि को वे ऊधमपुर पहुँचे। डॉ. साहब इस असुविधजनक सफर से अत्यन्त थकान का अनुभव कर रहे थे। उनकी इच्छा हुई कि रात यहीं

ठहरा जाए, किन्तु साथ के अफसर ने बताया कि रात बटोत में काटनी है। वे वहाँ कोई दो बजे रात पहुँचे और शेष रात्रि वहीं सोए। प्रातःकाल फिर उसी दमतोड़ यात्रा के बाद वे मध्यान्ह तीन बजे श्रीनगर की सेण्ट्रल जेल में पहुँचे। वहाँ के जेल सुपरिंटेंडेंट पंडित श्रीकान्त सप्रु, उन्हें साथियों सहित निशात बाग के समीपस्थ एक छोटे-से बंगले में ले गया, जहाँ बन्दी के रूप में उन्होंने जीवन के अंतिम चालीस दिन व्यतीत किए।

उनकी गिरफ्तारी के समाचार से देश-भर में तहलका मच गया। दिल्ली तथा अन्य स्थानों में विरोध-प्रदर्शन और हड़ताल हुई। इससे सत्याग्रह को एक नई दिशा मिली। दिल्ली और पठानकोट में गिरफ्तार होने की अपेक्षा सत्याग्रही बिना परमिट के जम्मू की ओर जाने लगे।

13 मई का श्री एन. सी. चटर्जी ने लोकसभा में भारत सरकार से बिना परमिट के जम्मू-कश्मीर की अनुमति के बाद, जिसकी सूचना गुरदासपुर के डिप्टी कमिश्नर ने उन्हें दी थी, कश्मीर सरकार द्वारा डॉ. मुकर्जी की गिरफ्तारी का प्रश्न उठाया, किन्तु घोर आश्चर्य! पं. नेहरू इस से ही साफ मुकर गए कि डिप्टी कमिश्नर ने डॉक्टर साहब से भेंट की थी। उनकी इस अस्वीकारोक्ति पर दिल्ली के एक हिन्दी दैनिक ने टिप्पणी की, 'क्या पंडित नेहरू यह सोचते हैं कि इस भीषण असत्य का भंडाफोड़ करने के लिए डॉ. मुकर्जी तो वापस आएँगे नहीं!'

23. बलिदान

श्रीनगर में डॉ. मुकर्जी के बन्दी जीवन के चालीस दिन, जो 23 जून, 1953 को उनकी आत्म-बलि से ही शेष हुए, स्वतंत्र भारत के राजनीतिक जीवन की सबसे दु:खान्त और क्षोभजनक घटना है। यह भारत में प्रचलित जनतंत्र और देश में जनतांत्रिक शासन होने का दावा करने वाले लोगों के चरित्र पर एक गहरा कलंक है।

डल झील की पार्श्ववर्ती पर्वतश्रेणी की ढलवान पर स्थित एक छोटा-सा मकान उनका उप-कारावास बनाया गया था। उसमें 10×12 फुट का एक मुख्य कमरा था, जिसमें डॉ. मुकर्जी रखे गए। इसके पार्श्व में दो कमरे थे, जिनमें उनके साथियों को ठहराया गया। इस तथाकथित 'बंगले' में चौथी चारपाई के लिए जगह नहीं थी। 19 जून को जब पं. प्रेमनाथ डोगरा वहाँ लाए गए तो इस बंगले के बाहर ही उनके लिए तम्बू लगाया गया।

पूरे अहाते में फल के वृक्ष और सब्जी की क्यारियाँ होने के कारण इन लोगों के घूमने के लिए टेनिस-कोर्ट से भी कम जगह रह गई थी। यह मकान नगर से आठ मील दूर था। यहाँ डॉक्टरी सहायता की कोई व्यवस्था नहीं थी। अधियाचना करने पर ही शहर से डॉक्टर बुलाया जा सकता था। कोई सौ गज दूर ही एक नहर और वाटरवर्क्स विभाग का छोटा केन्द्र था, जहाँ टेलीफोन था। यह टेलीफोन ही इस जंगल की जेल के काम भी आता था।

उन्हें केवल एक पत्र 'हिन्दुस्तान टाइम्स' मिला करता था, पीछे उन्हें 'हिन्दुस्तान स्टैण्डर्ड' भी लेने की अनुमति मिल गई थी, पर ये पत्र उन्हें कभी समय पर न मिले। प्राय: दो-तीन दिनों के बाद ही उन्हें पत्रों की किश्त और डाक मिलती थी जो जेल-सुपरिन्टेंडेंट स्वयं लाया करता था। उनकी डाक के विषय में अधिकारी अत्यन्त हृदयहीन थे। साधारणतया उन्हें पत्र सप्ताह बाद ही मिला करते थे। कलकत्ते से 10 जून को चले हुए कुछ पत्र, जिन पर श्रीनगर-पोस्ट ऑफिस की 12 और 13 तारीख की मुहर लगी हुई थी, उनकी मृत्यु के बाद उनके परिवार वालों को ही भेज दिए गए थे। इस अनियमित विलम्ब का विरोध करने पर उन्हें बताया गया कि उनके बंगला के पत्रों को देखने वाला व्यक्ति वहाँ सुलभ नहीं था। इस पर डॉक्टर साहब ने यह राय दी कि मैं आपकी परीक्षा के लिए बंगला-पत्रों का, जो मेरे पारिवारिक जनों की ओर से ही आते हैं और जिनमें नाम-मात्र को भी राजनीति नहीं होती है, अंग्रेजी रूपान्तर प्रस्तुत कर दूँगा ताकि अनावश्यक विलम्ब न हो। इस सुझाव पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। इससे भी बढ़कर दुष्कर्म यह था कि उन्हें प्रेषित तथा उनके अपने लिखे हुए कई पत्र बिल्कुल दबा दिए जाते थे। उनमें मेरा (लेखक का) भी एक पत्र था, क्योंकि

उनके बैकुण्ठगमन के पश्चात् कश्मीर के जेल मंत्री के वक्तव्य में डॉ. साहब के लिखे हुए अथवा उनको भेजे गए पत्रों की तालिका में उसका उल्लेख नहीं था।

उन्हें पुस्तकें तथा दैनिक आवश्यकताओं की वस्तुएं भी नहीं दी जाती थीं। हिन्दुस्तात स्टैण्डर्ड के 'होमा' सदृश मित्रों तथा अपनी दिल्ली-स्थित पुत्री को लिखे गए उनके पत्रों से यह भी स्पष्ट होता है कि उनसे उन्होंने पुस्तकें, बिस्कुटों का डिब्बा, कॉफी, गुलूबन्द, 'मर्कोलाइज्ड वैक्स', ओवल्टीन का डिब्बा, केश-तेल, लेमन-ड्राप्स, पत्र, पैड इत्यादि वस्तुएँ मँगवाई थीं।

डॉ. मुकर्जी प्रातः सांय लम्बा भ्रमण करने के अभ्यस्त थे। वस्तुतः अपने शरीर को स्वस्थ रखने के लिए उनका केवल वहाँ ऐसा कोई कार्य न था जिससे उनका तनिक भी व्यायाम हो पाता। बगीचे का सँकरा और छोटा-सा भाग इसके लिए उपयुक्त न था। परिणामस्वरूप वहाँ पहुँचने के कुछ काल बाद ही उनकी भूख घटने लगी। घाटी की स्वास्थ्यप्रद जलवायु उनके लिए हितकर नहीं थी, क्योंकि तीव्र रक्तचाप से पीड़ित होने के कारण उनके लिए ऊँचाई पर रहना हानिकारक था। इसलिए वैद्यकीय दृष्टि से भी उन्हें कश्मीर में रखना अनुचित था। उन्हें जम्मू प्रदेश के किसी जेल में रखना चाहिए था।

बंगले में रमणीक प्राकृतिक शोभा के दर्शन अवश्य होते थे, किन्तु इसे देखने मात्र से न तो उनका अत्यावश्यक व्यायाम ही होता और न वह उल्लास ही होता था जो एक मुक्त प्राणी को हो सकता था। इस कारा-भूमि के प्रति उन्होंने अपने आत्मीजनों को पत्रों में अपने विचार स्पष्ट व्यक्त किए हैं- 'यहाँ एक छोटे बंगले में ठहरा हूँ जो एक छोटे, किन्तु सुन्दर बगीचे में स्थित है। मैं बगीचे की सँकरी वीथी में सैर करता हूँ। यह पढ़कर तुम कल्पना करोगे कि मैं कितना प्रसन्न होऊँगा, किन्तु खेद है कि ऐसा सम्भव नहीं है। एक बन्धनग्रस्त के लिए भौतिक सुविधाओं और प्राकृतिक सौन्दर्य में भला क्या आकर्षण है।.... मुझे लम्बा उत्तर लिखना-समाचारों और कथाओं से परिपूर्ण-हाँ उसमें राजनीति की गन्ध न हो, क्योंकि मैं यहाँ एक कैदी हूँ।'

(दिनांक 18/5/53 का पत्र)

'इस उपवन वीथी में ही घूमने की आज्ञा है जिससें चलने में कुल 2-3 मिनट लगते हैं। उसमें और सामने की थोड़ी-सी खुली जगह में ही मैं भ्रमण करता हूँ। यह मकान बहुत छोटा है।' (दिनांक 25/5/53 का बंगला में पत्र)

'प्रातःकाल तथा मध्यान्ह को बगीचे के बाहर घूमने की अनुमति नहीं मिल सकी। मैं बगीचे के अन्दर ही सँकरे रास्ते में घूम लिया करता हूँ। पुलिस के दस-बारह आदमी चौकसी करते हैं कि कहीं गौरव भंग न हो जाए।'

(दिनांक 25/5/53 का बंगला में पत्र)

उन्हें पहरे में भी बाहर घूमने की अनुमति न मिलना शेख अब्दुल्ला के

मस्तिष्क की कुचक्रपूर्ण गतिविधि का एक नमूना है। श्रीनगर आने के कुछ दिन बाद जेलों के इन्सपेक्टर जनरल कर्नल आर.एन. चोपड़ा डॉ. मुकर्जी से मिलने आए थे। उनसे पूछे जाने पर डॉ. साहब ने उन्हें बताया कि मुझे प्रात:भ्रमण की कमी बहुत अखर रही है।

इस पर कर्नल चोपड़ा ने जेल-सुपरिन्टेंडेंट को भी यह बता दिया और उसने नियुक्त पुलिस इन्सपेक्टर को यथोचित आदेश भी दे दिया। किन्तु दूसरे दिन प्रात: वेला में जब डॉक्टर साहब घूमने के लिए तैयार हुए तो पुलिस इन्सपेक्टर ने उन्हें सूचना दी-

'मुझे अभी तक लिखित आदेश नहीं मिला है। मैं उसकी प्रतीक्षा कर रहा हूँ।' और उसे लिखित आदेश 20 जून तक नहीं मिला, तब तक डॉ. साहब हिलने-डुलने में भी असमर्थ हो गए थे।

पीछे पता चला कि शेख अब्दुल्ला की यह आज्ञा थी कि उसकी अनुमति के बिना डॉ. मुकर्जी को कोई सुविधा न दी जाए।

उनके किसी भी मित्र अथवा सम्बधी को उनसे जेल में मुलाकात करने की आज्ञा नहीं थी। उनके ज्येष्ठ पुत्र ने उन्हें देखने के लिए श्रीनगर जाने का परमिट माँगा, किन्तु नई दिल्ली के परमिटदाता अधिकारियों ने उन्हें कोरा उत्तर दिया कि वे अपने अस्वस्थ पिता को देखने के लिए कश्मीर नहीं जा सकते। उस समय उनके कुछ रिश्तेदार श्रीनगर में भी थे। उन्हें भी उनसे मिलने की अनुमति न मिली। सरदार हुकुमसिंह संसद-संदस्य के अतिरिक्त, जो केवल राजनीतिक प्रयोजन से ही उनसे मिले, एक अर्द्धविक्षिप्त साधु ही उनसे मिलने के लिए अपने आप भेजा गया जो अपनी अनर्गल कथा-वार्त्ता ही व्यर्थ सुनाता रहा। कदाचित् यह साधु इसलिए भेजा गया था कि उनकी मृत्यु के बाद संसार को यह बताया जा सके कि जेल में उनसे मिलने में कोई प्रतिबन्ध नहीं था।

जेल में डॉ. मुकर्जी पढ़ने-लिखने, चिन्तन करने मध्यान्ह चाय के समय अपने साथी बन्दियों के साथ संस्कृति से लेकर राजनीति पर्यन्त विविध विषय-श्रेणियों तथा मनुष्यों एवं विविध घटनाओं के मूल्यांकन करने में समय लगाते थे। उन्हें चिरकाल से अपने पूज्य पिताजी का जीवन-चरित्र लिखने की आकांक्षा थी। वहाँ उन्होंने इसे प्रारम्भ भी किया था। वे प्रतिदिन अपनी दैनिक डायरी भी लिखा करते थे। 22 जून को अस्पताल ले जाते समय वे अपनी डायरी भी साथ ले गए थे। उस डायरी से उनके जीवन, कार्यकलाप, विचार, आदर्श तथा इससे भी बढ़कर अकाल मृत्यु के बाद शेख सरकार ने यह डायरी अपने कब्जे में रखी जो पुनर्रावृत्ति आग्रहों के बावजूद भी वापस न मिल सकी। यह भी शेख सरकार के अपराधी मन का ही परिचायक है।'

जेल में डॉक्टर मुकर्जी ने जिन पुस्तकों को पढ़ा उनमें कल्हण प्रणीत

'राजतंरगिणी', भी थी। जो कश्मीरी शासकों का इतिहास है, यह पुस्तक कुछ अपवादों को छोड़ कश्मीरी शासकों के कुचक्रों और विश्वासघातपूर्ण कुकर्मों का करुण संस्मरण है जिसमें कश्मीर का पूरा इतिहास भरा हुआ है। आज एक समकालीन लेखक के लिए यह कहना बहुत कठिन है कि आज कश्मीर पर शासन करने वाले कश्मीरी शासक उस अपवाद की श्रेणी में आते हैं या नहीं शेख अब्दुल्ला ने अपने बारे में कोई सन्देह नहीं रहने दिया है।

अपने तथा जगत् के प्रति डॉ. मुकर्जी के उच्च विचारों और निर्मल चिन्तन का किंचित् आभास 6 जून को अपनी बड़ी भाभी, जस्टिस रामप्रदास मुकर्जी की धर्मपत्नी को लिखे पत्र के निम्नलिखित अन्तिम अंश में मिलता है-

'मैं केवल अतीत के दिनों और वर्षों का नहीं अपितु बीती घटनाओं पर भी मनन करता हूँ! उनके साथ मैं आज के मनुष्यों और घटनाओं पर विचार करता हूँ। वे मेरे मानस-पटल पर चित्र-तुल्य झलक उठती है—वह स्थान दिखता है जहाँ कोई ठहर रहा हो, वह काम जिसमें कोई व्यस्त हो, घटनाक्रम का रूप और कारण—सभी नाना रूपेण मानस में प्रतिबिम्बित हो रहा है और फिर जब मैं अनिश्चित सुदूर भविष्य पर विचार करता हूँ तो एक विभिन्न विचार-शृंखला नए ढंग से उत्पन्न हो जाती है। तब मैं अन्धकार में एक ज्योतिकिरण पाता हूँ—पराजय में विजय देखता हूँ। मैं प्रत्येक व्यक्ति की अच्छाइयाँ अनुभव करता हूँ। इन कुछेक दिनों में मुझे बहुत अनुभव हुआ है, 'हम कितने लघु और तुच्छ हैं'—फिर भी कैसे अभिमानी और सत्तोन्मुख! और अपने प्रति कितने अज्ञानी! हम यह बोध नहीं करते कि यह विश्व यंत्रवत् गतिशील है, न ही हम उसे स्मरण करते हैं जिसकी कृपा से ही विश्व की सन्धि हुई है और वही इसके पोषण एवं विनाश का कारण भी है।

मेरी जीवन-यात्रा के अन्तिम श्रान्त-चरण हैं। और मैं अभी ठीक नहीं जानता कि मैंने अपने जीवन का कितना सदुपयोग किया है। मैं सहज ही यह सोचता रहता हूँ कि मैंने 'तुच्छ' शब्दों और कार्यों में ही अपना समय निरर्थक गँवा दिया है, मैंने कितनी गलतियाँ और अनुचित कार्य किए हैं।

आप मेरे पुस्तकानुराग से परिचित ही हैं। आजकल मैं विभिन्न विषयों पर नई और पुरानी पुस्तकें पढ़ रहा हूँ। साथ ही नए सिरे से सब कुछ सीख रहा हूँ। मेरी लिखने की प्रबल इच्छा है, किन्तु वह पूरी होती नहीं दिखती। गत तीस वर्षों में भी पूज्य पिता की जीवनकथा भी मुझसे लिखी न जा सकी। मुझे इसका अत्यन्त क्षोभ है। अब भी प्रयत्न करता तो भी उनके समय की कई कथाएँ और लेख उपलब्ध हो सकते।

विगत कुछ दिनों में इस पर कलम उठाने की प्रेरणा हो रही है। मेरे जीवन में अव्यर्थ अनुभवों का जो तारतम्य रहा है उसे शब्दबद्ध करने की इच्छा भी जाग

रही है। मुझे अपकी, बच्चों की, पौत्रों की एवं उन सहस्त्रों युवकों की चिन्ता होत है जो जेल के सीखचों में बन्द हैं। मैं नहीं जानता मुझे यहाँ कब तक रहना पड़ेगा मैं अपने भावी कार्यक्रम से भी अनभिज्ञ हूँ, किन्तु मैं यह विश्वासपूर्वक जानता हूँ कि मेरा हृदय दु:ख और चिन्ता से शून्य है। उन दिनों मैं अपने पुराने आत्मविश्वास को अक्षुण्ण रख सका हूँ और मैं उस अज्ञात विराट् शक्ति के प्रति पूर्ववत् ही आस्थावान् रहा हूँ जिसके निर्देश के बिना हममें न गति रह सकती है, न स्पन्दन। इससे निश्चय ही मेरा हृदय शक्ति और उल्लास का अनुभव करता है। आज इतना ही।

कृपया उत्तर दें।

आपका मेजोठाकुरपो।

उनकी जीवन्त और उत्कट विनोदप्रियता अन्तिम समय तक जेल के मनहूस वातावरण में रस-प्लावन करती रही। वे जड़ अथवा चेतन सभी वस्तुओं के गुणों पर दृष्टिपात करने के अभ्यस्त थे। उनमें आश्चर्यजनक आत्म-विश्वास और प्रचण्ड आशावादिता थी। फिर भी जीवन के असामंजस्य और प्रवंचना पर दृष्टिपात करने से वे कभी न चूकते थे और अपने विनोद-व्यंग्य के साथ उसे बराबर निवारण करते रहते थे। नोर्के तेनजिंग को श्रद्धा-सुमन अर्पित करते हुए उन्होंने 6 जून को स्तंभलेखक 'होमा' को जो पत्र लिखा वह उनके व्यंग्य-विनोद का उत्कृष्ट उदाहरण है।

उन्होंने लिखा, 'आजकल यहाँ की जलवायु वैसी ही मिली-जुली है मेरी अपनी अर्थनीति, या आप कह लें—मेरा स्वास्थ्य और बन्दी जीवन की मेरी सुख-दुख-मिश्रित भावनायें। एवरेस्ट-विजय ने हमें विशुद्ध हर्ष दिया है, किन्तु तेनजिंग, जो यद्यपि पहले पहुँचा और जो असली पथदर्शक था, उसे संसार से मिश्रित अभिनन्दन मिला। कलकत्ता में उसका अभिनन्दन निश्चय ही अमिश्रित गर्व और प्रशंसापूर्ण रहा होगा। इस गर्वोन्नत विशाल पर्वत का असली अन्वेषक एक बंगाली परिमापक था जिसका नाम सम्भवत: सिकदार था। मगर उसका नाम अकेले बड़े साहित्य एवरेस्ट के नाम पर पड़ा, यह भी जीवन की एक विडम्बना है।'

जैसा कि पहले लिख भी चुका हूँ, श्रीनगर में बन्दी होने के कुछ काल बाद ही डॉ. मुकर्जी की भूख घटने लगी थी। 18 मई को उन्हें ज्वर और दायें पैर पर भीषण पीड़ा शुरू हो गई। इसके पश्चात् उनका स्वास्थ्य नहीं लौटा।

26 मई को पण्डित नेहरू और डॉक्टर काटजू 'विश्राम' के लिए श्रीनगर गए। उनमें इतनी सहृदयता और शिष्टता न थी कि अपने इस महाप्राण बन्दी को मिलते और देखते कि उसके साथ कैसा अव्यवहार किया जा रहा है।

3 जून को टाँग में दुबारा पीड़ा हुई जो पहले से तीव्र थी। दिनाँक 6-6-53 के पत्र में उन्होंने लिखा है, 'मैं वैसे ठीक ही था, किन्तु पिछले दो दिनों से दाईं

टाँग की पीड़ा बढ़ गई है। और कुछ दिनों में मुझे संध्या को ज्वर हो जाया करता है। चेहरा और आँखें जल रही हैं। दवा ले रहा हूँ।'

कलकत्ते में 12-6-53 को अथवा इसके लगभग ही यह पत्र पाने पर डॉ. मुकर्जी के भाई ने डॉ. बी.सी. रॉय को उनके स्वास्थ्य के विषय में बतलाते हुए कश्मीर पत्र लिखने का अनुरोध किया।

ज्वर के साथ-साथ टाँग में पीड़ा एक नई बीमारी थी। डॉ. मुकर्जी को ऐसा कष्ट पहले कभी नहीं हुआ था। भूख मिट जाने के कारण वे दिनोंदिन दुर्बल होते जा रहे थे। बैरिस्टर यू.एस. त्रिवेदी, जो कश्मीर हाईकोर्ट के सामने उनकी हैवियस कॉर्पस करने के लिए गए थे और जिन्होंने 12 जून को जिलाधीश की उपस्थिति में उनसे आदेश लेने से इन्कार कर दिया था, कश्मीर हाईकोर्ट द्वारा कश्मीर सरकार को यह आदेश दे दिए जाने पर कि उन्हें डॉ. साहब से आदेशादि लेने के लिए एकान्त में भेंट का अवसर दिया जाए, उन्हें 18 जून को मिले। उन्हें डॉ. साहब बहुत क्षीण और उत्साहहीन प्रतीत हुए।

पंडित प्रेमनाथ डोगरा, जिन्हें डॉक्टर साहब से मिलने के लिए 19 जून को जम्मू से श्रीनगर ले जाया गया, वे भी उनकी दुर्बलता और क्षुधाह्रास से भौंचक्के रह गये। कारण पूछने पर डॉक्टर साहब ने उन्हें बताया कि शायद उचित व्यायाम का अभाव ही इसका कारण हो।

उसी रात उन्हें तेज बुखार और छाती में पीड़ा हो गई। 20 जून की प्रात: अधिकारियों को इसकी सूचना दी गई। इस पर डॉ. अली मोहम्मद और डॉक्टर अमरनाथ रैना 11-30 बजे उस उप-कारावास में पहुँचे। निरीक्षण करने पर डॉ. अली मोहम्मद ने बताया कि उन्हें 'सूखी प्लूरिसी' (Dry Pluricy) हो गई है। उपचार के लिए उसने स्टैप्टोमाइसिन के इंजेक्शन बताए। डॉ. मुकर्जी ने उसे बताया कि उनके पारिवारिक डॉक्टर ने उन्हें स्टैप्टोमाइसिन लेने से मना किया था, क्योंकि वह उन्हें मुआफिक नहीं थी, किन्तु इस पर कोई ध्यान न दिया गया। वैद्य गुरुदत्त जी के कथनानुसार डॉ. मुकर्जी ने उस दिन सुपरिन्टेंडेंट से प्रार्थना की कि उनके सम्बन्धियों को उनकी बीमारी की सूचना भेज दी जाए, किंन्तु न तो ऐसी कोई सूचना भेजी गई और न सरकारी तौर पर ही, उनकी मृत्यु तक भी ऐसा कोई समाचार प्रकाशित करवाया गया।

दूसरे दिन 21 जून को जेल डॉक्टर के अतिरिक्त, जो सब-असिस्टेंट सर्जन था, कोई भी दूसरा डॉक्टर (अली मोहम्मद तक उन्हें) देखने नहीं आया। उनका ज्वर बढ़ गया और पीड़ा भी तेज हो गई।

इस समय राज्य के आन्तरिक घटनाचक्र के परिणामस्वरूप मंत्रिमंडल दो वर्गों में बँट गया था। एक ओर शेख अब्दुल्ला और मिर्जा अफज़ल बेग थे, दूसरी

और बक्शी गुलाम मुहम्मद, पं. श्यामलाल सर्राफ और श्री गिरधारीलाल डोगरा थे इस परिवर्तन को ध्यान में रखते हुए आन्दोलन हटा लेने के विषय में डॉक्टर साहब से सलाह करने के विषय में पं. प्रेमनाथ डोगरा श्रीनगर लाए गए थे, किन्तु उनवे आकस्मिक स्वास्थ्यपात के कारण विशेष बातचीत न हो सकी। दूसरा गुट पहले गुट के इरादों को भूमिसात करने के प्रयोजन से प्रजा-परिषद् से समझौता करन चाहता था। शेख अब्दुल्ला के विरोध के बावजूद पं. डोगरा डॉ. मुकर्जी से भेंट करने के लिए श्रीनगर लाए गए थे।

डॉ. साहब वास्तव में एक जनतंत्री थे। वे किसी भी निर्णय पर पहुँचने के पहले जनसंघ और प्रजा-परिषद् के बाहर के कार्यकर्ताओं की राय ले लेना चाहते थे और इसीलिए पं. प्रेमनाथ डोगरा से विचार-विनिमय करने के बाद प्रस्ताव लिखने की सोच रहे थे।

22 जून, को कोई 4 बजे प्रात: उन्हें दिल का सख्त दौरा पड़ा। उनका तापमान 97 हो गया और उनका शरीर पसीना-पसीना हो गया। वैद्य गुरुदत्त ने उन्हें बड़ी इलायची और लौंग का थोड़ा गरम पानी दिया जिससे उन्हें कुछ लाभ पहुँचा।

सवा पाँच बजे सुपरिन्टेंडेंट को डॉ. मुकर्जी के स्वास्थ्य की सूचना दी गई, साथ ही यह आग्रह किया गया कि वे डॉक्टर को साथ लेकर फौरन पहुँचे, डॉ. अली मोहम्मद वहाँ 7-30 बजे पहुँचा। उसने सुपरिन्टेंडेंट से कहा कि डॉ. मुकर्जी को तुरन्त ही स्टेट नर्सिंग होम ले जाना चाहिए। इस पर सुपरिन्टेंडेंट ने उसे जिलाधीश से आर्डर के लिए कहा। अब दोनों साथी बन्दियों ने प्रार्थना की कि उन्हें भी डॉक्टर साहब के साथ नर्सिंग होम ले जाया जाए, किन्तु डॉक्टर अली मुहम्मद ने इन्कार करते हुए कहा, 'मैं आपकी व्यग्रता को समझता हूँ, पर आप चिन्ता न करें, वहाँ उनकी देखभाल बेहतर होगी।'

काश वे दोनों, विशेषकर श्री टेकचन्द, जिन्होंने डॉक्टर साहब के साथ जाने का आग्रह किया था, नर्सिंग होम में भी उनके साथ जाने का आग्रह करते।

प्राय: साढ़े ग्यारह बजे सुपरिन्टेंडेंट वहाँ एक टैक्सी लेकर पहुँचा जिसमें बैठाकर डॉक्टर मुकर्जी को कोई दस मील दूर राज्य के नर्सिंग होम अस्पताल में ले जाया गया। वहाँ उन्हें पहली मंजिल के एक कमरे में रखा गया।

डॉक्टर साहब हृदयरोग से सख्त पीड़ित थे। उन्हें इतने दूरवर्ती अस्पताल में ले जाना ही चिकित्सा-दृष्टि से अनुचित था।

नर्सिंग होम का घटनाचक्र अभी भी रहस्याविष्ट है। न्यायालय में अपना पक्ष प्रस्तुत करने का बाद बैरिस्टर त्रिवेदी कोई साढ़े पाँच बजे सायं उनसे मिले। उन्हें पूर्ण विश्वास था कि दूसरे दिन निर्णय घोषित होने पर उन्हें मुक्त कर दिया जाएगा।

वे डॉक्टर साहब के पास से साढ़े सात बजे गए। उस समय वे क्षीण, किन्तु

प्रसन्न लग रहे थे। उन्हें स्वयं कुछ अच्छा महसूस हो रहा था। देखभाल करने वाले डॉक्टरों ने श्री त्रिवेदी को बतलाया कि खतरे की घड़ी बीत चुकी है और दूसरे दिन उनका एक्स-रे लिया जाएगा और फिर वे दो-तीन दिन में बिल्कुल ठीक हो जाएँगे।

किन्तु 23 जून को कोई 3.45 बजे प्रातः श्री त्रिवेदी को अस्पताल ले जाने के लिए उनके होटल से लिया गया। उसी समय पं. प्रेमनाथ डोगरा और डॉक्टर साहब के दोनों साथियों को भी उनके उप-कारावास से अस्पताल चलने के लिए कहा गया। वे वहाँ कोई साढ़े चार बजे पहुँचे तो उन्हें बताया गया कि तीन बजकर चालीस मिनट पर डॉक्टर साहब ने महाप्रयाण कर लिया।

उनकी मृत्यु के बाद कश्मीर सरकार द्वारा प्रकाशित डॉ. साहब की बीमारी व मृत्यु-विषयक घोषणा में उनकी देखभाल करने वाल डॉ. अली मोहम्मद और डॉ. रामनाथ एम. डी. की रिर्पोट बतलाई गई। इसके अनुसार शाम को चार बजे उनकी अवस्था काफी ठीक थी। ग्यारह बजे रात को उन्हें बेचैनी-सी हुई जिसे दूर करने के लिए ऑक्सीजन दी गई। कोई एक बजे हृदय के निकट उन्हें पीड़ा शुरू हुई और वे बहुत बेचैन हो गये। तदुपरान्त तीन बजकर चालीस मिनट पर उनकी नाड़ी बन्द हो गई।

बिना अभियोग के बन्दी बनाए जाने वाले डॉ. मुकर्जी भारत तथा कश्मीर सरकार के पास एक राष्ट्रीय धरोहर थे। साधारण व्यवहार में उनकी जो अपराध सूचक उपेक्षा की गई उसके अतिरिक्त परिस्थितिजन्य ऐसे प्रमाण हैं जिनमें से किसी और गड़बड़ का आभास मिलता है। पहली बात तो यह है कि सरकारी घोषणा में उनकी मृत्यु का ठीक समय नहीं दिया गया। नर्सिंग होम के तत्कालीन रोगियों तथा अस्पताल के एक अफसर के कथनानुसार उनकी मृत्यु कोई ढाई बजे हुई, न कि तीन बजकर चालीस मिनट पर।

दूसरे, अत्यन्त विश्वस्त सूत्र से पता चला है कि उन्हें ऑक्सीजन बिल्कुल ही नहीं दी गई। वास्तव में उनकी अन्तिम घड़ी में फौजी अस्पताल से ऑक्सीजन लाने की विफल कोशिश की गई थी।

डॉ. मुकर्जी की देखभाल के लिए डॉ. अली मोहम्मद के साथ डॉ. रामनाथ परिहार का नाम केवल सरकारी विज्ञप्ति को प्रभावकारी बनाने के लिए रखा गया था। वास्तव में उसने श्रीनगर पहुँचने के बाद से उनको देखा तक भी नहीं था।

सरकारी कथन और ज्ञात तथा अकाट्य तथ्यों के परस्पर असामंजस्य से ही यह सिद्ध है कि अवश्य ही कुछ छिपाने की बात थी।

कुछ अत्यन्त दायित्वपूर्ण व्यक्तियों द्वारा जाँच-पड़ताल से और संदिग्ध बातें पता चलीं, जिनकी अच्छी छानबीन होनी चाहिए थी। उदाहरणार्थ—पता चला कि

यह गलत था कि डॉ. साहब की तबियत ग्यारह बजे के बाद बिगड़नी शुरू हुई वरन् इसके प्रतिकूल वे उस समय स्वस्थतर थे। एक बजे के लगभग एक डॉक्टर ने उन्हें 'सावधानी के लिए' एक इंजेक्शन दिया, जिसके बाद ही उनकी तबियत तेजी से बिगड़नी शुरू हो गई। नर्सों ने टेलीफोन पर बार-बार उस डॉक्टर को बुलाने का आग्रह किया, किन्तु उसने आने से इन्कार कर दिया और कोई ढाई बजे डॉक्टर साहब का देहान्त हो गया।

इन छुटपुट सूचनाओं से जो सन्देह उत्पन्न हुआ, श्रीनगर में प्रचलित जनविश्वास तथा किन्हीं सम्भ्रान्त व्यक्तियों द्वारा श्री त्रिवेदी को श्रीनगर पहुँचने पर दी गई चेतावनियों से उसकी पुष्टि होती है। डॉ. मुकर्जी से एकान्त में मिलने की अनुमति न पाने पर जब श्री त्रिवेदी दिल्ली जाने की योजना बना रहे थे तब श्रीनगर के एक प्रमुख नागरिक ने उनके होटल में आकर उनसे प्रार्थना की कि वे डॉक्टर साहब की मुक्ति कराए बिना यहाँ से न जाएँ। उसने उन्हें अपनी चेतावनी भी दी कि यदि उन्हें शीघ्र न छुड़ाया गया तो वे मार डाले जाएँगे। वही व्यक्ति उन्हें 24 तारीख को प्रात:काल अस्पताल के बाहर मिला और उसने उन्हें अपनी चेतावनी भी स्मरण कराई।

दिल्ली आने के लिए होटल छोड़ने के पूर्व क्रोध से फुफकारता हुआ एक पुलिस सुपरिन्टेंडेंट श्री त्रिवेदी के पास आया और अपनी पिस्तौल निकालकर चीखने लगा—'उन्होंने इन्हें मार डाला, मार डाला—मैं उन्हें गोली मार दूँगा।'

इससे भी महत्वपूर्ण बात तो यह है कि श्रीनगर का प्रत्येक जन हृदय से यह मसूस कर रहा था कि अवश्य कहीं दाल में काला है। कश्मीर सरकार की आन्तरिक फूट, शेख अब्दुल्ला के कड़े विरोध के बावजूद कश्मीर हाईकोर्ट द्वारा श्री त्रिवेदी को डॉ. मुकर्जी से मिलने की अनुमति देना, जनसाधारण की धारणा और श्री त्रिवेदी का यह व्यक्तिगत विश्वास कि डॉ. साहब की प्रार्थना स्वीकृत होगी और वे 24 जून को मुक्त कर दिये जायेंगे आदि सभी तथ्य इसी निष्कर्ष के द्योतक हैं। कहते भी हैं कि जनता की आवाज स्वयं भगवान् की आवाज होती है।

इन सब बातों एवं परिस्थिति-जन प्रमाणों में यह बिल्कुल स्वाभाविक है कि भारतीय जनता किसी रहस्यमय काण्ड का सन्देह करे। इसी कारण यह सार्वभौमिक माँग उठी कि डॉक्टर साहब को मृत्यु-मुख में ले जाने वाली परिस्थितियों की निष्पक्ष जाँच की जाए। सभी राजनीतिक दलों ने, जिनमें कुछ कांग्रेसी भी सम्मिलित थे, मिलकर भारत सरकार से यह माँग की, किन्तु उसने इस पर तिलमात्र भी कर्णपात्र न किया। इससे यह तो स्पष्ट है कि दाल में कुछ काला जरूर है।

24. राष्ट्र की श्रद्धांजलि

डॉक्टर मुकर्जी की मृत्यु के समाचार से समस्त देशवासियों और उनके पारिवारिक जनों पर वज्रपात-सा हुआ। तब तक किसी को भी उनके अस्वस्थ होने की सूचना नहीं थी। इस दारुण समाचार से पूरा भारत तड़प उठा।

देश के कोने-कोने से गगनभेदी क्रन्दनरव उठने लगा। प्रत्येक नगर और कस्बे में हड़ताल हुईं, शोकसभाएँ की गईं। रहस्यपूर्ण परिस्थितियों ने इस दु:खान्त घटना को और मार्मिक बना दिया। इससे किसी षड्यंत्र का आभास पाकर जनमानस शंकित हो उठा। इससे दु:ख के साथ-साथ कश्मीर एवं भारत सरकार के प्रति लोगों को घृणा हो गई।

जम्मू के लोग तो क्रोध और रंज से उन्मत्त हो उठे। एक-एक व्यक्ति यह महसूस कर रहा था कि वे उसके लिए, भारत में कश्मीर के विलय के लिए, भारतीय एकता के लिए, बलिदान हुए हैं।

दिल्ली के लोग प्रतिकार की, खून के बदले खून की माँग करने लगे, क्योंकि उन्हें यह पूर्ण विश्वास हो गया था कि उनके प्रिय नेता को जान-बूझकर मारा गया है। जनसंघ के नेता यदि देशहित के विचार से उन पर अंकुश न रखते तो उन्मत्त जनता अवश्य हिंसोन्मुख हो उठती।

यह आघात सबसे अधिक बंगवासियों ने महसूस किया—यह स्वाभाविक ही था। उनका रोम-रोम क्रन्दन कर उठा। डॉ. मुकर्जी का पवित्र शव श्रीनगर से वायुयान द्वारा कलकत्ता लाया गया, जहाँ लोग रात-भर उनका अन्तिम दर्शन करने के लिए जागे रहे। हवाई अड्डे से चौदह मील दूर दक्षिणी कलकत्ता-स्थित उनके मकान पर शवयात्री रात के दस बजे चलकर सवेरे पाँच बजे पहुँचे। रास्ते में दोनों ओर दस लाख से ऊपर नर-नारी उपस्थित थे। दोपहर को शव को केवरतला के श्मशान घाट पर ले जाया गया। रास्ते भर लाखों व्यक्ति छज्जों और छतों पर खड़े होकर पुष्प बरसाते रहे। सबकी आँखें अविरल अश्रुपात कर रही थीं। घटना-नगरी कलकत्ता में वह अपूर्व और अत्यन्त करुण दृश्य था।

लोकसभा, राजकीय विधानसभाओं तथा अन्य संस्थाओं ने शोक प्रस्ताव पास किए। समाचार-पत्रों तथा विभिन्न दलों के जननायकों ने उनका मातम मनाया। दक्षिण-पूर्वी एशिया के बौद्ध देशों के नेताओं व शासकों ने भी उनके महाप्रयाण पर अश्रुपात किया और उनकी मातृभूमि की आजीवन सेवाओं के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित की। सबने एक स्वर से शिक्षा-शास्त्री तथा देशभक्त के रूप में उनकी सफलताओं व सेवाओं का स्मरण किया। मातृभूमि की अखण्डता और जन-साधारण

की जनतांत्रिक स्वतंत्रता के हेतु किए गए उनके प्रयासों के प्रति समस्त देश : श्रद्धांजलि दी गई।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सर संघचालक श्री माधव सदाशिव गोलवलक ने कहा, 'अपनी जन्मभूमि के लिए लड़ने वाले एक सच्चे योद्धा के समान डॉ मुकर्जी ने कश्मीर के विलयन के युद्ध में मोर्चे पर लड़ते हुए प्राण दिए; कश्मी को तुरन्त ही भारत का अविभक्त और अविभाज्य अंग घोषित कर देना चाहिए।

प्रसिद्ध क्रांतिकारी नेता तारकनाथ दास ने कहा, 'अखण्ड भारत के लिए श्यामाप्रसाद के बलिदान से देश को अपूरणीय क्षति हुई है।'

लोकसभा में उनके मित्रों एवं जनतंत्र के प्रेमियों ने कहा, 'देश की जनतांत्रिक शक्तियों के लिए यह वज्रपात है।'

डॉ. लंकासुन्दरम् ने कहा, 'डॉ. मुकर्जी ही एकमात्र ऐसे व्यक्ति थे जिनके सम्मुख प्रधानमंत्री को भी झुकना पड़ता था और जिनके साथ संसद के कई वाग्युद्धों में श्री नेहरू को परास्त होना पड़ा था।'

श्री फ्रेंक एन्थॉनी ने कहा, ''उनकी योग्यता और निर्भीकता 'ट्रेजरी बेंचों' के बढ़ते हुए गर्व के लिए 'ब्रेक' के सदृश थीं।''

स्वतंत्र भारत के प्रथम मंत्रिमंडल में उनके सहयोगी डॉ. जॉन मथाई ने कहा, 'विगत कुछ वर्षों में भारत में डॉक्टर मुकर्जी से बढ़कर साहसी तथा प्रतिभावान नेता नहीं हुआ।'

श्री पुरुषोत्तम दास टण्डन ने कहा, 'उनके बिना देश निस्सन्देह और निर्धन हो गया है। उनमें बड़ी-बड़ी आशाएँ थीं।'

आचार्य कृपलानी के शब्दों में 'वे एक महान् देशभक्त तथा अपने उद्देश्यों की लड़ाई में एक महान् योद्धा थे।'

श्री वी.डी. सावरकर ने कहा, 'डॉ. मुकर्जी के निधन से देश का एक महान् देशभक्त तथा जन्मजात संसद शिष्ट नष्ट हो गया है।'

लोकसभा में राष्ट्रीय जनतांत्रिक दल के वे सब सदस्यों के लिए, जो डॉ. मुकर्जी के समकालीन कार्यकर्ता और सहयोगी थे, हिन्दू महासभा, रामराज्य परिषद्, प्रजा-परिषद्, और जनसंघ सभी के लिए यह अपूरणीय अभाव सहना कठिन हो गया। सबसे बढ़कर चोट तो जनसंघ को लगी जो उनके दो वर्षों के ही साहसपूर्ण सफल नेतृत्व में कांग्रेसी कुशासन के विरुद्ध सिर उठाने में समर्थ हो सका था।

जनसंघ उनकी पवित्र स्मृति में केवल यही श्रद्धांजलि दे सकता था कि उनके अधूरे कार्य को पूरा करने में वह अपनी बाजी लगा दे और उसने यह किया।

प्रसिद्ध कानूनदान और प्रिवी कौंसिलर डॉ. एम. आर. जयकर ने सबसे अधिक मर्मस्पर्शी सम्मान-प्रदर्शन किया। उन्होंने कहा, 'अपने ही देश की स्वदेशी

सरकार के उन व्यक्तियों द्वारा गिरफ्तार होना जो कभी सम-सत्ताधीश थे और फिर कारागृह में ही मृत्यु को वरण करना एक संघर्षरत जीवन के उपयुक्त ही है। क्या हम आशा करें कि अमेरिकन दर्शकों के क्षुद्र-पत्रों से परितुष्ट भारत सरकार, जिसने सभी सभ्य सरकारों द्वारा गृहीत औचित्य और न्याय को तिलांजलि दे रखी है, इस घटना से अपने व्यवहार की जघन्यता महसूस करेगी।'

डॉ. मुकर्जी का जीवन निस्सन्देह संघर्ष का जीवन था। उन्होंने जीवनपर्यन्त बड़े साहस के साथ देश की सामाजिक और राजनीतिक स्वतंत्रता के लिए संघर्ष किया, मातृभूमि के संगठन लिए संघर्ष किया और स्वातंत्र्य सुप्रभात के बाद सत्तारूढ़ों की बढ़ती हुई तानाशाही प्रवृत्ति के विरूद्ध जनतंत्र को बल देने के लिए संघर्ष किया। अन्ततोगत्वा उन्होंने अपनी आहुति भी दे डाली। वे वास्तव में नागरिक स्वाधीनता, जनतंत्र और भारत की एकता के लिए शहीद हो गए। एक सच्चे कर्मयोगी के समान उन्होंने एक सैनिक का जीवन व्यतीत किया और शहीद की मृत्यु पाई। वे जीवन में तो महान् थे ही, मृत्यु ने उन्हें और भी महान् बना दिया।